इस पुस्तक को पढने वाले पाठक जान सकते हैं कि भारत मे घट रही तमाम घटनाएँ इसलिए कई बार अवाक् करने वाली नजर आती है क्योकि हिंदी की ऑख मे एक आधुनिकतावादी वैचारिक मोतियाबिंद है। हर राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय घटना अनंत जटिलताएँ लिए आती है। आप अगर उसका एक सिरा खोलेंगे तो इकहरेपन से काम नही चलने वाला। विश्व के नये ढग के खुलने-बनने-बिगडने और तकनीक एव सूचना के तेज संचार और विकास ने, मीडिया के निर्णायक हो उठने ने ऐसे बोधो को जन्म दिया हे जिन्हे बेहद अंतर्विरोधी किंतु बेहद आकर्षक-अनिवार्य कहा जा सकता है। हमारे अपने समाज की राजनीतिक आर्थिक सास्कृतिक प्रक्रिया मे जो नित नयी फेंटाफाटी होती है उसे खोलने समझने के लिए अब पुराने आधुनिक बटखरे नाकाफी नजर आते है। यहॉ तक कि बाजार या साप्रदायिकता या आतंकवाद जैसे प्रत्ययो और घटनाओ को समझने के लिए आप उन्हें नितांत अपर्याप्त पाते है। नये वक्त में नयी नजर और नये औजार चाहिए ही। एक ऐसी ही नजर से यहॉ अपने समय और समाज के साहित्यिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक-आर्थिक परिघटनाओ और उनके आशयों एव विमर्शो को खोलने-विखडित करने की कोशिश अगर यहॉ पाठको को लगातार मिलती है तो इसीलिए कि उत्तर-आधुनिक समय मे उत्तर-आधुनिक और उत्तर-संरचनावादी तरीकों से तथा यथार्थ को उसके पूरे 'हाइपर' में पकडने के जो भी तरीके बन रहे है उन सबसे उसे देखा परखा जाए।

इस तरह यहॉ अपने समय को देखने का एक प्रकार का उत्तर-आधुनिक, उत्तर-मार्क्सवादी विमर्श विकसित होता गया है। यही उत्तर-सांस्कृतिक विमर्श है। संस्कृति के पुराने अवधारणात्मक वृत्तों से बाहर छलकता हुआ एक ही साथ आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक-सामाजिक-सांस्कृतिक वृत्त जो एक-दूसरे को काटते-पीटते-बिगाडते-बनाते-चलते-निकलते है। भूमडलीकरण को लेकर इसीलिए यहॉ कोई प्रलापी दृष्टिकोण नहीं बनता। नये तेज गतिमान विश्व की घटनाओं ओर स्थानीय घटनाओं को भी एक भूमंडलीय संदर्भ मे देख पाना इसीलिए संभव हुआ कि इस लेखक के लिए भूमडलीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की तरह ही है। अपने देशकाल को यहॉ इसी नजर से देखा परखा गया है।

भूमंडलीकरण
और
उत्तर-सांस्कृतिक विमर्श

इस
म द
वार्ल
आह्
अत
अग
चल
ओर
मीडि
है ि
कहा
आधि
होती
बदल
सांप्र
को
नये
ऐसी
साहि
उनके
कोशि
इसीि
उत्तर
'हाइ
उसे

का उ
गया
अवध
आर्थि
एक-द
हैं।
दृष्टिक
और
पाना
भूमंड
अपने

भूमंडलीकरण और उत्तर-सांस्कृतिक विमर्श

सुधीश पचौरी

प्रवीण प्रकाशन
नई दिल्ली-110030

ISBN 81-7783-049-X

मूल्य . 300 00

प्रथम संस्करण : 2003

प्रकाशक **प्रवीण प्रकाशन,**
1/1079 ई, महरौली, नई दिल्ली-110030

शब्द-सयोजन . कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110093

मुद्रक : विशाल प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली

BHUMANDALIKARAN AUR UTTAR-SANSKRITI
by Sudh sh Pachori

अनुक्रम

भूमिका

भूमंडलीकरण के बारे में

भूमडलीकरण/ग्लोबलाइजेशन/इन दिनो एक बडा 'क्लिशे' है। एक प्रकार का 'वृहद् विचार' है, प्रस्थापना-परिवर्तनकारी प्रक्रिया है। विश्व की हर जिदा बहस मे वह सर्वव्यापी 'जटिल कारक' और 'अनत परिणाम' की तरह रहता है। हिदी मे चलने वाली तमाम साहित्यिक-राजनीतिक और आर्थिक बहसों मे वह जाने और अनजाने आता-जाता रहता है। अधिकतर लोग उसकी निंदा करते हैं, उसे षड्यत्र मानते है। स्वयं को घिराव में आया देखते हैं। इस मामले में वामपंथी बुद्धिजीवी दक्षिणपथी बुद्धिजीवी साहित्यकार सब एक जैसे नजर आते हैं। वे सब अचानक अंधराष्ट्रवादी बनकर सामने आते है और किसी ऑधी से अपने राष्ट्र की झोपडी को वचाने की चीख-पुकार करते दिखते है। गोष्ठियों मे वे कहते पाए जाते हैं कि भूमडलीकरण साम्राज्यवाद है, अमरीकावाद है, बाजारवाद है, खतरनाक है इससे बचो और लडो। और आप जब उनके आवाहन पर कुछ विचार करते है तो अगले ही क्षण पाते है कि वह आदमी जो अभी कुछ देर पहले आपको भूमंडलीकरण के खतरो से बचाने की बात कर रहा था, किसी भूमंडलीय बाजार मे जाने के लिए कपड़े बदल रहा है, अपने बच्चो को अमरीका यूरोप भेजने की जुगत भिडा रहा है। उसकी हर बात के बीच ''मेरा बेटा या बेटी अमरीका में ये कर रहा है वो कर रहा है...अमरीका मे ये होता है वो होता है भई अमरीका में ये है वो है...'' जैसे वाक्य आते जाते रहते हैं। भूमंडलीकरण का यह 'विरोधी' व्यक्तित्व भूमडलीकरण द्वारा विभक्त व्यक्तित्त्व ही है जो हर कही राष्ट्र रक्षा की मुद्रा और साथ ही एक 'अपना अमरीका' बनाने-कमाने की कामना से परिचालित रहता है। उसके व्यक्तित्त्व में एक ओर उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रवादी अवशेषों की रक्षात्मकता जोर मारती है जो कि उसके हितोपदेश में नजर आती है दूसरी ओर उसका वह पब्लिक सेक्टरी मुफ्तखोर लालच नजर आता है जिसे तुष्ट करने के लिए वह अपने बाली बच्चे समेत अमरीका इग्लैंड को फतह कर लेने के लिए चुपके से उड़ रहा है। सच मित्रो! ऐसे अनेक लोग आपके आजू-बाजू मिलेंगे जो अपने बच्चों को डालर कमाने के लिए अमरीका भेज चुके हैं या भेज रहे हैं लेकिन आपसे वे गर्दन ऊँची कर यही कहेंगे कि यह सब भूमंडलीकरण और अमरीकी साम्राज्यवाद

है जिसका हमला हो रहा है। वे हमले का दैनिक भोज कर रहे है लेकिन दूसरो से फरमाते हैं कि भइया सावधान बचकर रहना! ऐसे मित्र भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के दयनीय शिकार और शिकारी की तरह नजर आते हैं। वे नहीं चाहते कि उनकी तरह उनके बच्चो की तरह दूसरे भी डालर कमाएँ। अमरीका जाएँ। भूमडलीकरण के चद डालर वे भी चुराएँ। अगर सब डालर वाले हो गए तो उनका रुतबा कौन खाएगा? उनका पव्वा कौन मानेगा? हिंदी में भूमडलीकरण इसी तरह के अवसरवाद को समक्ष करता है। विचारो के लिए जिद भरी और कीमत दी जाकर लडी गई लड़ाइयॉ साहित्य मे अगर नहीं दिखती, अगर सस्कृति की मामूली दुकाने ग्लोबल बन रही है, अगर हिंदी का लेखक अब हवाई जहाज का टिकट मॉगता है और साहित्य को सत्ता से जोड-तोड़कर ही देखता है, अगर उसमें साहित्य समेत सबकुछ को मेनेज करने की इच्छा जाग उठी है और साधना की जगह साधन जरूरी होने लगे हैं तो इसीलिए कि भूमडलीकरण की मार ने हिंदी के राष्ट्रवादी तेवरो को किसी जोकर की 'निर्लज्जता' मे बदल दिया है। ये तमाम विचलन भूमंडलीकरण के सांस्कृतिक दबाव और आशय हैं जो हिंदी में हर कहीं सक्रिय देखे जा सकते है।

हिंदी का साहित्यकार भूमडलीकरण के विरोध में जितनी फालतू की फूँ फॉ कर रहा है उसकी जटिल द्वद्वात्मकता से उतना ही बेपरवाह है। यह भारत मे प्रगतिशील विचार का सबसे बड़ा संकट है कि जिस मार्क्सवाद को लेकर वह चला था और जो मार्क्सवाद एक भूमडलीय विचार था आज भूमडलीकरण के सदर्भ मे वही किसी स्वदेशीवादी की तरह व्यवहार करता है। इसका नतीजा उतना ही भयानक है। प्रगतिशील विचार के सिकुडने, उसके प्रभाव के क्षेत्र के लगातार संकट में रहने के कारण भूमंडलीकरण की प्रक्रिया मे उतने नही है जितने कि भूमडलीकरण की उसकी प्रतिक्रियावादी 'समझ' मे निहित है। वे अपने वर्तमान को समझने मे असमर्थ नजर आते है। वे अपने अनुभव के विभाजनो तक को नही समझ पाते। यही प्रस्थपना परिवर्तन है कि कल तक हर बात काले-सफेद मे देखी जा सकती थी, अब सत्रह सौ रगो के शेड्स के मिक्स मे देखी जानी है। ऐसा नही है कि भूमडलीकरण पर अध्ययन सामग्री नही है और जैसी षड्यन्त्रवादी प्रतिक्रियाएँ हिंदी मे मिला करती हैं उनके मूल रूप अंग्रेजी में भी कम नहीं हैं। भूमंडलीकरण के भाववादी निंदक पश्चिम के अनेक बचे हुए मार्क्सवादी हैं जो इस प्रक्रिया को किसी षड्यत्र की तरह ही पढते हैं/देखिए 'सोशलिस्ट रजिस्टर'/2000/का 'ग्लोबलाइजेशन' विषयक विशेषाक! भूमडलीकरण के आलोचको की कमी नही है वे ज्यादातर प्रगतिशील विचारवाले विद्वान है। डेविड हेल्ड एव एटनी मैकग्रू ने इन्हें 'स्केप्टिक्स' यानी 'सशयवादी' या कि 'अविश्वासी' कहा है। इनमे दर्जनो महानुभाव है जिनने जम कर भूमडलीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन किया है शोध किए है। हर्स्ट और टॉमसन की किताब 'ग्लोबलाइजेशन इन क्वश्चन : इंटरनेशनल इकॉनॉमिक्स एंड पोसीबल गर्वनेंस'/1997', क्रसनर की

कंप्रोमाइजिग वस्टफेलिया इटरनशनल सिक्यूरिटी/1992/, क्रुगमान की ग्राइग वर्ल्ड ट्रेड . कॉजेज एड कसीक्वेसज'/1994/कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक संशयवादी अध्ययन कहे जाते है/देखिए डेविड हेल्ड/एटनी मेकग्रू आदि चार लेखको द्वारा लिखित किताब : ग्लोवल ट्रांसफोरमेशन/2000/' ।

सशयवादी मानते हैं कि भूमडलीकरण एक 'मिथ' है। वे अर्थशास्त्रवादी तर्क देकर कहते है कि बाजार पहले से ही एक दूसरे से बँधा है। इनका कहना है कि यह भूमडलीकरण जिस तरह से आर्थिक अतर्ग्रथन करता है वह पुराने के मुकाबले हीनतर है। भूमडल का यह अतर्ग्रथन/इंटेग्रेशन/पुराने उन्नीसवी सदी के 'स्वर्ण-मानकवादी'/गोल्ड स्टैडर्ड/काल से कमतर है। हर्स्ट आदि का तो मानना ही है कि भूमडलीकरण के बारे मे अतिरंजना ज्यादा है। वे मानते है कि हाइपर ग्लोबलिस्ट यानी अति ग्लोबीकरणवादी लोगो की मान्यताएँ दोषपूर्ण है क्योकि वे राष्ट्रवादी सरोकारो की सहनशीलता की ताकत को कम करके ऑकती है जो कि अतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को रेगूलेट करती है। अंतर्राष्ट्रीयकरण की ताकते 'आउट ऑफ कट्रोल' नही है बल्कि अपने लागू होने के लिए वे राष्ट्रीय सरोकारों पर ही निर्भर करती है।

इसी तरह आलोचको का दूसरा तर्क है कि भूमडलीकरण में समाज व्यवस्थाओ के राज्य-केद्रण मे क्षरण नहीं हुआ है। अंतर्राष्ट्रीय दबावों के आगे राष्ट्रीय सरकारे गतिहीन होने की जगह और अधिक नियमन करने वाली तथा सीमाओं के पार व्यापार को नियमित करने वाली हो गई है। कैलिनिकॉस अतर्राष्ट्रीय व्यापार को तथा विदेशी पूँजी निवेश को पश्चिमी साम्राज्यवाद का तरीका मानते है जिसमे राष्ट्रीय सरकारे अपने यहाँ के इजारेदारो के प्रतिनिधि के रूप मे शामिल होती है।

भूमडलीकरण के विरोध मे तीसरा तर्क इस प्रकार चलता है - तीसरी दुनिया के देशो का हाशियाकरण बढ रहा है। जो भी व्यापार बढ रहा है उसका बहुत वडा हिस्सा उत्तरी समूह मे आपस में ही होता है। दक्षिणी समूह को ज्यादा नही मिलता। ज्यादातर विदेशी निवेशो के केद्र पश्चिमी देश है। इससे दुनिया मे गरीबी और अमीरी का नया विभाजन पैदा हो रहा है। यह एक नये प्रकार की हाइरार्की को जन्म दे रहा है। यह पिछली सदी के भूमडलीकरण मे भी हुआ था। इस तरह कुछ ज्यादा नही बदला।

भूमडलीकरण के आलोचक इस तर्क को और आगे बढाकर कहते है कि यह आर्थिक स्थिति तत्त्ववाद और आक्रामक राष्ट्रवाद को बढाती है। इससे भी सिद्ध होता है कि कोई ग्लोबल सभ्यता नही बन रही बल्कि दुनिया सभ्यता मूलक समूहो में और सास्कृतिक जातीय समूहो मे बॅटती जा रही है। सास्कृतिक फॅटफॉट तथा ग्लोबल सस्कृति एक प्रकार के मिथ है। उल्टे ग्लोबल असमानताएँ बढ़ रही है। ग्लोबल प्रशासन कही नही नजर आता।

सशयवादियो के इन तर्को के समक्ष जरा उन विद्वानो के तर्क भी देखे जाएँ जिन्हे भूमंडलीकरण के रूपातरणकारी तत्त्व का पक्षधर माना जाता है। इनमे गिडिस,

शॅल्टे, कास्टेल, रोजनो, लिकलेटर, मैकमिलन आते हैं।

इनका मानना है कि आज के समय की सबसे बडी चालक शक्ति भूमंडलीकरण है। यही तमाम आधुनिक समाजो को गति देता है और नयी विश्व-व्यवस्था को बनाता है। राजनीतिक सामाजिक सास्कृतिक क्षेत्र बढ़ रहा है। ये नये सीमात हैं जिनसे समाजो का भाग्य तय होता है। नीरोप का मानना है कि दुनियाभर के देश पूरी तरह न सही तो अंशतः, उनके समाज और भूगोल एक न एक मानी मे भूमडलीय प्रक्रिया के अग हैं।/देखिए डेविड हेल्ड द्वारा संपादित 'ग्लोबल ट्रासफारमेशंस' मे पेज 7 पर उद्धृत टिप्पणी। भले ही एक विश्व समाज न बना हो लेकिन सब एक दूसरे से ज्यादा घनीभूत ढंग से जुडे है और अतर्निभरता बढ़ी है। इसका नतीजा यह है कि पुराना चला आता नार्थ-साउथ विभाजन अब नये अतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को जन्म दे रहा है। पहली दुनिया और तीसरी दुनिया अब नहीं बची है। वे दुनिया की तमाम बडे नगरों-महानगरो के घोंसले बन गई है, वे गूॅथ-सिल दी गई हैं। तीनो दुनियाएँ तीन अतर्चक्रों की तरह एक-दूसरे को काटती मिलाती चलती हैं। हर देश एक-दूसरे की राष्ट्रीय सीमा मे आ-जा रहा है। उनका एलीट वर्ग तुष्ट और सघनीकृत हो रहा है।

यह सब आर्थिक वि-सीमाकरण/डिटेरिटोरियलाइजेशन/का परिणाम है। उत्पादन ओर वित्तीय व्यवस्था एक-दूसरे मे अतर्ग्रथित हो रही है। वह राष्ट्रोपरि/ट्रासनेशनल/हो चली है। देशों का राष्ट्रीय आर्थिक स्पेस उनके राष्टीय सीमातों से मेल नही खाता। भूमडलीकरण दरअसल सत्ता और उसके कार्यों मे तब्दीलियॉ ला रहा है। यह एक प्रकार की रिइंजीनियरिंग है। जटिल ग्लोबल सरचनाएँ बन रही हैं। वित्तीय से लेकर पर्यावरणीय संरचनाएँ एक-दूसरे समुदाय को एक दूसरे से अपने आप जोड़ रही हे। इस प्रकार यह प्रक्रिया सार्वभौमिकता, सीमातता तथा राज्य-सत्ता के बीच के बधनो को खोल रही है।

इसके कारण हैं। इस प्रकार्य की आधारभूत शक्ति नया पूॅजीवाद य लेट केपीटलिज्म है। लेट केपीटलिज्म की वित्तीय-चंचल पूॅजी, तकनीकी क्राति, बाजारी शक्तियॉ, विचारधाराएँ और राजनीतिक निर्णय एक जटिल सरचना और प्रक्रिया मे इसे सभव करते हैं। डेविड हेल्ड कहते हैं कि यद्यपि ज्यादातर भूमंडलीकरण को पूँजीवाद या/वही पेज/12/बाजार से जोड़कर ही देखा जाता है और उसकी आलोचना की जाती है लेकिन ऐसी आलोचना यात्रिक यानी 'दो-दूनी-चार वादी' नजर आती है। यह प्रक्रिया न उतनी इकहरी है न सरल है। इसके पीछे आर्थिक सास्कृतिक राजनीतिक शक्तियां काम करती है।

इसे समझने के लिए आधुनिकता की बहस और उसकी समस्याओं का समझना जरूरी है। कुछ के लिए भूमडलीकरण कुल मिलाकर पश्चिमीकरण है यानी पश्चिमी आधुनिकता है। कुछ उसे पश्चिमी पूँजीवाद और संस्थानो का भूमडलीय फैलाव मानते हे। कुछ पश्चिमीकरण ओर भूमंडलीकरण के बीच भेदक रेखा खींचते हैं।

इसी तरह एक समस्या भूमडलीकरण के काल विभाजन यानी इतिहास को लेकर है। सबसे बडी बात इस प्रक्रिया के प्रभावों के आकलन और श्रेणीकरण की आती है।

डेविड हेल्ड ने भूमडलीकरण के इतिहास, उसकी क्रमिक सरचना और उसके प्रभावों की तालिकाएँ अपनी उक्त पुस्तक मे दी है। अगर उनका संक्षेप किया जाए तो वह कुछ इस प्रकार रखा जा सकता है :

पूर्व-आधुनिक काल में भूमंडलीकरण

भूमडलीकरण के केंद्र मे धर्म थे। कबीलाई साम्राज्य थे। प्लेग आदि महामारियाँ थी और दूरस्थ व्यापार थे। इस दौर में हस्तलेखन से कुछ क्षेत्रों मे प्रिंट तक आए। यातायात जानवरो के जरिए रहा। कुछ सडक संजाल बने। समुद्र यात्रा मे विकास हुआ। व्यवस्थाएँ दमनात्मक रही। धार्मिक विचारधारा की रही।

आधुनिक काल के आरंभ में भूमंडलीकरण

राजनीतिक-सामरिक विस्तार हुए। मडी की तलाश बढी। उपनिवेश बने। यूरोप केंद्रित विस्तार हुआ। साम्राज्य बने। यूरोपीय खोजो ने संचार तेज किए। मशीनी प्रिंट शुरू हुआ। औद्योगिक क्राति की ताकत उपनिवेशों मे लगी। डाक-तार व्यवस्था आई। इस दौर मे राजनीतिक व्यवस्थाएं दमनात्मक रही। शीतयुद्ध रहा। धार्मिक/विचाराधारात्मकता का केंद्रण रहा।

आधुनिक काल में भूमंडलीकरण

यूरोपीय ग्लोबल साम्राज्य बने। भूमंडलीय स्तर, पश्चिमी सेक्यूलर विमर्श तथा विचारधारा फैली। विश्व-अर्थव्यवस्था आई। रेलवे बनी। समुद्र इजन के जहाज से पार किए जाने लगे। टेलीग्राफी-टेलीफोनी आई। कबशन इंजन बने। रेडियो टीवी आए। व्यवस्थाएँ दमनात्मक रही। सेक्यूलर विचारधारात्मकता बढ़ी। स्पर्धात्मकता रही।

समकालीन भूमंडलीकरण का दौर

भूमडलीकरण मे उत्तर-शीतयुद्धीय सबंध बने। विश्व-प्रशासन की बात आई। अतर्राष्ट्रीय कानून अस्तित्त्व में आए। उत्तर-ब्रेटनवुड काल मे आर्थिक भूमडलीकरण बढा। विश्व-बाजार बना। तकनीक आदान-प्रदान की बात आई। अतर्निर्भरता बढी माइग्रेशन या विदेश गमन और विदेश रमण बढ़ा प्रवासीपन और विस्थापन बढा। बडी आबादी एक देश से दूसरे देश रोज आने जाने लगी। दो करोड लोग आज रोज आते-जाते हे विश्व में। बहुराष्ट्रीय निगमो का जोर बढ़ा। मीडिया का जोर बढ़ा। पश्चिमी पापूलर कल्चर का विस्तार हुआ। संचार और आवागमन के नये सजाल बने। टेलीफोन

कम्प्यूटर तथा डिजिटलाइजेशन हुआ। ग्लोबल केबल हो गया। उपग्रह हो गया। इंटरनेट टीवी रेडियो टेलीफोन जुड़ गए। दमन की जगह स्पर्धा, सहयोग और विचारधारात्मक सास्कृतिक विमर्शों ने ले ली। (देखिए वही 431 के आगे के पेज) कहने का अर्थ यह है कि भूमंडलीकरण की अबाध प्रक्रिया एक विराट और जटिल ऐतिहासिक प्रक्रिया है उसे उसकी ऐसी की जटिलता मे देखा जाना चाहिए।

हिंदी मे प्राय इस जटिलता में भूमडलीकरण नहीं देखा जाता। भारत जिस तरह से और जिन तत्त्वों द्वारा इस क्रिया से जोड़ा जा रहा है वह स्वयं भूमंडलीकरण के प्रति उठाई-गिरी की नीति अपनाते है। एक ओर वे उसकी मलाई खाना चाहते है तो दूसरी ओर उसके लिए सरचनात्मक विवेक और तैयारी का परिचय नही देते। इसीलिए उसे ज्यादातर तो खतरा माना जाता है और अधिक से अधिक उसे साम्राज्यवादी साजिश मानकर चला जाता है। कोई कोई उसे बाजारवादी साजिश मानकर चलते है। कोई उसे पश्चिमी सस्कृति का पर्याय मानकर चलते हैं। कोई उसे उपभोक्तावादी सस्कृति का पर्याय मानकर चलते हैं। कोई उसे इतिहास की पतनशील अवस्था मानकर चलते है।

कहने की जरूरत नही हिंदी मे भूमडलीकरण की एकदम सतही पहचान से काम चलाया जाता है। यह स्थिति उसके पिछड़ जाने की निशानी है।

इस पुस्तक को पढने वाले पाठक जान सकते है कि भारत मे घट रही तमाम घटनाएँ इसलिए कई बार अवाक् करने वाली नजर आती है क्योंकि हिंदी की ऑख मे एक आधुनिकतावादी वैचारिक मोतियाबिद है। हर राष्ट्रीय अतर्राष्ट्रीय घटना अनत जटिलताएँ लिए आती है। आप अगर उसका एक सिरा खोलेंगे तो इकहरेपन से काम नही चलने वाला। विश्व के नये ढग के खुलने-बनने-बिगड़ने और तकनीक एवं सूचना के तेज संचार और विकास ने, मीडिया के निर्णायक हो उठने ने ऐसे बोधो को जन्म दिया है जिन्हे बेहद अतर्विरोधी किंतु बेहद आकर्षक-अनिवार्य कहा जा सकता है। हमारे अपने समाज की राजनीतिक आर्थिक सास्कृतिक प्रक्रिया में जो नित नयी फंटाफाटी होती है उसे खोलने समझने के लिए अब पुराने आधुनिक बटखरे नाकाफी नजर आते हैं। यहाँ तक कि बाजार या साप्रदायिकता या आतकवाद जैसे प्रत्ययो और घटनाओं को समझने के लिए आप उन्हे नितात अपर्याप्त पाते है। नये वक्त में नयी नजर और नये औजार चाहिए ही। एक ऐसी ही नजर से यहाँ अपने समय और समाज के साहित्यिक-सास्कृतिक-राजनीतिक-आर्थिक परिघटनाओं और उनके आशयों एव विमर्शो को खोलने-विखडित करने की कोशिश अगर यहाँ पाठको को लगातार मिलती है तो इसीलिए कि उत्तर-आधुनिक समय मे उत्तर-आधुनिक और उत्तर-सरचनावादी तरीकों से तथा यथार्थ को उसके पूरे 'हाइपर' में पकड़ने के जो भी तरीके बन रहे हैं उन सबसे उसे देखा परखा जाए।

इस तरह यहाँ अपने समय को देखने का एक प्रकार का उत्तर-आधुनिक, उत्तर-मार्क्सवादी विमर्श विकसित होता गया है। यही उत्तर-सांस्कृतिक विमर्श है। सस्कृति के पुराने अवधारणात्मक वृत्तों से बाहर छलकता हुआ एक ही साथ आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक-सामाजिक-सास्कृतिक वृत्त जो एक-दूसरे को काटते-पीटते-बिगाडते-बनाते-चलते-निकलते है। भूमडलीकरण को लेकर इसीलिए यहाँ कोई प्रलापी दृष्टिकोण नही बनता। नये तेज गतिमान विश्व की घटनाओं और स्थानीय घटनाओं को भी एक भूमडलीय संदर्भ में देख पाना इसीलिए सभव हुआ कि इस लेखक के लिए भूमंडलीकरण एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की तरह ही है। अपने देशकाल को यहाँ इसी नजर से देखा परखा गया है।

हिंदुत्ववादी चढ़त के सास्कृतिक-धार्मिक विमर्श हों या इसलामी तत्त्ववादियो के आतकवादी विमर्श, बुश के ऑसू हों या कि बामियान के बुद्ध, टीवी के प्रभाव हो या हिदी भाषा के ग्लोबल होते रूप या कि साहित्य व्यवहार के बदलते चेहरे सब इसी तेज रौ मे बहते जगत के सदर्भ मे देखे जाते हैं। इस बहाव मे किसी क्षण को अचानक पकड लेना उसे उसके चलित आलोक मे कुछ देर के लिए उजागर कर देना और पाठक को उसके निष्कर्षो के लिए मुक्त करना ही इस लेखन का उद्देश्य है।

अक्सर ही पत्र-पत्रिकाओं में छपी टिप्पणियो को पढकर इस लेखक को पाठक अपनी प्राय: दो टूक राय देते रहे है। वे पाठक सिर्फ हिंदी साहित्य के नही होते, अग्रेजी इतिहास राजनीतिशास्त्र के गभीर पाठक भी होते है। कई पाठक इन टिप्पणियो मे निहित आजाद खयाली और रेडीकल तेवरों को देखकर चकित होते हैं। वे उत्तर-आधुनिकता और उसकी पदावली पर पहले सदेह करते है फिर अचानक उसमे 'सेक्यूलर, जनतांत्रिक और विनिमय की अनिवार्यता के बावजूद एक प्रतिरोध और विकास सभव है' ऐसी आश्वस्ति पाकर अचरज कर स्वीकार भी करते है, कई प्रशसक भी बनते हैं। यह उत्तर-आधुनिकता का रेडीकल विमर्श है। तीसरी दुनिया मे उत्तर-आधुनिकता एक रेडीकल प्रत्यय है।

कई लोग मानकर चलते हैं कि अंध राष्ट्रवाद या आतंकवाद के नये उभरते विमर्श और नया भूमडलीकरण एक ही सिक्के के दो पहलू है। यह एक भयानक किस्म का सरलीकरण है क्योंकि यह भूमडलीकरण को और अध राष्ट्रवाद को साम्राजी षड्यन्त्र की तरह मानता है। हम बता चुके है। यह सशयवादियो का तकिया कलाम है। ये टिप्पणियाँ इस प्रलाप से सर्वथा मुक्त है बल्कि इस प्रलापी थीसिस को समस्याग्रस्त करती हैं। दरअसल भूमंडलीकरण जिस उत्तर-आधुनिक अवस्था को पैदा कर रहा है, उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रवाद उसका पराजित प्रतिपूरक भी नही बनता है। राष्ट्रवाद क्षयशील प्रत्यय है। भूमडलीकरण एक जटिल ऐतिहासिक विकास की अवस्था और नए अतर्विरोधो से 'ग्रस्त' एवं 'संचालित' प्रक्रिया है। जिन संशयवादियो की ऑखो मे पुराना मोतियाबिद है वे ही उसे प्रतिपूरक और पूरक कह सकते है।

मार्क्स ने बराबर बताया कि पूँजीवाद की एक वस्तुगत गति भी होती है जो उसे चलाने पालने वाली सरकारों और पूँजीपतियो के इच्छाओं से स्वतत्र भी अपनी गति निर्धारित करती है। मार्क्सवाद का इतना-सा द्वद्वात्मक भौतिकवाद जिसे नही मालूम वह क्या तो इस प्रक्रिया को समझेगा? नया मार्क्सवाद इसे 'अवसर' की तरह समझ सकता है जैसा कि चीन में हो रहा है!

यह बात यहाँ नही दुहराई जाएगी कि आज से डेढ़ सौ से ज्यादा साल पहले मार्क्स एंगेल्स ने कम्युनिस्ट मेनिफैस्टो में जिस बुर्जुआ इपॉक/युग/का विश्लेषण किया, उसमे पूँजीवाद के जो लक्षण बताए, जिस भूमडलीकरण की बात की वह बहुत दूर तक आज होती नजर आती है। हम कह सकते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टियाँ भले गिर गई हो लेकिन मार्क्सवाद आज और ज्यादा सक्रिय नजर आता है। उपयोगी नजर आता है।

भाई श्री किशन गुप्ता जी का अरसे से आग्रह था कि भूमंडलीकरण जैसे विषय एक किताब हो। किताब हाजिर है। इसके लिए यह लेखक अपने तमाम पत्र-पत्रिकाओं के सपादको, उनके पाठकों और प्रकाशक श्री किशन जी का आभारी है।

—सुधीश पचौरी

संस्कृति का बाज़ार

भूमडलीयता मे संस्कृति एक उद्योग है, उत्पाद है, पण्य है, ब्रांड है। सस्कृति मे इन तमाम कलाकर्मो को शामिल करे जो प्रकृति की पुनर्रचना करने का काम करते हे। विश्व पूँजीवाद ने प्रकृति के क्षेत्र को भी डँस लिया है और उस सास्कृतिक कर्म के क्षेत्र को भी ग्रस कर लिया है, जिसे अमेरिकी उत्तर-आधुनिक मार्क्सवादी विद्वान् फ्रडरिक जेमेसन 'दूसरी प्रकृति' कहते है। सस्कृति जो दूसरी प्रकृति यानी प्रकृति की पुनर्रचना कही जा सकती है। इन उत्तर-आधुनिक दिनो मे पूँजी के विश्व बाजार का एक अनिवार्य और सहयोगी तत्त्व है सस्कृति। लेकिन यह बात चौकाने वाली उतनी नही है जितनी यह बात कि बहुत-से सस्कृतिकर्मी और चिंतक अभी भी सस्कृति के उद्योग बनने के तथ्य का स्वीकार करने मे हेटी समझते है और स्वयं को कला-शुद्ध कला का प्रतिनिधि मानते है। पूँजी और बाजार के प्रसार मे ऐसे पूँजी निरपेक्ष दिखने वाले या पूँजी से कथित ढंग से लडने वाले कलावंतो को अचानक पकड लिया हे। बहुत- से प्रगतिशील चिंतक इस चपेट को देख लगभग सनातनियो की तरह का चीत्कार मानते है लेकिन यह सच है कि मार्क्स ने कोई डेढ सौ वर्ष पहले अपने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो (1848) मे यह भविष्य कह दिया था कि बाजार की जरूरत के लिए बुर्जुआ वर्ग धरती भर को रौंदता है। प्राचीन परपरा युक्त सभी निश्चित जमे-जमाए सबध, सस्कार और विचार, झाड-बुहार दिए जाते है, न बनने वाले संबध स्थिर होने से पहले ही पुराने पड जाते हैं। वह सब कुछ जो ठोस है, हवा में उड़ जाता है, हर पवित्र चीज कलंकित होती है और अतत मनुष्य पहली बार गभीरता से अपने जीवन की वास्तविक दशा जान पाता है और अन्य मनुष्यों से अपने संबंधों की सक्षमता मे होता है।' पता नही क्यो, आज के बहुत-से प्रगतिशील साहित्यकार पूँजी के प्रसार के बारे मे मार्क्स की इस भविष्यवाणी जैसी टिप्पणी को पढ़ने से इनकार करते है।

आज हम जिस सास्कृतिक उद्योग को बनता देख रहे है, वह देशी पूँजी के विश्व पूँजी के साथ जुड जाने के बाद तेजी से पनपा है। इससे संस्कृति उपभोग क्षेत्र में आ गई है। अभी तक हम सस्कृति को उत्पादन के क्षेत्र में सभव मानते आए है। हमारे साहित्यिक-सांस्कृतिक पाठ्यक्रम व सस्कार हमे संस्कृति को महान्,

पवित्र समाज सुधार कर सकने वाली एक क्रिया, निजी प्रामाणिकता का दस्तावेज भरोसेमद मित्र मानते आए हैं। साहित्य और सस्कृति को हमने अब तक उसके रचनाकार की ओर से देखा है। यानी उत्पादन के क्षेत्र मे देखा है। हमारी साहित्य-शिक्षा हमे कभी नही बताती कि साहित्य-सस्कृति का कोई उपभोग का क्षेत्र भी होता है। कविता को पढ़कर, सुनकर मिलनेवाला आनद अभी तक हमारे लिए सच्चा आनद रहा है जिसे प्राप्त करते हुए हम कविता, कहानी या उपन्यास के अपने तक पहुँचने की विराट प्रक्रिया और उसकी इकोनॉमी को भूल रहे हैं। वृद्ध पूँजीवाद (लेट कैपीटलिज्म) हमे याद दिला रहा है कि भाई कोई भी आनद, सुख अपने आप मे शुद्ध प्रबुद्ध पवित्र और अर्थ व बाजार निरपेक्ष नही होता होता। हर आनद के क्षण का अपना अर्थशास्त्र है जो बाजार से आता-जाता है। बाजार निरपेक्ष या बाजार मुक्त अस्तित्व या सुख की कल्पना सिर्फ पाखडी साधु-महात्मा करते होगे जो करते होंगे, अन्यथा वहाँ भी लक्ष्मी की पूजा होनी ही है। भगवान् कथाओ के आनद के बाद भक्त जो चढावा चढाते है, वह भी भागवत का अर्थशास्त्र ही है। यह सर्वत्र है। जनसत्ता मे हो रही यह चर्चा भी उसका एक हिस्सा है। बिना अर्थ क्षमता के यह चर्चा भी सभव नही है। साहित्य अब प्रथम क्षण से एक आर्थिक सरचना भी है। ऐसा कहकर इस साहित्य संस्कृति को एक सही सामाजिक सत्ता देते है। 'राष्ट्रीय परिसवाद' नाम्नी आपके संक्षिप्त प्रपत्र मे कहा गया है कि साहित्य-संस्कृति का स्वभाव ही लोकोन्मुखी है। वह मनुष्य को मनुष्य से जोडने का काम करती है.. बाजार व्यवस्था साहित्य इत्यादि को बाजारोन्मुखी बनाती है, नागरिक को उपभोक्ता बनाती है. .बहुत हद तक ये वाक्य एक स्वीकृत सत्य हैं लेकिन है अर्धसत्य ही। इन दिनो चूँकि पूँजी के तेज प्रसार तथा बाजार के बाजारवाद, भूमडलीकरण के नारे तथा उदारतावादी अर्थव्यवस्था के नारो ने जीवन को यत्र-तत्र उपद्रवित करना शुरू किया है और इस सबसे हमारे समाज की बहुत-सी पूर्व पूँजीवादी तथा औद्योगिक पूँजीवाद के दौर मे आधुनिक सस्थाएँ चरमराकर टूटने-फूटने लगी है, उससे बँधे-बँधाए जीवन मे कष्ट बटे है, इसलिए हमारा क्रोध अक्सर बाजार पर न्योछावर होने लगा है। जबकि हम यह नहीं जानते कि यह क्रोध भी बड़े मनोहर ढग से बाजार का हिस्सा बन जाता है। कलकत्ता का देवाशीष सेन यदि 'कानून' सीरियल से कथित प्रेरणा लेकर अपनी माता को मार डालता है तो वह भी एक विक्रय योग्य खबर बन जाती है। और, लखनऊ मे जब तक पब्लिक स्कूल का बच्चा 'थम्सअप' की 'बगी जपिग' की नकल कर कूद जाता है तो वह भी एक अनिवार्य रूप से बिकने योग्य खबर बनती है। बाजार एक वातावरण है। हमारे से बाहर बाजार अब नहीं है। वह बाजार हिंदुस्तान में तो सदियो से लक्ष्मीरूपेण तिष्ठिता है। उसे पूजा जाता है। लक्ष्मी पूजन करने वाले समाज मे बाजार के प्रति ऐसी वितृष्णा विश्वसनीय नही लगती। लेकिन यह मुद्दा फिर कभी। फिलहाल आपके प्रपत्र की टैक्स्ट पर भी ध्यान दे। शुरू मे हमने

कहा कि हमारे अब तक के सांस्कृतिक अनुभव संस्कृति के उत्पादन क्षेत्र तक सीमित है। इसीलिए हम मानकर चलते हैं कि इस वृद्ध पूँजीवाद से पूर्व तक बनी संस्कृति 'लाकोन्मुखी' थी मनुष्य को जोड़ने का काम करती थी, सहयोगिता का भाव करती थी, नागरिकता का विकास करती थी। यह औद्योगिक पूँजीवादी दौर की आधुनिकता का सच है। लेकिन यह सब भी 'फोकट' या 'फ्री फंड' में नहीं होता था। चाहे किताबें हों, चाहे अखबार, चाहे फिल्में सब एक धीमी किंतु अनिवार्य अर्थ-व्यवस्था में ही निर्मित होते थे। प्रेमचंद को अपने लिखे की रॉयल्टी माँगने में शर्म नहीं थी। नहीं होनी चाहिए थी। अतीत के साहित्यकार जब आर्थिक तंगी में रहे तो इसका निष्कर्ष यह कहाँ है कि उनका साहित्य हमें नागरिक बनाता रहे और उन्हें भूखा रखकर अनागरिक बनाता रहे। हमारी पिछली अर्थव्यवस्था में गरीबी को गौरवान्वित करने का तत्त्व मूलतः इसी 'नागरिकता' से जुड़ा है। दरिद्रजन तो स्वतः एकजुट रहते हैं। उनकी गरीबी उन्हें एक-सा किए रहती है। क्या प्रेमचंद ने अपने साहित्य से यह कहना चाहा है कि हे गरीब तू गरीब बना रह! नहीं। और जब चाहे अधकचरा सही, थोड़ा-बहुत पैसा इधर-उधर गया और एक विराट मध्यवर्ग में कल का गरीब शामिल हुआ तो उसे क्या कुछ भी सांस्कृतिक अनुभव नहीं चाहिए।

अगर आज पच्चीस करोड़ शहरी ग्रामीण जन टीवी देखते हैं, यदि करोड़ों लोग चार सौ रुपये के 'टू-इन-वन' पर अपना मनपसंद गाना सुनते हैं, यदि वे आज सस्ती प्लास्टिक की चप्पलें पहनते हैं, यदि वे अपनी कामनाओं को साक्षात् रूप देना चाहते हैं, यदि आज हर तीसरा लड़का टीवी-वीडियो बनाना चाहता है, पत्रकार होना चाहता है, कलाकार होना चाहता है, सी.ए. होना चाहता है और पता नहीं क्या-क्या होना चाहता है, हर दूसरी लड़की ब्यूटी क्वीन, मिस इंडिया या मिस शाहदरा या मिस चाँदनी चौक होना चाहती है, बूटीक खोलना चाहती है, फैशन डिजाइनर बनना चाहती है तो इसमें नैतिक रूप से गलत क्या है? खुले पूँजीवाद ने बंधे पूँजीवाद के वात्सल्य को तोड़कर यदि सबको चौराहे पर खड़ा कर विश्व मजदूर बना दिया है तो कष्ट भले बढ़े हों, कर गुजरने की इच्छाएँ भी तो बढ़ी हैं। अब यदि आप मध्यकालीन कछुआ धर्म निभाकर, स्पर्धा के बिना आगे बढ़ लें तो बढ़ जाइए! सदियों से कथित सहयोगिता में जाति-बिरादरी की ऊँच-नीच हमारी संस्कृति को सिर्फ ब्राह्मणों-ठाकुरों तक महदूद करती रही—अब 'मास कल्चर' या जन संस्कृति जो इस सांस्कृतिक उद्योग का उत्पाद है, सबको यानी अधिसंख्य को मिल रही है तो सिर्फ उन्हें कष्ट होता है जो एलीट कल्चर के ठेकेदार हैं जो हाई माडर्निस्ट हैं, जिनका सतीत्व खतरे में है। वे एक मजदूर को टीवी देखते नहीं देख सकते वे नहीं समझ सकते कि इस 'मास कल्चर' से यह मजदूर ही अंततः निपटेगा। यदि सूचना संस्कृति न फैली होती, यदि कामनाएँ न जगी होतीं तो स्त्रियाँ और दलित लोग न जगे होते। बाजार की संस्कृति ने उन्हें प्रतियोगिता के बाजार में ला खड़ा किया है। साहित्य-संस्कृति के

पुराने केंद्र लडखड़ा रहे हैं। साहित्य-सस्कृति उपभोक्ता के क्षेत्र मे आ रहे है। दलित या स्त्रियो के जागरण की राजनीतिक फसल तो सब काटना चाहते है, सास्कृतिक फसल से परेशान होते है।

सचमुच साहित्य-संस्कृति से उनकी महानता का पाखंड छिना जा रहा है। संस्कृति खरीदे जाने योग्य, बेचे जाने योग्य सर्वसुलभ चीज बन रही है। वे कहते है कि यह सब तो प्रामाणिक नहीं, नकल है, चीप है। सस्ती है, उपभोक्ता संस्कृति है। लेकिन विना उपभोग के संस्कृति या कुछ भी कही रह सकता है? सस्कृति को पूजना भी क्या उपभोग नही होना? दुर्गापूजा पर दुर्गा के दर्शन, घर में चाहे चौराहे पर, क्या उपभोग नही?

हम भूल रहे हैं कि भरत-मुनि के नाट्यशास्त्र मे लगातार 'प्रमाता' की दृष्टि से सोचा गया है। प्रमाता यानी आज का उपभोक्ता। रसनिष्पत्ति का, आनद का सिद्धात शायद इसीलिए सोचा गया कि पुराने साहित्यशास्त्रियो ने जान लिया था कि सस्कृति की मुक्ति उसके उपभोग मे है, पूजा-अरचा मे नही। उपभोक्ता सस्कृति के निर्माता रससिद्धात को आज पूरी तरह उपयोग मे लाते है, साधारणीकरण का इस्तेमाल करते है।

उपभोक्ता सस्कृति की इस व्याख्या को देखकर कुछ आधुनिकतावादी साहित्य के ब्रह्मचारी लोग कह उठेंगे कि देखा, यह आदमी तो उपभोक्ता सस्कृति के पक्ष में बोल रहा है। धिक्कार है! और ऐसा कहते हुए वे यह भी भूल जाएँगे कि वे विपक्ष में होते हुए भी इसी सस्कृति का उपभोग करते है। जो लेखक सेठों से विज्ञापन लेकर किताबें अपने नाम से सपादित कर उन्हे बेचते है, जो पत्रिकाएँ निकालते हे, उनके रिव्यू के लिए अखबारो मे दौड़ते है, जो गोष्ठियॉ करते है, चर्चाएँ करते-कराते हैं (और यह काम साहित्य से सबधित सभी लोग करते है) वे सब साहित्य के बाजार के निर्माता ही है, साहित्य के प्रबंधक ही हैं। साथ ही साहित्य के सबसे खराब उपभोक्ता हैं।

कुछ लोग समझते है कि साहित्य अभी बाजारी सस्कृति में नहीं गया। कतिपय कलाएँ भी नही गई है। ऐसे लोग धोखे में नहीं है। हॉ, वे दूसरो को धोखा देना चाहते हैं। हम जानते हैं कि आज चित्रकारो की चित्रकृतियो की नीलामी सौथ वी मैसी कपनियॉ करती है। हुसैन, रजा से लेकर नए चित्रकार तक की पेटिंग्स खूब बिकती है और कौन खरीदते है? बडे सेठ, माफिया डान, उद्योग घराने? चित्रकारो मे किसी ने भी कभी नही कहा कि यह व्यापार है। बाजार है। उनके यहाँ तो यह कला है। जरा देखे, खुलेआम नीलामी है। पैसा बरसता है। लेकिन चितक कहते हैं कि यह बाजार नही है, कला है। टीवी बाजार है। यह कला है। यह कैसा चितन है? यहॉ कौन-सी सिद्धांतिकी (थियरी) काम कर रही है—बाजार की सिद्धांतिकी के अलावा!

इंडिया टुडे का विशेषांक निकलता है तो कोई भी लेखक मना नहीं करता लिखने से। क्यों? क्योंकि उसकी प्रसारण क्षमता लाखों में है और वह रचना पर 'अच्छा पैसा' देता है। यह अच्छा पैसा उन विज्ञापनों से आता है जो इंडिया टुडे को मिलते हैं। विज्ञापन घटा दीजिए, सर्कुलेशन का तामझाम घटा दीजिए, इंडिया टुडे का क्या बनेगा? तब फिर महान् लक्ष्मी को कभी हाथ से न छूने वाले प्रगतिशील साधु-साहित्यकारों का क्या होगा? क्या उन्हें 'इंडिया टुडे' के दफ्तर या 'जनसत्ता' के दफ्तर में चक्कर मारते, 'पी आर शिप' करते किसी ने नहीं देखा? तब बाजार से घृणा कैसी? दिन-रात पैसा कमाने के चक्कर में फँसा इंसान कैसे न करे बाजार की परवाह? साहित्यकार भी इंसान है, उसे भी घर चलाना है, साहित्य की एकांत साधना तभी होगी, जब कुछ पैसे होंगे। सो, वह बाजार से समझौता करता है, मानो उसकी लड़ाई हो? और जब बाजार हमारा वातावरण है तब 'समझौता' क्या और 'लड़ाई' क्या? ये शब्द विदाई माँगते हैं।

'सहमत' बना। एक महान् उद्देश्य घोषित किया गया। देखते-देखते वह एक पाँच सितारा प्रगतिशील दुकान बन गई। उसमें सारे प्रतिबद्ध किस्म के ही लोग थे। लेकिन बनी सिर्फ एक दुकान! क्यों? जिंदगी भर मजदूरों-किसानों के लिए लड़के वाले अपने कामरेड इंद्रजीत गुप्त एक ऐसी सरकार में शामिल हुए जो खुले बाजार की नीति की पक्षधर है। यही नहीं, यदि सहमत की दुकान के परचूनियों की चलती तो ज्योति बसु देश के प्रधानमंत्री बनाए जाने चाहिए थे। वे लोग उस दिन प्रदर्शन करने मार्क्सवादी पार्टी के कार्यालय पहुँचे थे। उनकी माँग थी कि ज्योति बसु ही रक्षा कर सकते हैं। रक्षा, यानी ज्योति बाबू पी एम. होते तो कुछ 'माल' मिलता रहता न! अर्जुन सिंह ने पचहत्तर लाख दिए तो ज्योति बाबू क्या कम देते! बुरा हो मार्क्सवादी पार्टी की 'सीसी' का, जिसने कलाकारों, बुद्धिजीवियों की इतनी प्रगतिशील प्रार्थना न सुनी! यह है बाजार की इच्छा। बाजार में बैठने की इच्छा।

कबीर ने बहुत पहले बाजार रूपी माया के बारे में कहा था :

माया महा ठगिनी हम जानी।

तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी।।

यह माया विष्णु, ब्रह्मा किसी को भी नहीं छोड़ती। सिर्फ कबीर ही इस माया के फंदे को काट पाता है क्योंकि 'साहेब का बंदा' जो है! जिसने अपनी इच्छा को वश में कर लिया है, वही अंकुश लगा सकता है। यही ज्यां बौद्रीआ कहते हैं। यही कबीर।

• जनसत्ता, वार्षिक अंक-1996

भूमंडलीकरण और टीवी

भारत मे इस वक्त कम से कम छत्तीस से छियत्तर चैनल तक देखे जा सकते है। कोई पॉच करोड टीवी सेट उपलब्ध है। यदि एक टीवी सेट को प्रति परिवार पॉच से दस व्यक्ति देखते है तो भारत में टीवी देखने वालो की सख्या पचास करोड तक कही जा सकती है। ऑफिसियली दूरदर्शन अपने दर्शकों की सख्या अडतालीस करोड से ऊपर बताता ही है। दरअसल उसकी 'पहुॅच' तो सत्तर फीसदी जनता तक कही जाती है। दर्शकों की इतनी बडी संख्या टीवी की भाषा में एक 'रेडीमेड मार्केट' है जो इन दिनों तमाम चैनलों का 'टारगेट' है। टीवी ने ही यह बाजार बनाया है। टीवी का काम ही है 'जनता' को 'दर्शक' मे बदलकर किसी विज्ञापनकर्ता और इस तरह किसी 'कॉरपोरेट' को बेच देना। इस प्रकार टीवी का 'प्रभाव क्षेत्र' सिर्फ वही नही होता है जिसे दर्शक बनाते हैं बल्कि वह भी है जिसे टीवी से जुडी मार्केटिग की अर्थ-व्यवस्था बनाती है यानी बाजार की शक्तियॉ, उन्हे होने वाले लाभ, उपभोक्ता स मग्री से जुडे पैकेजिग-डिजाइनिंग और उपभोग के बाद छूट जाने वाला कचरा और पर्यावरण प्रदूषण फालतू की चीजे लेने की आदत, और उपभोक्ता होने की होड इत्यादि। टीवी के प्रभावक्षेत्र मूलत' समग्र 'सामाजिक-आर्थिक और सास्कृतिक' जन-क्षेत्र/पब्लिक स्पेस/ होते है।

टीवी का 'प्रभाव' देखना हो तो दर्शको के बदलते दैनिक व्यवहार और जीवनशैली मे देखा जा सकता है और इसी रूप में देखा भी जाता है। टीवी पर होने वाले शोध प्राय' इस प्रभाव का वर्णन करते है। भारत में ऐसा शोधकार्य कम होता है। पश्चिमी देशो मे वडी मात्रा में होता रहता है। ये शोध बताते है कि प्रभाव को प्रत्यक्षरूप मे हुआ नही बताया जा सकता क्योंकि मानव व्यवहार ठीक-ठीक कव किस कारण से वदला यह कई बार मानव ही नही बता पाता। इसीलिए टीवी के 'प्रभाव' को पढ़ने के कई तरीके बने है और फिर भी निश्चय नहीं होता कि किस प्रकार से 'प्रभाव' का 'सुस्पष्ट' आकलन करे। यह टीवी के शोध की समस्या है। फिर भी सब मानते है कि टीवी का असर अनेक तरह से अनेक स्तरों पर होता है और इसलिए उसे सरलीकृत ढग से या भावुक चीख-पुकार से नही बताया जा सकता। प्रभाव को सौटक

पढना एक कठिन काम है क्योंकि सब जानते-मानते है कि प्रभाव होता है लेकिन विवाद यहाँ होता है कि 'कितना' और 'कैसे' प्रभाव हुआ है? इस प्रभाव मे कितना ऐसा है जो वांछनीय है? कितना दुष्प्रभाव है?

तो भी, प्रभाव के गणित को समझना जरूरी होता है क्योंकि हम अक्सर देखते है कि बहुत-से लोग प्रभाव को और दुष्प्रभाव को बढा-चढाकर कहते हैं और टीवी को एक खलनायक या प्रायः एकमात्र खलनायक के रूप मे पेश कर देते हैं और एक माध्यम के रूप में उसकी भूमिका को नही समझते। ऐसे लोग माध्यम के ही दुश्मन बन जाते हैं। यह दृष्टि उचित नहीं है।

—अभी कुछ पहले खबर आई थी . पाकिस्तान के 'नॉर्थ वेस्ट फ्रंटियर प्रोविंस' इलाके मे वहॉ की सरकार ने टीवी पर प्रतिबंध लगा दिया है।

—इससे पहले अफगानिस्तान मे इस्लामी तत्त्ववादी तालिबान सरकार ने टीवी प्रसारण को देखने पर पाबंदी लगा दी थी।

—कुछ पहले मुबई की एक कॉलोनी के निवासियो ने अपने टीवी सेट ही तोड डाले थे।

ये उदाहरण टीवी के 'प्रभाव' के प्रति 'तत्त्ववादी-अतिप्रतिक्रिया' के उदाहरण है। ऐसे कई लोग टीवी को एक माध्यम के रूप मे नही समझ पाते। वे उसे अपसंस्कृति का वाहक मान कर चलते है और माध्यम के ही दुश्मन बन जाते है। वे प्रायः टीवी के लिए किसी सख्त सेंसरशिप की मॉग करने लगते है।

इसके अलावा ऐसे उदाहरण भी मिलते है जिनमें टीवी दर्शक अपने ऊपर पडने वाले प्रभाव का स्वय प्रमाण बन जाता है या उस प्रभाव का वाहक होता है

—कुछ बरस पहले की बात है। बंबई मे आठ-दस साल के एक बच्चे ने चौथी मजिल के अपने मकान की बॉलकनी से छलॉग लगा दी। सौभाग्यवश जहॉ वह गिरा वह कूडे का विराट ढेर था और सही-सलामत बच गया था। जब उससे पूछा गया कि उसे कैसा लग रहा है तो उस बच्चे ने हँसते हुए जवाब दिया कि वह सुपरमैन है और उड़ सकता है और यह उसे अच्छा लगा है। यह उदाहरण प्रभाव का यानी टीवी में देखी गई छवि की नकल का सीधा प्रमाण कहा जा सकता है।

—ऐसे ही कुछ पहले हरियाणा के एक गॉव में एक आठ-दस साल की बच्ची ने 'केमे' सोप को इसलिए खा लिया क्योंकि उसे विश्वास हो गया था कि इसमे सचमुच क्रीम होती है। विज्ञापन मे सोप मे क्रीम का होना बताया जाता था। यह भी प्रभाव का प्रमाण था।

—एक-डेढ साल पहले 'थम्स अप' के विज्ञापन को देखकर दो बच्चों ने अपने घरो की छत से उसी तरह की 'बंगी जंपिंग' की ओर जान से हाथ धो बैठे। विज्ञापन मे एक नौजवान पहाड पर थम्स अप लाने के लिए ऊपर से नीचे जाती गाडी तक बंगी जंपिंग करता है। बच्चों ने यह काम रस्सी और साड़ी से किया और सीधे जमीन

पर आ गिरे। यह व्यवहार की नकल थी। यह नकारात्मक प्रभाव का प्रमाण था।

—और इन दिनों खबरें आ रही है कि 'शक्तिमान' को देखने के बाद अब तक कुल नौ बच्चे इसके इंतजार मे जान की बाजी लगा चुके है। कुछ बच्चों ने अपने शरीर पर मिट्टी का तेल छिडक कर आग लगा ली और इंतजार करते रहे कि शक्तिमान उन्हे अवश्य उसी तरह बचाने आएगा जिस तरह वह सीरियल मे बच्चो को बचाता है। एक बच्चे ने शक्तिमान बनना चाहा और वैसी ड्रेस चाही और न मिलने पर आत्महत्या कर ली। ये तमाम उदाहरण नकारात्मक प्रभाव के उदाहरण ही कहे जा सकते है।

—जब कुछ बच्चे नकल करते हुए आग लगा कर मर गए तो दूरदर्शन ने शक्तिमान वालों से कहा कि वे जनता को शिक्षित करे। शक्तिमान के निर्माता और हीरो मुकेश खन्ना ने सीरियल के एक एपीसोड में बताया कि किस तरह से शक्तिमान घूमता है किस तरह से जो 'चमत्कार' दिखाता है वह सब 'शूटिंग' और 'पोस्टप्रोडक्शन तकनीक' का कमाल होता है। लेकिन मुकेश ने यह भी बताया कि कई माता-पिता शक्तिमान के अच्छे प्रभाव के बारे मे भी उन्हे खत लिखते रहे है। एक माँ ने लिखा था कि शक्तिमान की सलाह मानकर उसका बेटा अब होमवर्क करने लगा है और दूसरी माता ने लिखा कि पहले उसका बेटा दूध नही पीता था शक्तिमान के कहने से पीने लगा है। यदि ये खत सही थे तो कुछ माता-पिता के लिए सकारात्मक प्रभाव के प्रमाण हैं।

इन दिनो हर चैनल अपने लिए 'मार्केटिंग रिसर्च' कराता है। अपने दर्शकों/ऑडिएंस/ के लिए हर चैनल लडता है। यही पर टीवी की 'पॉलिटीकल इकोनॉमी' काम करती है जिससे उसका प्रभाव तय होता है। इसीलिए नौ बच्चे मरते है या घायल होते हैं और विरोध होता है तो भी ऐसे सीरियल रुकते नहीं हैं। और जो सीरियल शिक्षाप्रद होते हैं उन्हे प्रायोजक नही मिलते। इस तरह 'प्रभाव' का अर्थ एक प्रकार का बडी पूँजी का ताकतवर 'मकडजाल'/नेटवर्क/भी है।

यदि व्यवहार या जीवनशैली मे देखे तो हम पा सकते हैं कि पिछले बीसेक साल मे बनी दो टीवी पीढ़ियों/पाँच से दस साल के आयुवर्ग की 'एक पीढ़ी' और दस से बीस साल आयु वर्ग की 'दूसरी पीढ़ी'/के व्यवहार और जीवनशैली में बडे परिवर्तन देखने को मिलते है जिन्हे इस प्रकार से कहा जा सकता है :

—सेक्स को लेकर युवावर्ग का नजरिया बदला है। एड्स सूचना कार्यक्रमो, कडोम और सेनिटरी नैपकिन के विज्ञापनों ने युवा वर्ग का सेक्स-दृष्टिकोण बदल दिया है। वे अपने दोस्त अपने प्रेम के बारे में अधिक खुलकर बात करते दिखते है। उनमें आपस मे पहले से ज्यादा मिक्सिंग है। पहले वाला 'दूर का नैन मटक्का' पुरानी चीज हो चला है।

—खाते-पीते मध्य वर्ग में लड़के-लड़कियों के व्यवहार मे परिवर्तन दिखाई देते

है यह अखिल भारतीय स्थिति है। मसलन वे अब आपस में निस्संकोच ज्यादा मिक्स करते हैं। लड़कियों के चेहरे 'लाज-शरम' के मारे नहीं दिखते। उनमें आत्माभिमान की भावना, पुरुषों के अवांछित हस्तक्षेपों के मुकाबले अपनी बात कह सकने की प्रोटेस्ट करने की क्षमता बढ़ी है। एक नई लड़की और एक नई स्त्री तेजी से बनी है। यह 'शांति', 'तारा' और 'स्वाभिमान' की स्त्री से मिलकर बनी है। वह अधिक 'मुखर'/वोकल/ है। कई तरह के काम करती हुई दिखती है। वह अफसर है। सेल्स रिप्रिजेंटेटिव है। वकील है। पत्रकार है। सिर्फ टीचर या नर्स नहीं है। टीवी पर ऐसी स्त्रियों के लगातार दिखने से मर्दों की आँखों के आगे स्त्री की उपस्थिति बढ़ी है। इससे नया स्त्रीत्ववादी विमर्श पैदा हुआ है और मर्दों की बनाई मर्यादावादी दुनिया में त्राहि-त्राहि मचनी शुरू हुई है। कल तक स्त्री अपने ऊपर किए गए बलात्कार के बारे में बताने तक से डरती थी। अब वह टीवी के सामने मुँह खोलकर बताती है। स्पष्ट ही वह अधिक बेखौफ हुई है। यह टीवी ने किया है। और इसकी प्रक्रिया में पुराणपंथी लोगों का 'अपसंस्कृति-अपसंस्कृति' चिल्लाना बढ़ा है। पहली बार एक आधुनिक लड़की बनी है जो टीवी से लेकर गली-मुहल्ले में पाई जा सकती है।

—इस नई लड़की को टीवी ने बनाया है। वह अधिक सचेत और प्रदर्शनप्रिय है। अपनी छवि के प्रति अधिक चिंतित है। कॉस्मेटिक उद्योग, अपने हक और बराबरी का दावा करने वाली कहानियों ने उसे बनाया है। वे रामायण, महाभारत, श्रीकृष्णा को देखकर सती अनुसूइया नहीं बनी है, उनकी रोल मॉडल है ऐश्वर्य राय और सुस्मिता सेन। वे अपनी देह के प्रति पहली बार सचेत हुई है।

—कस्बे-कस्बे सौंदर्य प्रतियोगिताएँ होती हैं। कॉलेज-कॉलेज राक शो होते हैं। यहाँ लड़के-लड़कियों की देह-भाषा बदल गई है। यह हिप-हिप हुर्रे टाइप के सीरियलों का प्रभाव है। युवापीढ़ी का सांस्कृतिक जगत् बदल गया है। वह नूडल्स, जीन्स, नाइकी, अंग्रेजी या हिंग्रेजी में रहता है। लड़कियों का लिबास बदला है। वे स्कर्ट या जीन्स में रहती है। उनके बाल कंधों पर लहराते है। उनकी निगाहों में पहले मिलने वाली लड़की के भय और संकोच नहीं है। वह अधिक साहसी है और अधिक आत्मनिर्भर हुई है।

—पुरुष जीवन में हो रहे परिवर्तन भी तेज हैं। वे हेल्थ फ्रीक हुए है। जिम उनकी जगह है। तुरत भोजन उनका आहार है।

—बच्चे और स्त्रियाँ टीवी के प्रभाव में आने वाला एक बड़ा क्षेत्र है। शुरू के उदाहरणों में टीवी के विज्ञापनों या सीरियलों से सीधा प्रभाव ग्रहण करने वाले ज्यादातर बच्चे ही है। टीवी का सबसे ज्यादा असर ग्रहण करने वाले बच्चे ही है और उनके व्यवहार में परिवर्तन दिखाई देते है। वे बहुत बातूनी, पूर्ववयस्क-से लगते हे और अपनी जरूरत की चीजों को स्पष्ट रूप से पहचानते है और सबसे बड़े उपभोक्ता वर्ग है। हिंसा उन्हें ताकत की भाषा के रूप में मिलती है। औसतन बच्चे तीन से

चार घंटे टीवी देखते हैं। इससे पाया गया है कि उनका पढाई पर पूरा ध्यान नही जा पाता। वे होमवर्क पूरा नहीं कर पाते। वे चिड़चिडे और अवज्ञाकारी होते दिखाई देते हैं। उनके खेल बदल गए है। वे विज्ञापनों को रट लेते हैं किताब पढने से ज्यादा वे टीवी देखना बेहतर समझते है। वे पास से देखते है और ऑख खराब कर लेते है। वे ऐसा बहुत कुछ देखते है जो पहले के बच्चों को नसीब नहीं था। वे फिल्में देखते हैं एम टी.वी. देखते है कार्टून देखते है आहट देखते है। वे वक्त से पहले एडल्ट हुए जाते है। उन्हे क्लिंटन-मोनिका प्रसग तक मालूम हैं। उनके पास अधिक सूचनाएँ रहती हैं। उनका भोलापन/इन्नोसेंस/खत्म होने लगा है।

—हमारे सास्कृतिक रूपो मे भी परिवर्तन दिखाई देता है। युवा लोग वीजे और डीजे बनाना पसंद करते है। वे रिकॉर्डेड संगीत पर नाचते हैं। वे नाचते हुए आपस में छेडछाड नही करते। वे अधिक छेडते है जो इस नए समाज मे हावी नही हो पा रहे।

—पुराणपथी लोगो की चीत्कार-फूत्कार भी टीवी का एक प्रभाव है। वे समझते है कि उनका जगत् उनके हाथ से बाहर हुआ जा रहा है। मर्यादाएँ टूट रही है।

—रॉक, वेलेंटाइन डे, म्यूजिक रिमिक्स, मेंकडानल्ड, कोकपेप्सी. नूडल्स, मारुति सीएलो, दिन-रात मनोरंजन, स्पर्धा और अमेरिका इनका लक्ष्य है। टीवी ने हमारे समाज मे एक ग्लोबल पीढी बना दी है। इसमें कुछ बुराइयॉ आ रही हैं तो कुछ अच्छाइयॉ भी है। आज वे स्वार्थी और अपने मे व्यस्त है तो मेहनत, स्पर्धा और दुनिया के मुकाबले खडे होने की हिम्मत रखने वाले है।

टीवी ने उन समाजो को ताकत का अहसास कराया है जो परंपरागत समाज में ताकत से बाहर कर दिए गए हैं। इनमें एक स्त्री वर्ग है और दूसरा दलित वर्ग है। टीवी चूँकि घरेलू माध्यम है जो यह अहसास कराते हुए सप्रेषण करता है कि जो आप देख रहे है वह आपका अपना जीवन है इसलिए उसे देखते हुए दर्शक उसकी छवियो जैसा बनना चाहने लगता है। टीवी कामना को खोलने और निर्बंध करने वाला माध्यम है। एक दलित जब अपने यहाँ टीवी देख सकता है और वही सब कुछ देख सकता है जो उच्चजातियाँ देख रही हैं तो वह बदलने लगता है। वह भी कुछ बन सकता है यह उसे लगने लगता है। इसीलिए टीवी सबको एक ही बात सिखाता है कि आप सब सब कुछ बन सकते है। वह सबसे बडा 'लेवलर' है। सबको 'इकसार' करता है। वह वर्गभेद नहीं मिटाता, लेकिन रूपगत वर्गभेद मिटा देता है। एक क्रीम सबको गोरा बनाती है, एक जीस सबको अमेरिका ले जाता है। यह अहसास वह सब में भर देता है।

आज भारतीय समाज मे अस्थिरता का एक बड़ा कारण और जनतत्र के बने रहने का एक बड़ा कारण टीवी कहा जा सकता है। बहुत सारे चैनल हैं तो बहुत सारी सूचनाएँ भी हैं और चूँकि सूचना समाज की जरूरत खुला होना है इसलिए

सूचना देने वालों में स्पर्धा है और इसलिए कोई सूचना छिप नहीं पाती। टीवी ने हमें सूचना बहुल जनतंत्र दिया है। यह भी उसका प्रभाव है।

अब अन्याय सहने वाले कम हो रहे हैं अन्याय के खिलाफ लड़ने वाले ज्यादा हो रहे हैं। ऐसे लोग मानते हैं कि कोई न्याय यदि नहीं मिला है तो टीवी पर एक बार खबर बन जाने पर न्याय मिल सकता है। आज लोगों का न्यायपालिका और कार्यपालिका से ज्यादा भरोसा टीवी पर है।

संक्षेप में टीवी ने हमारे समाज को आमूल बदल दिया है।

मिलेनियम की माया

मिलेनियम यानी सहस्राब्दि के बारे में जो बाते यत्र-तत्र हो रही हैं, उन्हें दो वर्गो मे बॉट कर चला जा सकता है। पहला वर्ग उन बातो और वार्ताकारो का है जो आनेवाली शताब्दी के स्वागत के बहाने अपनी इस शताब्दी का लेखा-जोखा कर रहे है और इस बहाने बीसवीं सदी पर ही नही रुकते, बीते हजार साल तक यादो की बारात निकालते है। दूसरे होटलवाले, नाचवाले और टीवी-कारो को मार्केटिंग वाले ह जो दो-ढाई प्रतिशत की मुद्रा-स्फीति पर गर्वित किए गए बाजार को फूलने के लिए ऑफर देकर उकसा रहे है। हिंदी में इस घटना को लेकर कोई उत्तेजना नहीं दिखती, सिवाय कुछ पत्रिकाओं के विशेषाकों की घोषणाओ के। ये घोषणाएं भी एसी ही हैं जैसे कोई आन पडी मजबूरी हो और अवसर के सग चलने की टेव को रखा जाए। ये बातें बताती है कि मीडिया-शोर मे मिलेनियम एक ऐसा आसन्न अवसर बना दिया गया है जिसे तरह देकर निकलना स्वयं को पिछडा हुआ पाना है या समय मे न रह पाने जैसा है। आधुनिकता मे सक्रिय 'एकदम ताजा या समकालीन' होने का मूल्य कुछ इस तरह बैठा हुआ है कि जो सब कर रहे है वह हमने नहीं किया तो लगता है कि हम इतिहास के बाहर रह जाएँगे।

इतिहास के इस आधुनिक बोध ने, कि इतिहास का नायक और कर्ता आदमी ही है और कि उसमे घुसा जा सकता है, मजबूरी को स्वभाव बना दिया है कि अगर सदी बीते तो आदमी को वह सब या ऐसा कुछ कर डालना चाहिए जो उसने न किया हो और जिसे सब जानें। जाते हुए इतिहास में अमरता का एक छोटा-सा कोना छेकने के लिए कोई कुछ भी कर सकता है। लोग अजीबोगरीब ढंग से कहते हैं कि वे कुछ अजीब करके 'अगली सहस्राब्दि' में प्रवेश करेगे। अचानक कुछ करके 'चौका देने' का उद्यम और भाव इस शताब्दी के 'उत्तर दिनो' की उपज है और लोग चाहते है कि चौंकाते हुए वे अगली सदी में जाएँ। इस शताब्दी या कहे कि सहस्राब्दि से उसमें जाने के लिए अग्रेजी मे ऐसे ही वाक्य कहे जा रहे हैं कि जैसे जाने वाले के पास जाने या न जाने की कोई स्वतन्त्रता हो, वह चाहे तो जाए या चाहे तो न जाए। यहाँ भी इतिहास के कथित 'कर्ता' का अहंकार बडा होकर बोलता

है, मानो इस काल की गति के बाहर वह स्वयं रह सकता है या जा सकता है।

अगली सहस्राब्दि में जाने के मीडिया-शोर से थोड़ा हट कर हम खयाल करें कि जब मौजूदा सहस्राब्दि शुरू हो रही होगी तो क्या उसका अवधान इतना तीखा दिखता था? क्या सन् एक हजार के आसपास लोग सोच पा रहे थे कि वे अगली सहस्राब्दि में जा रहे हैं या वे जाने हुए कुछ करते दिखने चाहिए? ऐसा तो नहीं था कि न जान कर भी वे तमाम लोग काल के भीतर नहीं रह रहे थे? इस सबके लिए सन् एक हजार के आसपास बन रहे इतिहास और इतिहासों में भी जाने की जरूरत नहीं। चूँकि हम उन इतिहासों में ही लगातार रहते आए हैं इसलिए कह सकते हैं कि कर्ता होने का अभिमान तब नहीं था और आज के पश्चिम में तो तब अंधकार युग था। कर्ता-कर्म की तो बात छोड़िए, काल का कर्ता यहाँ और वहाँ सर्वत्र धर्मों में उपस्थित ईश्वर ही था और उसके आशय थे। अधिक कहें तो प्रकृति ही रही जो मनुष्य को अलग से सोचने की जगह नहीं देती थी। तो इस सहस्राब्दि के आरंभ में ऐसा कुछ नहीं हो रहा था जो अंत में हो रहा है। एक हजार साल में आदमी ने इतिहास को पढ़ने-बनाने के तरीके में जितने परिवर्तन किए हैं, वे शायद सबसे बड़े कारनामे हैं जो इस सहस्राब्दि के साथ लिखे गए हैं। मीडिया और पैसे वालों का सहस्राब्दि-शोर इन दिनों इसका एक सफल परिणाम है। शायद इसीलिए कोई जब सोचने या लिखने बैठता है तो अनिवार्यतया एक इतिहास लिखता है। दैनिक पत्रों से लेकर बड़ी पत्रिकाओं और किताबों में एक बार फिर इतिहास ही लिखा जाता है। इन दिनों यही हो रहा है।

अपने यहाँ कुछ अखबारों ने जो सहस्राब्दि राग गाया है उसमें सौ साल से लेकर एक हजार साल का इतिहास कहना एक आम बात हो चली है। उसमें भी बाजार की स्पर्धा से निपटने के लिए कुछ नई बात करके चौंका कर चलने का भाव कहता है कि जो सोच-लिख रहे हैं वे काल के ग्रास में उत्तर-आधुनिक कलावंत एंडी वारहोल वाली 'पंद्रह सेकंड की अमरता' चाहते हैं। पंद्रह सेकंड की बनाई गई अमरता के वातावरण में ऐसी निर्णायक किताब नहीं लिखी जाती जो कहती हो कि उसे जानने के बाद कुछ जानने को शेष नहीं रह जाता। कोई बड़ा कथन, कोई निर्णायक कथन नहीं हो रहा है। क्या यह इस सदी के आखिरी दिनों का वरदान नहीं है कि अब कोई धोखा नहीं है, सिवाय पूँजी के धोखे के? इसीलिए जो हो रहा है, वह कुछ इस प्रकार है जैसे किसी ने बही-खाते में कुछ सौ नाम गिनाने की कवायद की हो। लेकिन इस खेल में भी कुछ उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों को पढ़ा जा सकता है।

एक अखबार ने अपने अधूरे इंटरनेट-सर्वे में बताया कि महात्मा गाँधी के बाद उनके हत्यारे नाथूराम गोडसे का नाम सदी के बड़े और महान् लोगों के क्रम में बराबर की टक्कर दे रहा है। कुछ पहले 'फॉरच्यून' ने बताया था कि इस बरस के विश्व के सबसे बड़े अमीरों में कई भारतीय भी हैं और वे सबके-सब सूचना प्रौद्योगिकी

मे जुडे नाम हैं। ये जाते हुए समय में छाप छोडने वाले लोगो की हसरते है और ऑकडों का खेल है जिसमें दैनिक हो रहा नेट-जनतंत्र वडे आराम से सूची बना-बिगाड रहा है। सौ साल मे सौ आदमी ही क्यो गिने जाएँ? यदि ऐसा है तो हजार साल मे हजार आदमी क्यों न गिने जाएँ? इटरनेट पर 'न्यूयॉर्क टाइम्स' मे कभी छप जाती मिलेनियम कवायदो को ध्यान धरे तो वहाँ बीते हजार साल की कोई बात ही नहीं कर रहा है क्योंकि जिस अमेरिका के लिए मिलेनियम-शोर है उसकी उम्र हजार साल की नही है। जो भी इतिहास है रक्त का इतिहास है, साम्राजी लूट का इतिहास है। यदि अमेरिका अपने हजार साल पीछे जाएगा तो कोलबस से पीछे जाना पडेगा और नई दुनिया के संहार और खोज के बारे में कुछ ऐसा सुनना पडेगा जो ऐसे शोर मे मजा खराब करेगा।

लेकिन अपने यहाँ 'आउटलुक' नामक पत्रिका में खिलनानी से लेकर नायपॉल और सलमान रुश्दी मे जग छिडी है कि भारत की सहस्राब्दि को एक तेज रौ में और तात्कालिकता में एक लबी और बड़ी कहानी कैसे बनाया जाए? यहीं अतीत को देखने की राजनीति भी सक्रिय हो जाती हे। नायपॉल के लिए इस्लाम ने भारत का नाश कर दिया। खिलनानी के लिए कई चीजें इस बीच हुई है जो भारत को बनाने वाली रही जिनमे रेलवे एक बुनियादी तंत्र रहा जिसने सामाजिक और भौतिक क्रांति की। अब्राहम इरली ने कहा कि सन् ग्यारह सौ के आसपास भारत 'गोबर और मोतियों' का मिक्स्चर था। तुर्क आ रहे थे। आक्रमणों ने छह सौ साल तक तुर्क-मुगल-अफगान सत्ता को विठाया, लेकिन पहली सहस्राब्दि के अंत तक भारत की हालत बेहद नाजुक हो चली थी। बहस की गुजाइश नही, लेकिन जिस ढग से खिलनानी और इरली प्रथम सहस्राब्दि के आसपास के वक्त में किसी 'भारत' के होने की बात कर रहे हैं, वह वस्तुत बहुत बाद की अवधारणा और मान्यता है। इतिहास का आधुनिक राष्ट्रवादी विमर्श सब युगों मे रहे किसी 'शाश्वत भारत' के होने की बात करता है जबकि ऐसा कल्पना-समर्थित ही है, तथ्य-समर्थित नहीं है। कई 'भरतो' के पुराणों में पहले होने के बावजूद यह भारत उन भरतों से होकर बहुत सीधे नहीं आता। इस सहस्राब्दि के आरंभ में भारत कई राज्यों, कई वशों मे बँधा था। भारत एक 'राष्ट्र' यानी 'कल्पित समुदाय' की तरह बहुत बाद मे उगा। भारत की एक राष्ट्र के रूप मे अवधारणा बहुत बाद की, अंग्रेजों के आने के बाद की है। किसी एक केंद्रीय सत्ता और सार्वभौमिक जीवनशैली की कामना करता भारत आजादी की लड़ाई में बना है।

बहरहाल यहाँ इस इतिहास मे जाने का न समय है न जरूरत। यह देखना दिलचस्प होगा कि इन दिनो भारत किस समय मे रहता है और क्या मिलेनियम का चालू शोर उसका अपना शोर हो सकता है या कि यह भारत समेत धरती भर को एक विश्व बाजार मे बदलने वाले कॉरपोरेटों का 'कल्पित समय' है। यह विचित्र

कतई नही है कि काल की अवधारणा के मामले मे मिलेनियम का मामला खास हास्यास्पद हो चला है। कॉरपोरेट वालो ने जोश में आकर हॉक लगा दी कि मिलेनियम शुरू होने वाला है, लेकिन जल्द ही बात साफ हो गई कि हिसाब लगाने के मामले मे पश्चिमी दिमाग पोला ही है क्योंकि अगली सदी दो हजार बीतने पर यानी दो हजार एक मे ही आरभ होती मानी जा सकती है, दो हजार मे नही। दूसरे, अपने यहाँ कई सन्, हिजरी, कई शक, कई सवत् चलते है और अनेक लोग अनेक समयो मे रहते है। जो काल की अनतता को मानते है उनके लिए काल की एक घडी को मनाना बेकार का काम है। लेकिन जो लोग सामान्यतया नहीं मानते उन्ही क्षणो को इन दिनो मनवा लिया जाता है। कही कोई होता है जो अचानक एक साधारण से क्षण को विश्व-घटना और बाजार की भाषा मे कहे तो सुपर-घटना मे बदल कर नई-नई चीजों को बेचने लग जाता है।

यह एक नया लगातार बनाया जाता और 'बनाया जाना दिखता' नया सास्कृतिक समय होना है जिसे हर तरह से सुदीर्घ बनाया जाना है ताकि विश्व मे आने वाली मदी से बचा जा सके। इसे विश्व पूँजी के विराट प्रपच के भीतर और बाहर सतत बनाया-बिगाड़ा जाना रहना है। शायद यही वह 'वृत्तात' है जो इन दिनो नित्य बनाया जाता है और चूँकि नित्य बनाया जाता है इसलिए क्षणभगुरता उसका आकर्षक आभूषण होती है और वह इतनी साफ और निर्मम होती है कि उसकी निर्ममता का अपना आनद होता है। इसमे निहित निरतर हिसा पर हम कोई फैसला नही कर पाते। यो देखे तो यह माया के उन विमर्श की ही तरह है जो नाथो, सिद्धो और कबीरो के बीच इस सहस्राब्दि के आरभ के आसपास बना होगा। इसे कौतुक के लिए भी कहा जाना चाहिए कि जिस माया से इस सहस्राब्दि के आरंभ में यानी एक हजार ग्यारह-बारह सो सन् मे और उसके बाद मे मध्यकालीन सतादि जूझ रहे थे वह माया ही अतत जीती है। हम बुरी तरह से माया की विकट लीला के आमने-सामने हैं। तब क्या हम कह सकते हैं कि समाज बदला लेकिन तत्त्वतः समाज का एजेडा नही बदला? जो तस्वीरे इन दिनो तक हजार साल के इतिहास को प्रदीप्त करने के लिए छप रही है यानी चुनी जा रही हैं वे एक ओर भूखी-नगी औरतों को छाप रही है और उनके सामने ही ऐसी औरते छप रही है जो अपने वक्षस्थल को सिर्फ टाइयों से ढँके खुश दिखाई जा रही हैं।

यदि बदलती तारीख सदर्भ बना दी गई है तो हमें उस सदर्भ को अपने अर्थ देते हुए कहना होगा कि ज्यादातर लोग इस सदी के गुजरने को उस तरह नहीं समझ रहे जिस तरह कुछ बडे लोग समझ रहे है। दुनिया के बड़े लोग, जिनमें अपने बडे लोग भी शामिल है, इस सदी से अगली सदी मे अपने तबू अभी से गाडने में लगे है। विश्व व्यापार संगठन मे बैठे बडे देशो के बडे लोग जिस अनिवार्य 'ग्लोबल विनिमय' की बात तय करने जा रहे है उसमे अगला एजेंडा विश्व की कुछ कंपनियो और

विश्वभर की जनता के उपभोक्ता-व्यवहार तय करेंगे। कह सकते हैं कि उनके लिए अगली सदी उपभोक्ता-बाजार की होगी और सबसे बड़े संघर्ष जनरुचियों के नियंत्रण के लिए होंगे।

हिंदी साहित्यकारों में जो इधर प्रतिक्रियाएँ देखने में आई हैं वे खालिस 'प्रतिक्रियावादी' लगती हैं। इनकी टेक यह है कि सब अच्छा नष्ट होने को है, शब्द की सत्ता को खतरा है, उसका अर्थ खत्म हो रहा है। यह वही किसी कल्पित 'प्रलय के इंतजार' का हिंदू भाव है जबकि इन दिनों शब्द की सत्ता का भाव वस्तुतः बढ़ा है। हिंदी में साहित्यकर्म ग्लैमर से जुड़ा है और पैसा पैदा करता है। अगली सदी में जो अगले महीने के बाद कभी भी शुरू मानी जा सकती है, हिंदी का साहित्यकार कैसा होगा? वह डॉलरमय होगा। वह सत्ता का पुर्जा होगा और सबसे बड़ी बात कि इस सदी में इन बातों पर शर्मसार होने का नाटक भी उसे अगली सदी में नहीं करना पड़ेगा। हिंदी जाति को ऐसे ही लेखक शायद चाहिए। इसके मॉडल इन दिनों उपलब्ध होने लगे हैं।

• जनसत्ता, 2 दिसंबर, 1999

नर्मदा : पर्यावरण का रण

एक अंग्रेजी दैनिक मे 10 और 11 नवबर को तीसरे पन्ने पर आधे पेज का विज्ञापन छपा है। विज्ञापन की जगह किसी 'देशभक्त' ने खरीदी है। विज्ञापन कहता है कि मेधा पाटकर और नर्मदा बचाओ आदोलन का 'असली चेहरा' एक 'देशद्रोही' का चेहरा है। नर्मदा बचाओ आदोलन वालो ने राष्ट्रीय महत्त्व की योजनाओं यथा—मध्य प्रदेश की महेश्वर हाइडल पॉवर प्रोजेक्ट के बारे मे विदेशियो को जानकारी दी है। राष्ट्र के विकास को अवरुद्ध करने के इरादे मे ऐसा किया गया है। ऐसा कथन करने के बाद उस पत्र की फोटो प्रति भी दी गई है जो कथित रूप से नर्मदा वाला ने भेजा, बताया गया है। फिर कहा गया है कि नर्मदा बचाओ आंदोलन पिछले दस साल मे इतनी सफलता से चल रहा है उसका कारण यह है कि नर्मदा आदोलन ने विभिन्न नामो से कई संस्थाएँ खोल रखी है, जिन्हें और जिनसे हवाला मारफत पैसा मिलता रहा है। नर्मदा बचाओ आदोलन कोई पजीकृत सस्था नही है। पजीकृत होती तो हिसाब-किताब का लेखा-जोखा होता। आय-व्यय दिखाना होता। सग मे एक पत्र हिंदी में छापा गया है जिसमे लालभाई ग्रुप ऑफ कंपनीज को 'सादर जगत' कहते हुए कहा गया है कि लालभाई द्वारा हमारी सस्था लोक समिति को चालीस हजार का चेक भेजा गया है। पत्र मे नर्मदा बचाओ आदोलन के बारे मे बात की गई है। रसीद नबर भी छापा गया है इससे स्पष्ट किया गया है कि नर्मदा बचाओ आदोलन को लोकसमिति टाइप की सस्थाओं से पैसा मिलता है। उन्हे लाल भाई से मिलता है इसलिए सदिग्ध है।

विज्ञापन के नीचे सात सवाल पाठको से पूछे गए है। उनका सार इस प्रकार है कि जो स्वयभू लोग पानी आदि के प्रबध सरक्षण के बारे में कतई नही जानते, जो गोपनीय सूचनाओ को विदेशियो को दे रहे हैं, जो एन.जी.ओ. बनकर राष्ट्र के विकास में बाधा खड़ी कर रहे है, जिनकी वजह से सरदार सरोवर की लागत बेतहाशा बढी है, जिनकी वजह से महेश्वर बिजली योजना भी सभव नही हो सकी है, उनके साथ क्या आप जाना चाहेंगे? फिर एक सवाल मे सीधे राष्ट्रभक्ति की परिचित बिल्ली थैले के बाहर आ गई। गुर्राई है कि क्या जनतत्र के नाम पर न्याय के सर्वोच्च सस्था

यानी सुप्रीम कोर्ट की आलोचना की जा सकती है? क्या उसे 'गाली' दी जा सकती है कि यह फैसला राज्य का जनता के विरुद्ध षड्यंत्र है और अमानवीय अपराध है? अगला आक्षेप अरुंधती राय के ऊपर है कि जनतंत्र के नाम पर लेखिका से सामाजिक कार्यकर्त्री बनी अरुंधती राय देश द्वारा किए गए पोखरण अणुबम विस्फोटों की आलोचना करते हुए क्या यह कहने की हकदार है कि हर चीज को राख में बदल देने वाले अणुबम बटन पर किसकी उँगली होगी। यह बताने वाला प्रधानमंत्री कौन है? नेशनल काउंसिल फॉर सिविल लिबर्टीज अहमदाबाद स्थित संस्था की ओर से जारी विज्ञापन इन शैतानों पर हमला करने का आवाह्न करता है। नर्मदा आंदोलन पर ऐसे विज्ञापनी हमले पहले भी होते रहे हैं। अतीत में एक बड़े अंग्रेजी दैनिक में कई दिन तक लंबे विज्ञापन छपते रहे हैं, लेकिन वे नर्मदा आंदोलन को नकली देशभक्ति की दुलत्ती नहीं मारते थे। वे विकास पर बहस करते थे।

जाहिर है कि एक मामूली-से आंदोलन को शैतान बताकर देशभक्ति ओर राष्ट्रभक्ति की परिचित गुहार लगा दी गई है। यह आडवाणी साहब के उन भाषण के बाद के एक्शन की तरह भी पढ़ी जा सकती है जिसमें उन्होंने नर्मदा बचाओ आंदोलन को 'शंका' की नजर से देखा था। उनकी शंका तब भी यह इशारा देती थी कि इस आंदोलन में संदिग्ध किस्म के तत्त्व हो सकते हैं। विज्ञापन ने स्पष्ट ही कर दिया है कि 'ऐसा ही है'। अदालत का फैसला अपनी जगह है। लेकिन अदालत के फैसले पर कोई न बोले ऐसा कथित 'देशभक्त' चाहते हैं। अदालत का मान करना हो तो उन्हें पहले बाबरी मस्जिद तोड़ने वालों के खिलाफ चल रहे केसों के आधार पर मंत्री आदि नहीं बनाना चाहिए, लेकिन ऐसे देशभक्त दरअसल 'निरमा छाप' देशभक्ति करते हैं। वे हमेशा अपनी कमीज को दूसरे की कमीज से सफेद दिखाने भर के कौशल को देशभक्ति समझते हैं। इन देशभक्तों को इस फैसले में 'गुजरात के लिए पानी' तो दिखा लेकिन विस्थापितों का दर्द बिल्कुल नहीं दिखा। आदिवासियों के बीच ईसाई न जाएँ यह भी देशभक्ति है और गरीब आदिवासी उजड़ जाएँ बेघर रहें यह भी परम देशभक्ति हुई।

आडवाणी साहब ने फैसले के तुरंत बाद बड़े बाँधों के निर्माण की ओर राष्ट्र के निर्माण की बात को जोड़कर कुछ ऐसा कहा कि लगा कि बड़े बाँध न होंगे तो विकास न होगा। बड़े बाँध और भारी उद्योग का नक्शा कांग्रेस का, नेहरू का रहा है। भाजपा के पास मंदिर आदि बनाने का नक्शा जरूर मिलता है। विकास को लेकर भाजपा के पास कोई नक्शा कभी रहा है, नहीं मालूम। अब वे कह रहे हैं कि 'बड़े बांध बराबर राष्ट्र का विकास'। इसका जो विरोध करे वह विकास का दुश्मन यानी राष्ट्र का दुश्मन। भाजपा का तर्क ऐसा ही सरल होता है। आडवाणी जी ने ऐसा ही आशय प्रकट किया। लेकिन आडवाणी जी के इस नक्शे में छेद है। वे उक्त कहते वक्त दिल्ली में कुछ ही दिन पहले विश्व हिंदू परिषद के नेताओं के एक 'विराट'

धरने को भूल गए जो उन्होंने टिहरी योजना के खिलाफ दिया था। इस धरने के आधार पर विहिप को भी राष्ट्र का विरोधी मानना चाहिए। लेकिन नही। आडवाणीजी के लिए विश्व हिंदू परिषद का टिहरी विरोधी धरना राष्ट्र भक्ति की मिसाल ही होगा।

हमें नहीं मालूम कि मेधा पाटकर अपना हिसाब कैसे रखती हैं और आंदोलन का हिसाब कहीं चैक होता है कि नहीं। यदि नही तो उसे होना चाहिए। आंदोलन को अपना खेल पूरी तरह पारदर्शी रखना चाहिए। छोटे-छोटे आंदोलनों की असल ताकत जनतान्त्रिक पारदर्शिता ही होती है। अब जब आक्षेप लगाए जा रहे है तो उसे जवाब देना ही होगा, लेकिन उक्त 'देशप्रेमी' उस राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ के उस एकाउंट के बारे में क्या कहना चाहेगे जिसके बारे में खुशवंत सिंह ने ग्यारह नवबर के अपने कॉलम में अखबारो मे लिखा है कि संघ दानप्राप्ति का और खर्चे का लेखा नही रखता। क्या देशभक्त जी सघ को विदेशो से आने वाले पैसे के हिसाब को लिखाने की माँग करेंगे? जी नहीं! यह अद्भुत देशभक्ति है जो अपने सिवाय हर दूसरे को देशद्रोही करार देती है। नर्मदा बचाओ आंदोलन अदालत में भले हार गया हो जनता के बीच नही हारा है। उसके द्वारा उठाए मुद्दे इस फैसले के बाद ओर वास्तविक हो उठे है। विकास के सिद्धान्तों को लेकर जिस प्रकार की चिंताएँ उसने प्रकट की हैं वे किसी आंदोलन की इजाजत की मोहताज नहीं है। अदालत के आदेश के बावजूद नर्मदा बाँध की योजना समस्याहीन नही हो जाती। यदि बड़े बाँधो से बनी बिजली और उपलब्ध पानी सबको मिल जाता तो हमें उपलब्ध पानी ओर बिजली के व्यावहारिक सवालो से जूझना नही पड़ना।

विकास के पुराने मॉडल को जो लोग एकदम पूरी तरह बेकार कहते हैं ओर जो उसे एकमात्र आदर्श मानते है उन दोनो को यह समझना होगा कि विकास के नए मॉडल इस ग्लोबल-तकनीकी के समय मे कई तरह के हो सकते हैं और एक देश ही नही एक प्रांत मे भी केंद्रीय और स्थानीय दोनो किस्म के हो सकते हे। प्रकृति और उसके संपदा की मिल्कियत का हिसाब-किताब पुराने सामराजी उद्योगवाद के तहत नही सोचा जा सकता। केंद्रीकृत बड़ी योजनाओ मे भी स्थानीय विविधता ओर विकल्प मिलाए जा सकते है। सक्षम विकास की परिकल्पना के पीछे पुराने अधविकासवादी मॉडलो की असफलताएँ और समर्थताएँ अब साफ हो चली हैं। नर्मदा बचाओ आंदोलन ने हार कर भी इस मुद्दे को जिंदा कर दिया है, जो हजार फैसलो के बाद जाने वाला नहीं है। अदालतों के फैसले बहसो को बंद नही करते। स्वय अदालतें ही अभिव्यक्ति की आजादी की हिफाजत करती हैं। नर्मदा बचाओ आंदोलन वालो ने जब फैसले को 'राज्यसत्ता का अमानवीय' फैसला और जनता के खिलाफ षड्यन्त्र कहा तो सिद्धांतिकी के स्तर पर यह कथन आपत्तिजनक नही कहा जा सकता। जो लोग राजनीति के सिद्धांत जानते है वे यह भी जानते हैं कि न्यायपालिका राज्यसत्ता का ही एक अंग होती है। इस अर्थ मे अदालत के फैसलों को मूलतः राज्यसत्ता

के बताना एक सिद्धांत कथन ही है। यह मान्य न्यायाधीशो पर टिप्पणी नहीं है। उनके प्रदत्त न्याय के आकलन की बात है। यह गाली नही है। न अवमानना कही जा सकती है। यह राज्यसत्ता के वास्तविक चरित्र को न पहचान कर अदालत चली गई। हमारा कानून और अदालतें अभी तक विकास के उसी मॉडल को अंतिम मानकर चलती है जो कभी केंद्रवादी दौर मे बना था। भाजपा ऐसे ही पिछड़े हुए केंद्रवाद की हामी है। ऐसे मे नए विकास के प्रश्न शायद पूरी तरह समझे नही जा सकते। अदालत ने विकास के प्रश्न नही सुलझाए है। एक योजना के रोकने या पूरा किए जाने पर अपना फैसला दिया है जिसे कार्यकारिणी यानी सरकार लागू कराएगी। इसे लागू कराने का विरोध करने का हक हर एक नागरिक का अधिकार ही तो है जो अदालत ने नही छीना है।

पिछले दिनो अदालतों ने दिल्ली के पर्यावरण की रक्षा के पक्ष में कई याचिकाओ को सुना है। दिल्ली का प्रदूषण कम हो सके इस हेतु कई फैसले दिए है। एक फैसले से दिल्ली के भीतर चलने वाली हजारों छोटी उद्योग इकाइयों को हटाने के आदेश दिए गए। फैक्ट्रियाँ हट गई। लाखो मजदूर बेकार हो गए। मालिको ने बस्तियो के बीच कालांतर मे महँगी हो चुकी जमीने बेचकर खूब कमाई की, लेकिन बेकार हुए लाखो मजदूरो को धेला न मिला और अदालत भी उन्हें कुछ नही दिला सकी। एक 'हरे अधिवक्ता' को सम्मान मिला। एक न्यायाधीश महोदय 'हरे' कहलाने लगे। यह अमीरो के पक्ष का पर्यावरणवाद था। हे देशभक्त जी अब यह बताइए कि अदालत के आदेश मजदूर को तो भूखा मार गया और मालिक को अरबपति बना गया ओर आप चाहते है कि यह भूखा मजदूर रोए भी नही। गुहार भी न करे। आपकी देशभक्ति मे गरीब के ऑसुओ की पूछ नही है भाई जी! जिस देशभक्ति में गरीब की गिनती नहीं वह किसकी और कैसी देशभक्ति है यह किसी से नही छिपा। यह कैसी देशभक्ति है जो हर असहमत को देशद्रोही कहकर चलती है। क्या देश का ठेका आपने ही लिया है? लेकिन लोग अब इतने विमूढ नही है कि आपको देशभक्त मान ले और दूसरे को देशद्रोही। पिछले दिनो पुराने स्कूटरो और गाडियो को प्रदूषण रोकने सबधी एक अदालती आदेश पर राजधानी की सड़को से हटाया गया। ऐसे हजारो वाहन कबाड के भाव बिके। वे अब छोटे शहरो मे चलते हैं। उनकी जगह नए वाहन महँगे आए। कई देशी तथा विदेशी कंपनियों के स्कूटर और गाड़ियाँ महँगे दामो पर खूब बिकीं। देशी-विदेशी सेठ फिर मालामाल हुए। साधारण जन को खर्च बर्दाश्त करना पड़ा। विदेशी गाड़ियो का मार्केट मे उछाल आ गई। सब अदालत के फैसले की मेहरबानी, लेकिन प्रदूषण जहाँ का तहाँ रहा। तो ऐसा नही है कि अदालतें जो फैसला देती है वे हमेशा ही जनहित में साबित हो। अदालतें विषय विशेष और उसमें जनहित की सोच सकती हैं, लेकिन जरूरी नहीं कि जो विषय किसी शाश्वत सत्य की तरह पहले से तयशुदा नही है और चारो तरफ से खुले है उन पर अदालतों का विचार

अंतिम विचार हो। दरअसल अंतिम विचार कुछ भी नहीं होता। अदालतें यह जानती होती है तभी वे अपील की व्यवस्थाएँ देती है। जनतंत्र मे विचार-विमर्श को तो अदालत के फैसलों के बावजूद नही रोका जा सकता। कहने की जरूरत नही कि राज्यसत्ता की तरह न्यायपालिका का चरित्र भी कई बार जनहितकारी नही कर पाता। दिल्ली के पर्यावरण की रक्षा के बारे मे उसके फैसले जिस रूप मे लागू हुए उनसे साफ जाहिर है कि ये फैसले पैसे वालो के लिए वरदान बने मिलमालिको और बडी कार कंपनियों या उन्हें खरीद सकने वालो के लिए वरदान बने। कारखाने बंद हुए तो मजदूर बरबाद हुए। गाड़ियाँ गई तो पुराने वाहन, मेकेनिक, स्पेयर पार्ट्स वाले उद्योग बरबाद हुए। ये बरबाद लोग क्या बरबादी के बाद भी मुँह पर ताला लगा ले सिर्फ इसलिए कि कोई देशभक्त जी वैसा चाहते है? विकास के मसलों पर और सरदार सरोवर की यथार्थता पर बहस तो चलनी ही है और एक न्यायाधीश के भिन्न फैसले ने इस विचार को ताकत दी है। नर्मदा बचाओ आंदोलन ने बाँध से जुड़े विनाश और विस्थापन की चिंता ज्यादा की है और वैकल्पिक व्यवस्था की बात वही से उठी है। अदालत ने भी विस्थापितो की बात पर चिंता की है, लेकिन देशभक्त देश का अर्थ सिर्फ गुजरात और भाजपा से लेते है।

इस देश मे रहने वाला हर आदमी अन्यथा सिद्ध हुए बिना देशभक्त है और उसे किसी को नही दिखाना। यदि शंका हो तो गृहमंत्री जाँच करा लें। लेकिन लांछन न लगाएँ। सच है कि मेधा पाटकर या अरुंधती राय कोई देवतुल्य नही। उनके विचारो मे और जीवन मे अंतर्विरोध है और उनकी भी उचित राजनीतिक इच्छाएँ हो सकती है। इसमें कुछ भी गलत नही। लेकिन उनकी निष्ठा पर बिना प्रमाण के शक करना अपने प्रति निष्ठा को संदिग्ध बनाना है। क्षमता हो तो कथित देशभक्त लोग-विकास के सवालों पर बहस करे। वे अदालत के बाद भी रहते हैं।

• **राष्ट्रीय सहारा, 16 नवंबर, 2000**

भक्ति का ग्लोबल बाबा बाज़ार

इन दिनो बाबा बाजार बुलंदी पर है। बाजार उतार पर है तो बाबा मौजूद हैं। बाजार चढाव पर था तो बाबा थे। बाजार के मंदड़ियो के दफ्तरों में बाबा हैं, सेठों की कारो मे बाबा है, स्टीकरों मे कुछ कह रहे हैं। कार दौड रही है, बाबा का उपदेश दौड रहा है। कोई पॉच सितारा बाबा है तो कोई तीन सितारा। कोई अग्रेजी मार्का है तो कोई देसी। कोई लटके-झटके वाला है तो कोई त्रिपुंडधारी, सजीला-लहराते केशोवाला सुदर भव्य कैलेंडरी कृष्ण कन्हैया जैसा। इन दिनो करीब एक दर्जन तो ऊँचे बाबा होगे और मॅझोले, छोटे उभरते हुए सैकडो बाबा होंगे। मथुरा, वृंदावन मे गली-गली ऐसे प्रवचनकर्ता मिल जाएँगे जो भागवत की एक से एक व्याख्या करते है कि सूत जी शौनक जी भी पानी भरे। हरिद्वार-ऋषिकेश के आश्रमो में अनेक कथावाचक तैयार होते हैं। गरीब, अनाथ बालक आश्रमो में रहकर कथा सुनकर अगले वाचक बनते है। यह एक प्रकार का उद्यम है। धर्म का वणिज है। कथा भागवत ऐसे लाखों की रोजी-रोटी का जरिया है। बाबा को देख आदमी को लगता है कि कहीं कोई तो है जो इस बुरी दुनिया मे भी अच्छी बाते कहता है और अपनी त्रिभुवनमोहिनी मुस्कान से पीडा हर लेता है। एक प्रकार की थेरेपी करता है। अब भक्ति अपने उपचारात्मक रूप में सामने आ गई है। वह अफीम नही, ब्रांड है जिसे लेकर आप उसी तरह कुछ देर के लिए तुष्ट हो सकते हैं जिस तरह कोका-कोला, पेप्सी पीकर या मैक्डॉनाल्ड खाकर तृप्ति का अनुभव करते हैं। वह एक ब्राड है जिसका बाजार अनत है। यह नितात देशी स्वदेशी ब्राड है जो समस्याओं से बचने के उपाय बताता है। सेठ व्यापारी सुबह से रात तक धनकर्म करके पैसे बनाते है फिर उन्हे पाप-बोध होता है। तो कुछ धर्म-कर्म की बात सोचने लगते है। उन्हे बदलावकारी भूमडलीकरण का लाभ चाहिए, लेकिन अकेलापन नही चाहिए। अराजकता नही चाहिए। इससे निपटने के लिए भगवतशरण जाते हैं। उसके लिए उन्हें गुरु चाहिए। बाबा उन्हें गुरु के रूप में रेडीमेड मिलते है। विराट बाबा बाजार मे से आप अपनी जरूरत के अनुसार चुन लें। सबकी फीस है यानी दक्षिणा है। आप अपनी हैसियत देख लें।

इस तरह जितने लोग हैं उतने बाबा हैं। जितने बाबा हैं उतने मंच है और कट्टर चेले-चेलियाँ हैं। जितने मच हैं उतने कथा प्रवचन हैं। सारे बाबा हृष्टपुष्ट दिखते हे। इतना बढिया खाते हैं कि हमेशा जवान से दिखते है। कुछ तो बाल तक रगते हे। माया और मोह-मत्सर के खतरो के बारे मे बताते-बताते वे खुद माया-मोह की मर्सिडीजो मे चलने लगे है। जब ये बाबा चलते है तो सौ-सौ बडी कारो का काफिला चलता है। जहाँ ठहरते है, वह शहर का धन्ना सेठ हुआ करता है। ये साल-साल भर के लिए बुक होते है। इनकी बुकिंग एडवास चलती रहती हैं। एक करोड़ से नीचे ये बाबा कही नहीं मानते। मामला कैश का होता है। यह पैसा उनके ट्रस्टो मे जाता है। बाबा पैसे को हाथ फिर भी नहीं लगाते। खाने-पीने का खर्चा भक्तजन उठाते ही रहते हैं। इनके भक्त गरीब नही होते अच्छे नगर सेठ ही हो सकते हे जो बाबा और उनके फौज फट्टे का ख्याल कर सके। पुराने जमाने मे हो सकता हे गलती से भगवान् स्वय गरीब के यहाँ आते होगे लेकिन बाबाओ के चमक-दमक ससार मे किसी गरीब का प्रवेश नहीं। नए मध्यवर्ग की अमीर इच्छाओ के धार्मिक विस्तार हैं ये। मध्यवर्ग ने अपनी आत्मा को बेच दिया है तो ये उस आत्मा को धो-पोछकर वापस लाने का काम करते है। आत्मा ग्लोबल मार्केट मे शामिल होकर पाप करती जाती है तो बाबा लोग उसे पाप भाव से मुक्ति का रास्ता बताते हैं कि बस भगवान् की शरण मे आ जा। सारे पापों को उसे समर्पित कर दे, तेरी आत्मा चैन में आ जाएगी। यही है 'आर्ट ऑफ लिविंग'। यह आर्ट हर बाबा के पास अपनी-अपनी है। कोई चढ़ावे के बदले देता है तो कोई पहले ही डॉलर मे पाउड मे फीस की तरह लेता है। भूमडलीकरण की मलाई मारते-मारते भारतीय मध्यवर्ग का आदमी जब पाता है कि डॉलर ने उसका दिल-दिमाग सब परेशान कर दिया है। इसके पास सब कुछ है तो कोई समझाता है कि बस तेरे पास चैन नही है तू चेन ले ले। वह उस बाबा के पास है। बस वह एक घटे-दो घंटे का चैन का पैकेट खरीद लेता है।

इस विराट बाबा बाजार में बाबा लोग भी माया मे आकठ लिप्त हैं। वे करोडो मे खेलते हैं। उन्हे कुछ आडिट नहीं कराना पड़ता। कई बाबाओं के पास बहुत संपत्ति है। उनके बीच बीभत्स किस्म की स्पर्धाएँ है। राजनीति है। उठा-पटक है। उनकी खबरे जनता तक नहीं आती। बाबा एक दूसरे के बारे मे खबर रखते हैं और खबर प्लाट कराते रहते हैं। किसी को ज्यादा बुकिग न मिल जाए इसका ख्याल रखते है। किसी की कथा मे कितना चढावा आया, इसका तो खास ख्याल रखते है। दस हजार से बीच हजार इनके भक्त या अनुयायी इनके भंडारो पर भोजन करते, रहते, सोते हैं। वे दूसरे को उखाडने के लिए अपने बदों को दूसरे के पडाल मे भी भेज देते है। वहाँ भी डिफैक्शन होते है। यह एक चमक-दमक भरा सजाल-संसार हे। असली घी और सब प्रकार के व्यंजनो से भरपूर। यहाँ जो सफल हो गया उसे किसी

बात की चिता करने की जरूरत नही। उसके सारे काम होते जाएँगे। राजनेता, सेठ मिलकर सब काम आसान कर देगे। क्योंकि वे उसकी आत्मा को आवागमन के कष्ट से छुटकारा दिलाएँगे।

कथाएँ-प्रवचन चलते ही रहते है। चातुर्मास को छोडकर सब दिन उनकी बहार रहती ही है। अखबारो मे सर्वत्र धर्म सभाओ की रिपोर्टिंग चलती रहती है। केबलो पर आते रहते है। जहाँ प्रवचन या कथा होती है वह प्राय: एक विशाल मैदान होता है। सप्ताह-दस दिन के लिए वह फर्स्ट क्लास टैंटनगर बन जाता है। उनमे गर्मियो में कूलर और जाडो मे हीटर की व्यवस्था होती है ताकि भक्तजनो को परेशानी न हो। माइक आदि के पक्के और अच्छे इतजाम होते है। मच की सज्जा मे ग्लैमर बढ़ा है। वीडियो, कैमरे हर वक्त होते हैं जो हर प्रवचन को बाद में सुसपादित करके एक से तीन घटे का कैसेट बनाकर स्थानीय केबल वाले को देते है कि इसे सुबह सात बजे चलाना है। वह खुशी-खुशी चलाता है। अब तो उन कैसेटों में विज्ञापन भी रहने लगे हैं। कई बाबाओ के कैसेट एक के बाद एक चलाए जाते हैं और किसका जल्दी लगा, किसका बाद में लगा इस बात पर बाबा के एजेट केबल वाले से बिगड भी जाते है। जहाँ टेट लगा होता है, उसके बाहर चारो तरफ दुकाने भी होती हे जिन्हे बाबा के लोग ही लगाया करते है। इन दुकानो मे बाबाओं का साहित्य मिला करता है। चित्र मिला करते हैं। कैसेट मिला करते है। मालाएँ, दवाइयाँ आदि मिला करती है। हर चीज का फिक्सड् रेट है। नो बारगेन। स्थानीय प्रशासन इनकी सुविधाओ का खास ख्याल रखता है।

मंच के इर्द-गिर्द गायको की एक टोली होती है, जो कथा कहते-कहते हॉफ-थक गए बाबा के इशारे को समझकर पद या गाने को उठाकर गाने लगती है। सिंथेसाइजर, हारमोनियम, तबले, ढोलक, नाल, सितार, सतूर बजते रहते है। इन दिनो हर बाबा को गाना पडता है। बिना गाए भक्त झूमता नहीं, नाचता नही। फिल्मो ने बाबा बाजार मे गाना कपल्सरी कर दिया। बाबा लोग कथा कहे कि गाएँ? बडी आफत है। सो बाबा एक लाइन गाकर छोड देते है। शेष पंद्रह मिनट वे मंडली वाले संभालते है। इन मे सुमुखी सुंदरी युवा गायिकाएँ भी होती है। उनके कंठ मीठे होते है। भगवतकृपा ठहरी! एक घंटे के प्रवचन मे तीन-चार गाने फिल्मी शैली के होते हैं। कुछ पहले तक बाबा लोग भक्तों के लिखे भजन आदि गाया करते थे। अब वे अपने बना लेते है। तुलसी का मानस उसकी एकाध चौपाई पर एक घटा जो निकाल दे, वह बाबा महान् है! भक्त मुग्ध रहते हैं कि देखो तो हमारे बाबा ने एक लाइन की एक घटे तक व्याख्या की है! कितने बड़े ज्ञानी है! अहो भाग्य।

एक बाबा है जो अपने प्रवचन के छोटे-छोटे क्लाइमैक्स पैदा करते रहते है। इन क्लाइमैक्सों के अंत में किसी मार्मिक बात को सिद्ध करने की शैली में 'जय राम जी' की बोलते हैं। और भक्तजन तुरत ताली पीटते है। दूसरे है जो श्रीकृष्ण

बोलते हैं और भक्तजन ताली पीटते हैं। जब उनकी मंडली भजन गाती है तो भक्त भक्तिनें नाचने-गाने लगती हैं। लिंग-भेद की व्यवस्था का खास ध्यान रखा जाता है। औरतें एक ओर बैठायी जाती हैं, आदमी दूसरी ओर। ये सब किसी मुक्ति की, किसी शांति की खोज में आई या लाई गई होती हैं। वे घरों में सताई गई होती होंगी या सताती होंगी, जैसा जिसका भाग्य। कोई सास पुत्रवधू की ताकत से परेशान होकर शरण में आई है तो कोई बाप अपने पुत्र के कलह के कारण या कोई किसी बीमारी के कारण आया है। कोई मुदकमे के कारण, तो कोई सट्टा बाजार में बैठ जाने के कारण। जितनी विपत उतनी ही अटेंडैंस बढ़ती है। वे एक-दो-चार घंटे के लिए आते हैं। एक-दो दिन के लिए आते हैं, उन्हें कुछ मिलता है शांति या सकून और फिर सभा विसर्जित होने लगती है। अगले साल फिर कहीं ऐसा होगा। वे फिर मिलेंगे। फिर कुछ मिलेगा। उन्हें 'भरोसे का भरोसा' मिलता है। किसी का मुकदमा निपटेगा, किसी का बिजनेस लाइन पर आ जाएगा और किसी का नहीं आएगा। फिर कुछ पुराने नहीं आएंगे और नए निराश शिष्य बनेंगे। बाबा लोग फिर केवल के रास्ते से सबको पकड़ लेंगे। भक्तों का तो तन-मन-धन तब बाबा लोग लेते हैं। यही अहं का विसर्जन है। समर्पण भाव है। कोई भक्त तो अपनी संपत्ति तक दे देते हैं और खुद आश्रम में रहते हैं। गजब है।

इन दिनों तमाम चैनलों पर सुबह-सुबह किसिम-किसिम के प्रवचन करने वाले बाबाओं की भीड़ है। आसाराम बापू, मुरारी बापू, सुधांशु जी महाराज, कौशल महाराज, किरीट जी महाराज हिंदी वाले हैं तो रविशंकर जैसे अंग्रेजी हिंदी वाले हाई एलीट को संबोधित बाबा भी हैं। दक्षिणी भाषाओं के भी अपने-अपने बाबा हैं। माताएँ हैं। वे दक्षिण चैनलों पर अपनी दुकानें लगाए हैं। माँ या माताएँ इस पापुलर भक्ति का नया मोड़ है। एक निर्मला जी हैं जो कुंडलिनी जगाती हैं। मलयालम की अम्मा हैं जिनकी फोलोइंग वर्ल्ड वाइड है। आनंद मूर्ति माता हैं जो शायद सबसे खूबसूरत चेहरा हैं और ध्यान धारणा पर चर्चा करती हैं और प्रवचन के दौरान अपने विदेश प्रवास की किसी न किसी घटना का जिक्र करना नहीं भूलतीं और इस तरह वे अक्सर अपना प्लॉइंट सिद्ध किया करती हैं। वे गाती अच्छा हैं। फिर इनसे भी युवा चेहरे हैं। एक बार एक चैनल पर तीन बहनों जैसे चेहरे दिखे जो एक साथ प्रवचनरत थे। एक से एक सुंदर युवतियाँ थीं वे। सादा लिबास में वे अधिक आकर्षक लगती थीं। यह भक्ति का नया लपेटा है। एक पंद्रह साल की लड़की ने भागवत कंठस्थ किया हुआ था। वह कहीं हरिद्वार के पास से आई थी और भूलने पर भजन गाने लगती थी। प्रवचन में इस देह को पाप की खान बता कर इस उम्र में ही वैराग्य की ओर चलाने का उद्यम करती थी। एक बार जब हरिद्वार में गायत्री यज्ञ हुआ तो लाखों भक्तों को एक स्वामी ने प्रवचन दिया तो खाली वक्त में एक भक्तिन का चार साल का बेटा गीता रट आया और किसी तरह संस्कृत के श्लोक

बोलकर वैराग्य के उपदेश देने लगा। वह श्लोक भूलता तो पीछे खड़ी माँ उसे प्रॉम्प्ट करती जाती।

चौबीस घंटे भक्ति का इतजाम है। दो-दो भक्ति चैनल है। आस्था और सस्कार। यहाॅ आप अपने मनपसद बाबा-माता के उपदेशो के अलावा धार्मिक कर्मकाड होते देख-समझ सकते है। यहाँ भजन चलते रहते है। अब तो बहुराष्ट्रीय उपभोक्ता निगमो के ब्राड यहाॅ भक्ति के स्पासर बनकर आने लगे हैं। भक्ति मे इन दिनो बहुत पैसा है। जब से सयुक्त राष्ट्र संघ के ऊपर अमेरिका हावी हुआ और अपने हस्तक्षेप मे उसको व्यर्थ कर दिया तब से लगता है कि सयुक्त राष्ट्र को भी धर्म की हवा लग गई है। पिछले दिनों उसने भी धर्म की राह पकडी और एक-एक विश्व धर्म-सम्मेलन-सा कराया जिसमें दुनिया भर के धार्मिक पथो के लोग आए। भारत यहाॅ सबसे ज्यादा उपस्थित था। भारत दुनिया को एक ही चीज दे सकता है। धर्म का एक से एक सुदर पैकेट। यह शुद्ध स्वदेसी आइटम है। इस धर्म-कर्म से अपने यहाॅ आजतक कभी किसी को शाति मिली हो न मिली हो, हम विश्व को शाति गारंटी से दे सकते हैं। घर का जोगी जोगना आन गॉव का सिद्ध। यही हमारा ग्लोबल ब्रांड है।

यह भक्ति का विशाल विश्व बाजार है। सारे बाबा ग्लोबल है। साल मे छह महीने बाहर रहते हैं। उनके शिष्य दुनिया भर मे है। पिछले दस-पद्रह साल से यह बाजार अनाप-शनाप बढा है। यह पॉच हजार साल पुराना क्लासीकल माल है। टीवी, केबल, भाजपा, संघ, विश्व हिंदू परिषद और वीडियो-ऑडियो कैसेट उद्योग के स्वर्गीय बादशाह गुलशन कुमार आदि की मिली-जुली भक्ति इंडस्ट्री है जो इन दिनो अरबो-खरबो की है। इस पर कोई टैक्स नही लगता है। यह अगले जन्म का निवेश है। जन्म-जन्मातर के खेल है कोई आजकल की बात नही। इसे कोई हाथ नहीं लगा सकता। आप ऐन सडक पर एक पीपल का बिरवा रोप दे। एक पत्थर रख दे और उस पर माला चढा दें। सड़क के ऐन बीच शंखनाद कर दें। मजाल कि कोई सरकार आपको हाथ लगा जाए। सडक रुके तो रुके धर्म नहीं रुकेगा। विश्व बैंक से हम अपनी पत्थर पूजा से लड़ सकते है। उसकी सडक को हम ऐन बीच मे कही भी रोक सकते है। कोई अध्ययन नही हुआ लेकिन अगर दिल्ली के किसी भी मुहल्ले की आबादी का, उसके भवन निर्माण का, स्पेस के विकास का अध्ययन किया जाए तो यह ज्ञात होगा कि हर सार्वजनिक जगह पर मंदिर बने हैं। जहाँ मस्जिदे बन सकती है, मस्जिदे बनी हैं। गुरुद्वारे बने हैं। सड़क और योजना विकास जाए भाड़ में। हमें तो अपना भगवान् चाहिए। सार्वजनिक जगह पर स्कूल नहीं बने, पार्क नही बनें, लाइब्रेरी नही बनी। हाँ, मंदिर जरूर बने है। मंदिर इतने है कि उनमें स्पर्धा दिखती है। यह भगवान् का कलजुगीकरण है। बेचारे भगवान् भी अपने कलजुगी भक्तों के हाथो असहाय दिखते हैं। वे अब दिल में नही रहते किसी भरी और गदी सडक के नुक्कड पर गली मे किसी खड़जे पर कहीं भी जरा सी जगह में भी रहते है। उनसे बड़ा घर

उनके भक्तों का होना है। लोगों ने भगवान् को दिल से निकाल कर गली की दीवालों में लगा दिया है।

यह भक्ति का विश्व बाजार है। यह पुरानी कबीर, तुलसी, सूर की भक्ति से अलग और विपरीत है। यह आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज तक की भक्ति संस्कृति से भी अलग है। यह आनंदमयी माँ अरविन्दो आश्रम वाली भक्ति परंपरा से भी अलग है। भक्तिकाल में 'भक्ति द्रविड उपजी' बताई गई जिसे रामानन्द उत्तर में लाए थे, जिसे कबीर ने परगट किया था 'सप्त दीप नव खंड'। भक्ति का यह ग्लैमर छाप, तकनीक मित्र राउंड गुजरात से शुरू हुआ है और अपने चरित्र वाले चेहरे में गुज्जू भाइयों का योगदान है। कथावाचक बाबाओं में से ज्यादातर हिट बाबा इन दिनों गुजरात के हैं। वे मथुरा, वृंदावन, हरिद्वार, काशी या उज्जैन से नहीं आते। वे पुरी से भी नहीं आते। वे परंपरागत हिंदू तीर्थों से नहीं आते। वे सन् साठ-सत्तर के महर्षि महेश योगी की तरह भी नहीं दिखते जो योग से उछलने की कला सिखाते हैं और सहस्र चक्र के बारे में बताते हैं लेकिन उनकी शिष्य परम्परा विदेशों में ज्यादा है। नए बाबा हरे कृष्ण चलाने वाले प्रभुपाद की तरह भी नहीं होते। वे गुजरात में इफरात में बनते हैं। वे भक्ति के परफॉरमर होते हैं। कारण है गुजराती पटेल दुनिया में फैले हैं। वे वैष्णव होते हैं। सनातनी होते हैं। एन.आर.आई. होकर उन्हें ईसाइयत का सामना रोज करना होता है। इसलिए वे अपनी भक्ति जगाकर अपना धर्म जगाते हैं। उन्हें लगता है कि उन्हें ईसाइयत खा जाएगी सो वे अपने प्रवाचक खड़े करते हैं। जबसे भारतीय जीवन में एन.आर.आई. फैक्टर बढ़ा है तब से बाबाओं का ठाठ बढ़ा है। जैसे भक्त हैं तैसे बाबा हैं। भक्त बाबा का निर्माण करते हैं। बाबा भक्तों का। भक्त समझते हैं कि बाबा ने हिंदू धर्म की रक्षा कर ली है।

इन तमाम बाबाओं के शैली भेद हैं। कथारस भेद है लेकिन एजेंडा एक जैसा है। यह है हिंदू समाज में किसी भी समाज सुधार के एजेंडे के बिना उसे एक विश्व विजय का अनर्जित अहंकार दिया जाए। यहाँ आकर सब बाबा और माताएँ एक हो जाती हैं। यहाँ हम उनके प्रवचनों में और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नारों में कोई फर्क नहीं देख सकते। कोई आश्चर्य नहीं कि आडवाणी और भाजपा के कई अन्य नेता इनमें से कई बाबाओं के पडालों में जाकर कीर्तन करते रहे हैं। यह बात आडवाणी की पहली रथयात्रा की है जब वे शायद आसाराम बापू के एक प्रवचन भंडारे में कुछ देर कथा सुनने गए थे जिन्हें देख बाबा बोले 'जय राम जी की तो कहना पड़ेगा!' उमा भारती कथा प्रवाचिका रही ही हैं और कौशल महाराज संघ के पूर्व उच्च स्तरीय कार्यकर्ता रहे हैं और इन दिनों मानस प्रवचनों का अभ्यास करते हैं। संघ की साध्वी ऋतंभरा नई एंट्री हैं जो केबल पर इन दिनों ज्यादा दिखती हैं। इन्हें सुनकर लगता है कि सनातन धर्म के अलावा हिंदू समाज में कोई दूसरी धारा है ही नहीं। न आर्य समाज है न कोई ब्रह्मसमाज है और यह भी नहीं मालूम पड़ता

कि इस देश में कभी स्वामी दयानन्द ने पाखंड खंडिनी पताका भी फहरायी थी जिसकी मार से डर कर सनातनिए लोग पोंगापंथी कर्मकांडों के लिए शर्मिंदा होते थे। किसी भी प्रकार के सामाजिक सुधारात्मक एजेंडे के बिना यह विराट अरबों, खरबों की संपत्ति से संचालित भक्ति का बाजार है जिसमें हर शहर के प्रॉपर्टी डीलर, टैंट वाले, कैटरर, आटेवाले और छोटे किरानिए, परचूनिए शामिल पाए जाते हैं। यदि वैष्णो देवी का जगराता दिल्ली के स्कूटरवालों, टैक्सीवालों, छोटे प्रॉपर्टी डीलरों का प्रिय कार्य है तो ठहरे हुए किरानियों और परचूनियों को, बड़े प्रॉपर्टी डीलरों, व्यापारियों को बाबाओं के प्रवचन ज्यादा भाते हैं। प्रॉपर्टी डीलरों की भूमिका इनमें प्रमुख पाई जाती है। वे पार्क घेरे रहते हैं फिर क्रमिक भाव से वहाँ एक मंदिर उठ जाता है और धर्म की इस तरह रक्षा हो जाती है।

• **राष्ट्रीय सहारा, 13 मई, 2002**

साइबर-स्पेस और स्वदेश

वित्तमंत्री ने अपने बजट वक्तव्य में मनोरजन उद्योग और सूचना प्रौद्योगिकी से सबधित दो बाते कही हैं जिन पर लोगों का ध्यान शायद इसलिए नहीं गया कि ये मामूली उल्लेख भर है। वित्तमत्री ने इनके जरिए जो दो फिल्मी जुमले जोड़े वे प्राय: सूखी राजनीति करने वाले राजनेताओं और अग्रेजी विद्वानों के लिए रस की फुहार छोड़ने वाले प्रसग भर बन कर रह गए। लेकिन मामला कुछ गहरा है।

यहाँ दो कारणो से इन उल्लेखों का फिर से स्मरण जरूरी है क्योंकि दोनो ही पॉप-सस्कृति तथा सूचना तकनीक के बारे मे एक धनात्मक राय के उदाहरण है जबकि भारतीय जनता पार्टी, उसकी पितृसस्था सघ और उस परिवार के अन्य सदस्य अपने रोजमर्रा की चर्चाओ में पॉप कल्चर और सूचना तकनीक से जुड़े भूमडलीकरण, कंप्यूटरीकरण इत्यादि को न केवल संदेह से देखते हैं बल्कि इन सबको 'भारतीय सस्कृत' के खिलाफ 'अपसस्कृति' की साजिश इत्यादि मानते है इसलिए इस गाँठ को बनते-टूटते देखना दिलचस्प होगा कि एक ओर मत्री जी इस ग्लोबल 'अपसस्कृति' से पैसा कमाने वालो को छूट-राहत देने की व्यवस्था करते है तो दूसरी ओर उनका पितृपरिवार इस 'अपसंस्कृति प्रोत्साहन' को हर साँस मे कंडम करता रहता है। यह मामूली प्रसग भाजपा, सघ परिवार के हिंदुत्व और दूसरी ओर भूमडलीकरण की शक्तियों के बीच नए संवाद का अवसर की तरह भी पढा जा सकता है। कहा जा सकता है कि सघ परिवार का स्वदेश इस देश के गरीबो का 'स्वदेश' नहीं है बल्कि मनोरजन उद्योग मे लगी दो नबरी पूँजी का स्वदेश है जिसकी जान डॉलर मे कैद है और बजट जिसे खुलेआम वैधता देना चाहता है।

बजट के उक्त प्रावधानों पर टिप्पणी करते हुए एक अंग्रेजी अखबार ने उचित ही लिखा है कि ये व्यवस्थाएँ भारत को भूमंडलीय मीडिया महाशक्ति बनाने के लिए है। कमाई पर दिए जाते प्रोत्साहनो से फिल्म उद्योग और प्रसारण उद्योग भारत को 'सूचना सुपर हाई वे' का 'बादशाह' बन सकते हैं इत्यादि। इन अनुमानों को पढ़कर किसी को हँसी नहीं आनी चाहिए। चालू देशभक्ति के सस्करण में बिना गड्ढे देखे दौड़ने का गौरव एक स्थायी तत्त्व बन चला है।

बहरहाल, बजट के अनुसार इन बातों को पढ़े तो मालूम होगा कि बजट में प्रसारण उद्योग अब सूचना तकनीक, साफ्टवेयर उद्योग जैसी हैसियत रखेगा। इस उद्योग को अब निर्यात क्षेत्र बनाने के लिए उत्साहित किया जाएगा, कर लाभ दिए जाएँगे। इसके चलते कंपेक्ट डिस्क पर राजस्व कम कर दिया गया है जिसके मानी है कि उन्हें निर्यात करने में जो कमाई होगी इस पर कम कर देना होगा। यानी निर्यात अधिक आकर्षक होगा और घर का बाजार अंतर्राष्ट्रीय दरों वाला होगा। घरेलू कंप्यूटर उद्योग तो इस बजट की मार से परेशान दिख ही रहा है।

बजट का मीडिया प्रसंग देखें तो स्पष्ट होगा कि बजट मीडिया-उद्योग को अगली सदी का बड़ा और नया लाभकारी उद्योग बनाना चाहता है। 'स्वदेशी' सरकार की समझ में आ गया है कि इस क्षेत्र में निर्यात की जबर्दस्त गुंजाइश है। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय महसूस करता है कि प्रसारण तकनीक और कार्यक्रमों का निर्यात बढ़ेगा तो इस क्षेत्र में रोजगार बढ़ेगा और कंप्यूटर एवं साइबर स्पेस यानी इंटरनेट इत्यादि के साथ प्रसारण का सहशक्तिकरण उसे दुनिया के दादाओं द्वारा नियंत्रित 'सूचना सुपर हाई वे' पर मुकाबले के साथ खड़ा करेगा। भारत सिर्फ इन चीजों का 'प्राप्तकर्ता' ही नहीं रहेगा बल्कि 'सेवा प्रदाता' बन जाएगा। सीधे शब्दों में कहें तो आने वाले दिनों में इस नीति के तहत भारत को हांगकांग और सिंगापुर की तरह की प्रसारण मंडी बन जाना चाहिए। यानी दुनिया के सबसे बड़े प्रसारकों को भारत में दफ्तर खोलने देने चाहिए।

बजट का एक और प्रावधान ध्यान खींचता है। यह है फिल्म उद्योग से संबंधित व्यवस्था कि अब से आगे फिल्म को एक 'निर्मित वस्तु' माना जाएगा और इनके निर्यातकर्ता जो कमाएँगे उस पर कर-लाभ दिया जाएगा। इसमें फिल्मों के अलावा संगीत और टीवी कार्यक्रम भी शामिल हैं। वित्तमंत्री ने ऐसा करके माना है कि यह उद्योग काफी कमाई वाला बना है। बजट मानता है कि जो कमाल हमारे कंप्यूटर साफ्टवेयर उद्योग ने किया है वही हमारा मनोरंजन उद्योग कर सकता है। यही नहीं, बजट ऐसी व्यवस्था भी करता है कि विदेशी सूचना एवं मनोरंजन कंपनियाँ यहाँ आकर यहाँ के सस्ते श्रम और उपलब्ध श्रेष्ठ तकनीक के जरिए कार्यक्रम बनाएँ और बाहर बेचें। इस तरह बॉलीवुड में हॉलीवुड घुस जाना है।

बजट ने इस बार सदी के खात्मे के साथ पैदा होने वाली उस समस्या पर भी ध्यान दिया है जो 'वाई 2 के' के नाम से कुख्यात हो चली है। देर से ही सही, वित्तमंत्री चेते हैं कि इस समस्या से निपटने के लिए जो संस्थान कार्ययोजना बनाएँगे उन्हें सरकार मदद देगी। सरकार ने कह दिया है कि आइंदा के लिए कंपनियों को 'वाई 2 के' से बचना होगा। प्रसंगवश पाठक जान लें कि यह 'वाई 2 के' कंप्यूटर साफ्टवेयर की ऐसी बीमारी है जो उपलब्ध कंप्यूटरों को उस क्षण लगेगी जिस क्षण अगली सहस्राब्दी का पहला सेकंड शुरू होगा। जब कंप्यूटर बनाने वालों ने सिर्फ

एसा हा आतम दा टिजिट स्मृति उसम डाला कि वह निन्यान्दे क अतिम क्षण तक की गणनाएँ कर सके। तब चिप्स में अगली क्राति नही हुई थी और छोटे चिप क चक्कर मे उन्नीस सौ निन्यानबे के आगे नही सोचा गया। अब स्थिति यह ह कि अगली सदी के पहले सेकड पर सारे कंप्यूटर सन् की जगह दो हजार न दिखाकर दो शून्य दिखाएँगे और उनकी गणनाएँ उलटी चलने लगेंगी। खासकर रक्षा, वित्त योजनाकर्म और बाजार के प्रक्षेपणो मे बड़े घपले हो सकते है। सूचना सुपर हाइ वे के ये अपने रोग हैं। बजट ने समस्या को माना है और कम्प्यूटर नवीकरण का खर्चा बजट के रास्ते जनता के मत्थे मढ दिया है।

हम कह सकते है कि बजट मीडिया-माकूल है और मनोरजन उद्योग को कमाउ वाला मानता है। बजट मे जिन दो फिल्मो के शीर्षको का अतर्पाठ मत्री जी ने पिरोया उन्होने विदेशो मे बहुत सारा डॉलर कमाया है। 'हम आपके है कौन' ने करोडो डॉलर कमाए। 'दिल से' ने कमाए और 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएँगे' 'परदेस', 'कुछ-कुछ होता है' ने कमाए है। यही हाल सगीत उद्योग का है। जहाँ-जहाँ अनिवासी भारतीय निवास करते है वे सब एक बडे मनोरजन बाजार के रूप मे उभरे है। उपग्रह प्रसारण के बाद यूरोप, अमेरिका और खाडी देशों के भीतर रहने वाले भारतीयो की पहली-दूसरी पीढी अब 'ग्लोबल उपभोक्ता' बन चली है और तेज सचार के वक्त में अब वह 'अपने अमेरिका' के साथ 'अपना एक भारत' भी चाहती है। यह भूमडल चचल, तेज संचार मे रहने वाली सरल पूँजी का नया जनक्षेत्र है जो उत्तर-शीत युद्धकाल मे बना है, जो पापुलर कल्चर मे प्रतिबिबित हो रहा है बल्कि उपभोग मे आ रहा है।

फिल्म उद्योग और सगीत एव टीवी उद्योग ने इस उत्तर-आधुनिक भूमडलीय खुले बाजार को पहचाना है। इसीलिए फिल्मो मे अब नए मध्यवर्ग के भूमडलीय मिजाज के चरित्र, अनिवासी भारतीय चरित्र और उनके अस्मितामूलक सांस्कृतिक सघर्ष आम होने लगे है जिन्हे वहाँ के अनिवासी अपना समझ लपक लेते है और डॉलर बरसने लगता है। यह भारत कुमार मनोज के 'उपकार' के जमाने से अलग मामला है और देवानद के 'देस परदेस' से भी अलग है। यह 'दिलवाले दुल्हनियाँ ले जाएँगे' वाला, 'परदेस' वाला तत्त्व है जिसमें एक ही वक्त मे डॉलर की गरमी और उसकी चोटों को सहलाने के लिए भारतीय भावुकता की नरमी दोनो एक साथ चाहिए। जनता को जालिम डॉलर चाहिए ताकि दारिद्र कटे और डॉलर वाले पति को परमेश्वर मान कर खटती रहे। भूमंडलीकृत अनिवासी और नए मध्यवर्ग की यह नितात भारतीय किस्म की उत्तरआधुनिक फॉस है। 'आ अब लौट चलें' एक भारतीय मनोदशा है जिसमें अमेरिका फतह करना है और सग मे अपना भारत बचाए भी रखना है। ये फिल्में उन्हें एक भारत देती है और डॉलर लेती है। वह डॉलर इस भारत को बदल रहा है यह बात भुला दी जाती है। यही सांस्कृतिक फॉस है जो

'स्वदेशीवादी प्रचार में भुला दी जाती है

अब बजट की छूट के बाद हिंदी फिल्मों की कहानी बदलने वाली है। फिल्म वाले ऐसी कहानी चुनेंगे जो एक ही साथ भारत और अनिवासी भारत दोनों को एक-सा बाजार बनाए। ऐसे ग्लोबल कथानक को हिंदी फिल्मे पिछले दिनो से कहने लगी हैं, अब उसे वे अधिक खुलकर, स्पर्धात्मक होकर कह सकती है क्योंकि 'स्वदेशी' सरकार ने उनके बाजार को वैधता दे दी है। पॉप म्यूजिक के मिक्स और रिमिक्सो ने भारतीय संगीत का ऐसा पाप संस्करण 'इंडीपॉप' विकसित कर लिया है जो ग्लोबल मॉग को पूरी करता है जिसमें नए मध्यवर्ग की उपभोक्तावादी इच्छाएँ और उसका नाच-गाना स्पर्धात्मक हो उठा है। 'ग्लोबल' के साथ भारत का पापुलर-विमर्श इन दिनों इसी तरह बन रहा है जिसे भाजपा के सत्ता में आने के बाद और बम के बाद नया उत्तेजक मिला है। बजट ने इसकी शिनाख्त की है यह उसके ग्लोबल स्वीकार को बताता है। लेकिन उतने ही अर्थो में यह 'स्वदेशी' के कथित विचार को किनारे करता है और उसे आलोचनात्मक तरीके से नही देखता। वह फिल्म उद्योग को एक डॉलरोन्मुख दिशा देता है। वह ऐसे दबाव को वैध बनाता है जो फिल्म उद्योग को डॉलर मे पक्का जोड दे और बॉलीवुड मे हॉलीवुड को बिठा दे। यह बात भाजपा के स्वदेशी-नाटक के खिलाफ जाती है। सारे स्वदेशी गान के बावजूद भाजपा अधिक डॉलर प्रिय नजर आती है। मनमोहन सीधे डॉलर की बात करते थे, उनके पास वैसा सिद्धात था। यशवत बिना किसी बडे सिद्धात 'ऑखो मे वैभव के सपनो' के लिए डॉलर की ओर देखते है। यह भूमंडलीकरण का जबर्दस्त स्वीकार है जो शायद स्वदेशी की विचारधारा से ज्यादा परिस्थितियों के बदलने का स्वीकार है। इससे 'स्वदेशी' और 'भारतीय संस्कृति' का क्या बनेगा यह स्पष्ट ही है। ग्लोबल मार मे स्थानीयतावादी जड विमर्श ऐसे ही टूटते है और टूटेगे। बजट ने बता दिया है कि कथित 'भारतीय संस्कृति' और 'स्वदेशी' और 'देशप्रेम' डॉलर से नैन मटक्का करने को तैयार है। इसके फलस्वरूप बदलने वाले वातावरण में अतत. 'स्वदेशी' नही बचना है। उसके आलोचकों के लिए यह सतोष की बात है। यह तो होना ही है। बजट के इस पॉप-तत्त्व का उन्हे स्वागत करना चाहिए।

भूमडलीकरण और तकनीक को स्वीकार करने वाली दूसरी व्यवस्था भारत को हांगकाग-सिंगापुर जैसी प्रसारण मडी बनाने की है जिस पर टिप्पणीकारो का ध्यान नहीं गया है। यह व्यवस्था मीडिया में अततः विदेशी बडी कपनियो को स्वामित्व देने की बात करेगी और हार्डवेयर-साफ्टवेयर दोनों मे अधिकाधिक विदेशी प्रभुत्व का स्वागत करने वाली है, अपलिंकिग और डी.टी एच. प्रसारण को बढ़ाने वाली है। इस व्यवस्था से देसी चैनल किनारे हो सकते हैं। यदि प्रमोद महाजन के कुछ आक्रामक वक्तव्यों को ध्यान में रखे तो ऐसा लगता है कि सरकार प्रसार भारती को 'संस्कार भारती' बना देगी और शेष प्रसारण विदेशी कपनियो के लिए छोड़ देगी। स्पर्धा से

बाहर रह कर प्रसार भारती बेकार हो जाएगा। डा.टा एच. और अपलिंकिंग के बाद तो प्रसारण तकनीक इतनी ज्यादा और इतनी तेजी से बदल जाती है कि जब तक प्रसार भारती डिजिटल पर जाएगा अन्य प्रसारक साइबर स्पेस के अन्य क्षेत्रों के मालिक बन बैठेंगे।

• **जनसत्ता 13 मार्च, 1999**

भूमंडलीयता और क्षणिक राष्ट्रवाद

सदी के इन आखिरी उपभोक्ता दिनो मे 'राष्ट्र' का एक नया 'भाव' बन रहा है जो अगली सदी मे परवान चढेगा। यह है नई अनामी ग्लोबल पीढी (अग्रेजी में जेनेरेशन एक्स) का क्षणिक उन्मादित और सिर्फ जीत की इच्छा को भोगने वाला 'भाव', जो एक भूभाग में होते हुए भी सीमाविहीन है और सूचना के उच्च राजमार्ग का नागरिक है। इस विश्व कप के बाद उसके लिए राष्ट्र एक 'देश' भर रह जाता है, जो नाचता-गाता हुआ स्पोर्ट्स ऑफ इंडिया की तरह का एल्बम है जो कुछ मचलते-बिखरते स्लोमोशना मे मिलता है जिसके रहने वाले एक कप को जीतना सबसे बडा सपना मानते है। यह अब तक बनते रहे राष्ट्र की विकासमूलक अवधारणा से बाहर शुद्ध मनोरजन के क्षेत्र मे बन रहा है, जिसके निर्माता राजनेता या दल या समाजांदोलन नही ह बल्कि 'घृण्य' बहुराष्ट्रीय उपभोक्ता ब्राडो के निर्माता है। नए पूँजीवाद मे राजनीति नहीं पॉपूलर सस्कृति ही मूल्यो का निर्माण करती है। क्रिकेट एक विराट पॉपूलर सस्कृति का क्षण बन गया है और अपने नए उपभोग से वह पद्रह सेकड के विज्ञापन वाला राष्ट्र बन रहा है। हम क्रिकेट नहीं एक राष्ट्र को स्पिन करते देखते है। कारगिल के इन दिनो में भी 'देशभक्ति' का कही कोई उन्माद यदि नही है तो इसीलिए कि अनामी पीढी के एजेडे की उपभोक्ता तमाशो ने खर्च करना शुरू कर दिया है। यह पॉपूलर सस्कृति द्वारा युयुत्स भाव को निकाल बाहर करना है। आधुनिक राष्ट्र की अवधारणा के अनुसार एक ही भूभाग मे रह रहे एक ही सांस्कृतिक रूपों और स्मृतियो मे जीने वाले, एक जैसी धार्मिक पहचान के चिह्नो को मानने वाले लोग राष्ट्र का निर्माण करते है। ग्लोबल मीडिया, बहुराष्ट्रीय निगम और क्रिकेट मिलकर अब क्षणिक राष्ट्र का निर्माण कर रहे है।

जाति, भूभाग और सस्कृति के प्रचलित रूपों, धर्म के रूपों के अलावा क्रिकेट के रूप मे एक पॉपूलर उपभोक्ता सस्कृति भी इस पद्रह सेकंड के राष्ट्र भाव के निर्माण मे सहायक हो रही है। क्रिकेट और उससे जुडा बहुराष्ट्रीय निगमो का विश्व बाजार भी राष्ट्र भाव पैदा कर रहा है। नए राष्ट्र भाव के निर्माण का मार्ग नौ सौ करोड रुपयों के बाजार निवेश से होकर गुजरता है। इसीलिए वह इतना ज्यादा बरसता

ह आर हमसे कष्ट उठाने की जगह ‘ये दिल मांगे मोर’ का नया राष्ट्रगीत गाने की माँग करता है। पचास साल बाद नए राष्ट्र के भाव को पेप्सी की ठंडे कैनों में से निकाल कर शाहरुख खान की तरह बहुरूपिया बनकर पिया जा सकता है। राष्ट्रवाद के गुरुगंभीर अर्थो को फासिज्म के जबडों से विश्व बाजार इसी तरह बाहर निकालता है। जनतान्त्रिकों को इस नई उपभोक्ता क्रिकेट का आभार मानना चाहिए जो नया हल्का-फुल्का राष्ट्र बना रही है।

कोई नौ सौ करोड रुपये का बाजार, जो क्रिकेट ने मंदी के दिनों मे जागृत किया है, स्पर्धात्मक बाजार है और मंदी के इन दिनो मे हम राष्ट्र को शांतिपूर्ण और मनोरंजक तरीके से माँग वाले बाजार में बदलता हुआ देख रहे हैं। उसकी पहचान के चिह्न तेजी से बदल रहे है। कभी वह एक कप मे बदल जाता है जिसे पाने के बाद हम एक विजेता राष्ट्र बन सकेंगे। कभी वह सचिन के लिए पानी बन जाता है। नही इसे खेल से ज्यादा देखा जाना चाहिए क्योंकि यह खेल से ज्यादा का अनुभव है। यह ठंडे पडे बाजार के किसी तरह फैल सकने और इस तरह उसमे नई पीढी के पूँजीनिवेश की संभावनाओं को बढाने वाला विचार भी लगता है। भारत को एक विजेता की तरह बेचने की इच्छा ग्लोबल पीढी की वास्तविक इच्छा है जो इन दिनो कप के लिए ‘दुनिया को हिला दो’ वाले राष्ट्रगान मे नाचती है।

इन गीतो मे नाचती ‘अनाम पीढी’ मे अभी जीत-हार की स्पर्धात्मकता वैसी ही है जैसी कि दलाल स्ट्रीट के सटोरियों मे या खेल के मैदानो मे पैसा देकर बुलाए गए ‘चीयर ग्रुपों’ की होती हैं। मध्यकालीन राष्ट्र-निर्माता युद्धो और उनके विस्तारों के रूप में चलने वाले समकालीन दगों से कुछ बेहतर तो यह स्थिति है ही जो बाजार ने बनाई है। पंद्रह सेकंड जितना जिंगल ‘कमॉन इंडिया दिखा दो’ में जो एमटीवी मार्का तेज मिक्स दिखती है वह कल तक गाए-बजाए जाते ‘हम होंगे कामयाब’ के आरोहात्मक विजुअल्स से इतना अलग इसलिए है क्योंकि इसे राष्ट्र का भाव जगाकर पेप्सी या जूता बेचना है जबकि वह राष्ट्र को आस्था देने के लिए कहता था। पंद्रह सेकंड की मनोरंजक युयुत्सा है जिसमे युद्धभाव नही, मजाक का भाव होता है। किसी राष्ट्रगीत की तरह का सैन्य अभियान वहाँ नही होता। राष्ट्र जैसा गरिमावान भाव इस तरह कुछ देर के लिए मनोरंजन के क्षेत्र में आकर अपनी तीक्ष्णता और ऊर्जा खो देता है। मनोरंजन के उच्च राजमार्ग पर ऐसे ही गंभीर अर्थो का इसी तरह अपसरण होता है। पॉपूलर संस्कृति इसी रास्ते अपने अर्थ का निर्माण करती है।

यदि हम क्रिकेट को अपने राष्ट्रीय रूपक मे धीरे-धीरे बनने वाली और अब अचानक चरमोत्कर्ष पर आई पॉपूलर संस्कृति को पढे तो हमे पॉपूलर संस्कृति के रचनात्मक और विखंडनकारी रूपों के परस्पर विरोधी चिह्न मिल सकते है जिससे हम पॉप संस्कृति के प्रति अपने संशयो को कुछ क्षीण होते देख सकते है। क्रिकेट को इस पॉप मे ढालने के लिए मीडिया तो अरसे से बड़ी भूमिका निभाता ही रहा है

लेकिन निन्यानवे के इन दिनो में जो नए तत्त्व आ जुडे हैं वे है—विश्व बाजार, बहुराष्ट्रीय निगम। यह बाजार का समर्थन मात्र नही है। यह बाजार द्वारा क्रिकेट को नई व्याख्या और व्यवस्था में ढालने का काम है जो क्रिकेट के राष्ट्रीय रूपक को भी बदल रहा है। खेल को 'फन' मे बदल कर राष्ट्रीय रूपक यानी क्रिकेट को राष्ट्र के पर्याय के रूप मे देखने की आदत को भी मनोरंजक घटना मे बदला जा रहा है। पॉपूलर संस्कृति की अपनी-अपनी द्वंद्वात्मकता यही है जिसमे पुराने के जाने और नए के बनने के तत्त्व सक्रिय होते है और प्रतिरोध के तत्त्व भी सक्रिय होते हैं। जो लोग क्रिकेट की अति देखकर परेशान हैं वे देखेंगे कि क्रिकेट एक वातावरण मात्र बन जाएगी।

भाव का यह विराट स्थानांतरण और स्पर्धा को सक्रिय करने वाली हल्की-फुल्की ईर्ष्या के भाव का निर्माण नए दिनो की नई क्रिकेट का निर्माण है। क्रिकेट को देखते हुए हम क्रिकेट से ज्यादा ऐसा कुछ पाते है जो क्रिकेट में अतिरिक्त बनाया गया है। क्रिकेट मे इस अतिरिक्त अर्थ—कि वह भारत के 'आ जाने' का प्रमाण है—का निर्माण खेल की अति या कला ने नहीं किया बल्कि ओवरों के बीच आने वाले एल्बमो और ब्राडों ने किया है। हर जिंगल पूरे प्रसारणो मे पॉच-पाँच बार कम से कम देखी जा सकती है। चिह्नो का ऐसा उपद्रव ही राष्ट्र को पद्रह सेकंड के भाव मे बदलना है। इस तरह क्रिकेट से राष्ट्र का रूपक निकल गया है।

इस तरह एक खेल पहले विराट अरबों का तमाशा बनाया गया और उस तमाशे में कुछ करके दिखाने का सदेश दिया गया। क्रिकेट एक बडी पॉप संस्कृति मे बदलने से पहले इतना अतिरिक्त अर्थ नही रखता था। अपनी आखिरी पारियों में सुनील गावस्कर दिनेश शूटिंग बेचा करते थे। कुछ माल रवि शास्त्री बेचते थे। इधर पूरी टीम पेप्सी बेचती है और सचिन तो बहुराष्ट्रीयो का सबसे बडा 'आइकॉन' है ही। मैदान में हो या बाहर, दर्शको की आँखो के सामने उसे सबसे ज्यादा होना है। मैदान मे बडे खिलाडी के हर तरफ ब्रांड चिपके हैं। मैदान में विल्स बिछी है और स्क्रीन के पास देवू। नजर को इनसे राहत नहीं है।

यह भी ऐतिहासिक संयोग है कि अपने देशो की अर्थव्यवस्था को ठिकाने लगाने के बाद कोरियाई और सिंगापुरी बहुराष्ट्रीय यथा एलजी, सैमसग, देवू एशियाई बाजार को और जनता को इतना स्पर्धात्मक और सिकुड़ा हुआ पाते हैं कि स्पर्धा के लिए नए सीमित ओवरों वाले हिंस्र संस्करण के बिना अब वे चल नहीं सकते। विज्ञापनों में ब्राडो का तूफानी हमला ही एशिया के इस बचे हुए बाजार को खोले रख सकता है। एशियाई टाइगरों के गिरने के बाद क्रिकेट को मानो बदलना ही था।

बहुराष्ट्रीयो ने पहले जाना है कि नई पीढी को भी एक कामचलाऊ और तुरत राष्ट्रभाव चाहिए। वह प्राय: हारते रहने वाले देश की 'जीत' मे निहित है। युद्ध में नहीं, खेल की जीत में छुपे आनंद का भाव ही बाजार को खोलने वाला भाव है। सचमुच का युद्ध तो बाजार बद करता है। कारगिल कांड से बाजार लुढ़क गए जबकि

कप शुरू होने के वक्त बाजार में चढल आई थी। बाजार फिर भी ठडा था। कारें नही बिक रही। टीवी नहीं बिक रहे, जूते नही बिक रहे। पेप्सी-कोक को नए इलाके चाहिए। ये सब बिकें तो माल कटे। माल जो नई पीढी के पास है, जिसे टीवी ने बनाया है। टीवी ने ही नई क्रिकेट बनाई। टीवी ने ही नया बाजार बनाया है। तो तीन-तीन तत्त्वों का 'सिंक' हो रहा है क्रिकेट में। इससे बडा अवसर क्या होगा?

बहुराष्ट्रीय सोचने में माहिर है। अमेरिका में बास्केट बाल और बेस बाल ने मदी के बाजार को हमेशा खोला है। यूरोप के बद बाजारों को फुटबाल खोलता है। एशियाई बाजारों को क्रिकेट खोलेगा। जीत की इच्छा भोग की इच्छा की बडी बहन है। उसे जगाना है।

क्रिकेट का यह पाठ बहुराष्ट्रीय पाठ है। निर्माताओं का पाठ। उपभोक्ता सामान के निर्माताओ और ब्राडो के नियताओं का पाठ। क्रिकेट उनके लिए 'लौंच ईवेंट' की तरह है।

विश्व कप में जीत के लिए तरसती ग्लोबल युवा पीढ़ी के क्रिकेट में निहित राष्ट्र उपयुक्त विचार है जिसे बाजारी अभियान के लिए तेयार स्थिति की तरह देखा जा सकता है। जग ये दिल मॉगे मोर' (पेप्सी) 'रिफ्रेश हो जा' या 'प्यार-मोहब्बत कोकाकोला')कोक)आल द बेस्ट (एलजी), हीरो और विभिन्न लाचों के नारो की एकान्विति देखिए। लेकिन पॉपूलर सस्कृति का दूसरा हिस्सा उपभोक्ता यानी उस सस्कृति में रहने वाले नए जन क्षेत्र का होता है जो कई बार निर्माताओ के नारे को इधर या उधर पढ लेता है और अपना अर्थ बनाने लगता है। विज्ञापनो को पहने वह जब दर्शक बनता है और मॉगने पर भी जब उसे 'मोर' नही मिलता तो वह बखेडा खडा कर देता है। उपभोक्ता-समय में खेल क्रीडा से ज्यादा जगा दी गई 'मॉग' ही प्रतिमॉग बन जाती है। जो पैसा खर्च करके कार्नीवाल में शामिल होते हैं वे पैसे की पूरी वसूली भी चाहते है। विज्ञापनों के नारे खिलाडियों को मैदान से ज्यादा, अखाडे मे ग्लेडिएटरों की तरह छोड देते हैं जहॉ रोम के बादशाह बने लाखों दर्शक सिर्फ 'खून' देखना चाहते है यानी अपने हीरो का खेल चाहते हैं। मैदानों में खिलाडियो की हिफाजत के लिए बढती पुलिस और बदोबस्त बताते है कि खिलाडी को दर्शक या फैन से नही, उसके ही द्वारा बनाए गए उपभोक्ता के आक्रमण का खतरा हे। उपभोक्ता-समय के बहुत-से अव्याख्येय हिंस्र क्षणों में से एक क्षण ऐसा भी हो सकता है जब उत्तेजित उपभोक्ता ब्रांड/रन या विश्व कप न मिलने पर दगा कर दे।

क्रिकेट को इस तरह खेल से ज्यादा एक उपभोक्ता घटना की तरह पढा जा सकता है। इस पॉपूलर सस्कृति मे एक रचनात्मक तत्त्व यह भी है कि राष्ट्र-भाव के उजाड़ में यह पद्रह सेकड का न्यूनतम राष्ट्र सबको देता है। वह राष्ट्र के 'वाद' को मनोरंजक बना देता है। वह उसके निरकुश अर्थो से उसे मुक्त कर देता है और बाजार की उपभोक्ता हिंसा में ले आता है। इससे भविष्य मे हम अपने खिलाडियो

के जल्दी खच हो जाने के गवाह बन सकते ह। एक ओर की मार और दूसरी ओर उत्तेजित कर दी गई जनता के भारी में वे खेलने की जगह खत्म हो सकते हैं।

इस उपभोक्ता-समय में क्रिकेट पंद्रह सेकंड के राष्ट्र- से ज्यादा नहीं है।

● जनसत्ता, 5 जून, 99

तेरा देश मेरा देश

जब कारगिल में मारे गए कैप्टन अनुज नैयर का शव दिल्ली आया तो पिता एस के नैयर ने प्रचलित गर्वोक्तियों से हट कर परम दुख में भी कुछ कठोर बातें कही। ये बेचैन करने वाली बाते टीवी पर खबर नहीं बनीं। वे मीडिया और राजनीति द्वारा इन दिनों बनाए गए देशभक्ति के फार्मूले के पीछे छिपाई जा रही 'क्षुब्धार्थों' की अनत लहरों को जगाती हैं। देशभक्ति के बनाए गए वातावरण में छेद करने वाले इन कुछ वाक्यो को ग्यारह जुलाई के 'हिंदुस्तान टाइम्स' से यहाँ हिंदी में रूपांतरित किया जाना चाहिए।

कैप्टन अनुज नैयर के पिता ने क्रोध से कहा : "मैं पूछना चाहता हूं कि किसी राजनेता या नौकरशाह के बेटे सेना मे क्यों नहीं हैं?"

"मेरा बेटा इस युद्ध जैसी स्थिति मे मारे जाने के लिए तो नहीं था। हमने अपने बच्चे इसलिए तो पाल-पोस कर बड़े नहीं किए है कि वे इस तरह मारे जाएँ? 'मृत्यु जैसा' कुछ नहीं होता। या तो मृत्यु होती है या जिंदगी होती है। इसी तरह 'युद्ध जैसी' स्थिति कुछ नही होती। या तो युद्ध होता है या शांति होती है।" शहीद अनुज की आंटी ने कहा।

अनुज के घरवालो के ये उद्‌गार उन अनेक शहीदों के परिजनों की व्यथा-कथा और प्रसुप्त क्षोभ को कह देते हैं जिसे 'देश की खातिर', 'कैमरे के सामने', 'नेताजी के सामने' किसी ने नही कहा लेकिन जिसे कहने के लिए सब तडप रहे होंगे। जिसका बच्चा मरता है वही जानता है कि बेटा खोने का दर्द क्या है। खोने के बाद मालूम पडता है कि एवज में मिला देशप्रेम असल मे क्या है, कितना है। शहीदों के माता-पिता इन दिनो लाख कहे कि हमें गर्व है कि वह देश के काम आया, लेकिन उनकी इन वीरोचित गर्वोक्तियों मे हमें उनके चीत्कार सुनाई पड सकते है। कैमरे ने, मीडिया ने माता-पिताओ को सावधान कर दिया है और वे एक असत्य और अभ्यस्त अनुभव कहते हैं कि हमें गर्व है। यह असत्य इसलिए है कि फौज में बच्चों को भेजते हुए उनके मन में ऐसा कोई भाव कभी नहीं रहा होगा जो उस बच्चे के

इस गर्वोक्ति मे उनके दारुण डर छिपे हैं। किसी का बुढापा, किसी की जवानी, किसी के बच्चे अनाथ हुए हैं। उन सब हहराते दुखों को बचाकर देशप्रेम की गर्वोक्ति निकली है। जो इस दुख को नही पढ सकते वे दरअसल लाशो के सौदागर है।

अनुज के घरवाले इस गर्वोक्ति को भी दुहरा सकते थे लेकिन उनसे अपना दुख नहीं छिपाया गया इसलिए उनका कथन सत्य बना। वह अनुज की मगेतर है जो उसकी लाश पर सिर डाले सिसक रही है। वे दो साल से एक दूसरे को चाहते थे। दो साल पहले सगाई हो गई थी। सितंबर में शादी होनी थी। अब टिम्मी क्या करे? अनुज का जाना कितनी कथाओं का दुखात कर गया है। इस सदर्भ मे अनुज के एक संबधी का यह कथन पढे "अगर युद्ध होता तो और वह मारा जाता तो ऐसा गम न होता। अफसोस यह कि मेरा बेटा एक अघोषित किस्म के युद्ध मे अपने ही देश के भीतर घुसपैठियो के हाथो मारा गया। मारे गए लोगों के लिए राजनेता जिम्मेदार हैं।" इतने गहरे क्षोभ के बाद गर्वोक्ति आई जो सच्ची लगती है : "मुझे फिर भी गर्व है कि मेरे बच्चे ने अपना कर्त्तव्य किया।" अनुज के पिता दिल्ली की मुख्यमत्री के दफ्तर से आने वाले फोनो पर बरसते हैं कि सात्वना देने के लिए ये लोग शव का इतजार इसलिए कर रहे है कि टीवी होगा और वे खबर मे होगे। ग भाजपा के कई नेताओं के लिए दरवाजा भी नही खोलते। यह क्षोभ है कि जो हार कर आखिरी लडाई लड रहा है और जिसे खबर नहीं बनाया जा सकता। यह खबर देशभक्ति का सारा मजा खराब कर सकती है।

यह एक नाटकीय, विभक्त, स्पर्धात्मक देशप्रेम और राष्ट्रवाद का दौर है। ऐसे मे अनुज के पिता की उक्त बाते हमे ज्यादा सच नजर आती हैं। यह सच हर शहीद के घर का एक सुला दिया गया सच है। कारगिल के बमबम देशप्रेम मे यह सच मीडिया ने लगातार कम करके या झाडपोछ कर दिखाया है मानो मीडिया ही कारगिल में बदूक चलाता हो। यह कारगिल के दूसरे सच को बताना नही है। अनुज के पिता और सबधियो का क्षोभ और क्रोध कारगिल का दूसरा दुख है जिस पर बात करने को नाटकीय देशप्रेम का उपभोक्ता यानी चालू राष्ट्रवादी 'देशद्रोह' मानेगा और उसका गला टीपना चाहेगा।

नाटकीय देशप्रेम के इस समय में एक औसत नाटकीय देशप्रेमी और एक औसत देशप्रेम के उपभोक्ता की उस छवि को पकड़ा जा सकता है जिससे देशप्रेम के लिए वगले बजाने वाले और दूसरे की शांत देशभक्ति को अपनी कथित प्रचड देशभक्ति और शौर्यभावना से हेय कहने वाले अकडू राष्ट्रवाद की पोल-पट्टी खुल जाए।

कुछ ही पहले की खबर है। भारतीय फौजों में अफसरो के कोई बीस हजार से ज्यादा पद खाली पडे रहे थे। सेना के चितको ने तब कहा था कि यह चिता की स्थिति है। उन्होंने नौजवानों को लुभाने के लिए, फौज की छवि को लुभावना

बनाने के लिए विज्ञापन कंपनियों से विज्ञापन बनवाए थे और प्रकाशित कराए थे। यदि कथित राष्ट्रवादियो मे सच्चा देशप्रेम रहा होता तो इतने पद खाली न पडे रहते। मध्य वर्ग के ग्लोबल एजडे मे देशप्रेम प्रदर्शन तो पूरा है, देशसेवा का भाव नही है या है तो कम है अन्यथा देश की खातिर मध्य वर्ग के बच्चे इतने पद खाली पद नही छोडते।

पदों के खाली रहने का उपलब्ध-स्पर्धी देशप्रेम की नाटकीयता से गहरा ताल्लुक है। सेना में इन दिनो लघु सेवा आयोग काम करता है। जो युवा इसमे जाता है वह पॉच साल के लिए फील्ड एक्शन मे रहता है। आतकवाद और अलगाववादी स्थितियों में उसे प्राय: तैनात किया जाता है। युवा होने के कारण वह अति कठिन स्थितियो का सामना कर सकता है। कहते हैं कि आतकवादग्रस्त इलाकों में वह पॉच साल पूरे नही कर पाता। वह प्रायः मारा जाता है या विकलाग होता है या तनावग्रस्त होता है। पॉच साल के काम के बदले जीवन भर का चैन वह इसीलिए नही खरीदता कि उसमे जोखिम का तत्त्व ज्यादा दिखता है। नए भूमडलीय मध्यवर्ग का बनिया दिमाग जानता है कि इधर जाने मे कोई फायदा नही है। वह नहीं भेजता। लेकिन जो मजबूरी में जाता है उसके मारे जाने पर, अपने को सुरक्षित समझ वह दूसरे को शहीद कहने और उसे भुनाने का अवसर नहीं छोडता।

देशप्रेम, देशसेवा, देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रसेवा, राष्ट्रभक्ति इत्यादि पद अब एक पॉपूलर मास कल्चर की श्रेणियाँ हैं। संघ-भाजपा, शिवसेना इत्यादि समूह अरसे से इन पदो से ही पॉपूलर राजनीति करते आए है।

यदि वे सचमुच देशभक्त होते तो उनके रहते इतने पद खाली कैसे रह गए? जाहिर है कि सेना में इन दिनो पदो मे जोखिम का तत्त्व ज्यादा है। देशप्रेम का जो सस्करण चालू है उसमे हिसाब-किताब मे कोई गलती नहीं होती। नाटकीय देशप्रेम मे जोखिम नही होता। तब कौन जाता है? क्यो जाता है सेना मे?

छठे दशक में इस लेखक के चाचा सिर्फ इसलिए फौज मे चले गए कि उनके पास इसके अलावा रोटी कमाने का कोई और तरीका नही था। हमारे पड़ोस का महेद्रपाल इसी खातिर गया कि कुछ नहीं तो कुछ बीघा खराब सी जमीन तो मिल जाएगी। यह महेद्र तो मेरा दोस्त था—और मुझे अच्छी तरह याद है कि उस मासूम के पास तब भी देशभक्ति जैसा कोई शब्द नहीं था। मेरे चाचा और महेद्र सन् '71 का युद्ध देख आए थे तो भी गॉववालो के लिए वे कोई वीर नही थे। उन्हें क्या मिलेगा सबकी निगाह इस पर थी क्योंकि जो भरती मे जाते है उनके लिए ठोस एवजी क्या मिलता है, वही सब कुछ होता है। वहॉ 'शहराती देशप्रेम' या वीरता बहुत अजनबी और गैरजरूरी शब्द होते हैं। ये शब्द शहरी मध्य वर्ग की निर्मितियॉ है जो उसने उसकी खातिर कुर्बानी देने वाले के लिए गढ़ी है? देशप्रेम का मालिक वह है जो देश का मालिक है यद्यपि देश के लिए वह एक बूँद खून नही बहाता।

सिपाही के लिए तो ये तमाम बाते उसकी अनंत मजबूरियो में अनेक आदेशो, देश के नक्शे और आदेश की आवाज और प्रशिक्षण का हिस्सा है। वह इन्हे वर्दी के साथ पहनता है। इसीलिए यदि कोई सच्चा देशप्रेमी हो सकता है तो मरने वाला सिपाही ही होता है जिस पर किसी को भी गर्व होना चाहिए लेकिन उसकी लाश पर रोटियाँ सेकने वालों को वास्तविक देशप्रेमी नही नाटकीय देशप्रेमी ही कहा जा सकता है। नाटकीय देशप्रेमी में जो जितना बड़ा नाटक करता है वह उतना बड़ा ही देशप्रेमी हो सकता है।

देशप्रेम की जैविक सरलता में फ्रायड के 'ईडिपस' को कार्यरत देखा जा सकता है। मातृभूमि के लिए जान देना मातृग्रथि ही है जो पापुलर मास कल्चर में लगातार रही है। आजादी के आंदोलन मे देशप्रेम या मातृभूमि पर न्योछावर होने के लिए उमड़ने वाला भाव ऐसा ही भाव कहा जा सकता है जो आज भी भारतीय मनुष्य के अवचेतन में सक्रिय है। यह जमीन की मिल्कियत के किसान भाव से मिलता है। जो नागर हैं, महानागर हैं और अब जो भू-नागर है उनमे देशभक्ति का कोई भी भाव इतना शुद्ध और मासूम नही है जो उनसे जान की बाजी लगवा दे। व अधिकतम यह कर सकते हैं कि आप फलां टीवी खरीदे तो हर खरीद का सौ रुपया रक्षा कोष मे देंगे या कि एक दिन की तनख्वाह अंशदान के रूप मे दे देंगे और फोटो छपवा देंगे। यह निंदनीय कतई नहीं है, बल्कि कहना चाहिए कि उनका ऐसा करना देश के प्रति उनके प्रेम मे आ रही दूरी को भी बताता है। वे प्रेम को जान की बाजी लगाकर नही, धन के विनिमय मे बदल कर चलते हैं। उपभोक्ता-समाज यही करता है क्योंकि यही कर सकता है। तब इसमे स्पर्धा कैसी और क्यो? क्योकि युद्ध एक स्पर्धात्मक राजनीति है और देशप्रेम भी। इसे जगह छेकने के काम मे लाया जाना है तो जो लोग इन दिनों दिलीप कुमार से या किसी से भी अपना देशप्रेम सिद्ध करने को कह रहे है उनका देशप्रेम भी सिद्ध नहीं है जबकि वे उसे स्वयंसिद्ध मानकर चलना चाहते है और वैसा मनवाना चाहते हैं। देशप्रेम इसी तरह बाजार मे स्पर्धा योग्य चीज बनाई जाती है। सच्चा देशप्रेमी वह फौजी है जो जान की बाजी लगा गया। हम सब तो उसके दर्शक और उपभोक्ता हो ही सकते है। जिनमें स्पर्धा इसीलिए होगी कि उपभोक्ता मे भी बड़ा उपभोक्ता होने की स्पर्धा बाजार लगा देता है। बड़ा देशप्रेमी यानी उपभोक्ता होने के लिए खून नहीं बहाना पडता। दूसरे के खून का दाम लगाना होता है, बस।

यहाँ उस वाक्य को याद किया जा सकता है जो पिछले डेढ महीने से कानो में बजा है और जिसे चैन से जी रहे मध्यवर्ग ने अपने अपराधबोध की नाटकीयता को छिपाने के लिए बार-बार कहा है कि "उन्होने हमारे लिए जान दे दी ताकि हम जी सके।" ऐसे तमाम वाक्य कहते हैं कि जान देने वाला और जिसके लिए जान दी है, उसमें बुनियादी फर्क है। जिसके लिए जान दी वह जीवित है। जिसने जान

दी उसने जीवित रहने वाले के लिए जान दी। स्पष्ट है कि जिसके लिए जान दी गई है उसकी जान देने वाले की जान से ज्यादा कीमती है। इससे जाहिर होता है कि जान देने वाला कोई महान् नहीं था : दे दी, ठीक किया। नहीं देता तो क्या करता? फौज वाले मजे भी खूब करते हैं। मुफ्त का बढ़िया खाते हैं। नौकरी थी, पैसे मिलते थे सो जान दी। क्यों गया था फौज में? कोई हमारे लिए गया था?

ऐसे ही विमर्श बाजार के पापुलर विमर्श हैं जो शांतिकाल में प्रायः चलते हैं। कम से कम एक बार के लिए अनुज के पिता ने देशप्रेम और शहादत के असली अर्थो और इन असली अर्थो को हड़पने वालों के बीच फर्क करने की कोशिश की है। यहाँ से देशप्रेम पर चर्चा शुरू होती है।

● जनसत्ता, 17 जुलाई, 1999

युद्धवाद का चिह्नशास्त्र

पूर्ण युद्ध से ज्यादा युद्ध-भाव पैदा करती है 'युद्ध-सी स्थिति'। कारगिल 'युद्ध' नही था, 'युद्ध-सी स्थिति' था। कुछ दिन बाद कच्छ में पाक का हवाई जहाज मार गिराया गया तो यह स्थिति फिर बनी और अब राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार बोर्ड ने अणु बम की कमान नीति के विचार पत्र को घोषित करके बता दिया कि आने वाले दिनों मे भाजपा का असल एजेंडा क्या होने जा रहा है। युद्ध से ज्यादा 'युद्ध-सी स्थिति' से कैसे निपटे विपक्ष? यह सवाल ही सबसे बडा सवाल है। इस सवाल में भाजपा का समूचा राजनीतिक दर्शन सक्रिय है। यह स्थिति भाजपा को 'साप्रदायिक' कहने से 'अध-राष्ट्रवादी' कहने से नहीं कटने वाली। कुछ तो ग्लोबल समय ने और कुछ हमारे यथार्थ ने भाजपा की चाल, चेहरे और चरित्र को बदलना शुरू कर दिया है। नहीं, उसने हिंदुत्व नहीं छोडा है, लेकिन हिंदुत्व के नाग सयुक्त मोर्चे की संभावनाओ से सीखकर हिंदुत्व के एजेंडे के क्रम को बदल दिया है। उसमे वह पर्याप्त लचीलापन लाने की कोशिश मे है। आडवाणी की जगह अटल का 'अटल' हो रहना इसका एक लक्षण है तो जनता दल के नेताओ को संग-साथ ले आना और जगह देना दूसरा लक्षण। गत शासन के अनुभव ने और सयुक्त मोर्चे की तरकीबो ने भाजपा को बहुत शिक्षा दी है जिससे उसके दुश्मनों ने कम उसने ज्यादा सीखा है। भाजपा ने शासन चलाने और उसके अनुकूल समाज को हॉकने के गुर बहुत जल्दी सीखे हैं। जरा उसके प्रशासन की त्वरा, बुनियादी मुद्दो पर निर्णय लेने ही नहीं लागू करने की 'बहरी दृढ़ता' और जन-समाज को धीरे-धीरे राष्ट्रवाद और स्पर्धात्मक देशभक्ति मे डालकर आलोचना की जगहों का मुँह बद करने की रीति-नीति देखें। दरअसल, अब भाजपा के आलोचकों को उसके बदलते पैमानो को देखकर बात करनी होगी जिसके लिए वे अभी तैयार नही है।

पोखरण-दो के बाद से भाजपा लगातार एक रक्षात्मक पार्टी बनी रही तो इसलिए कि उसके पास पोखरण के गर्व को वितरित करने वाली घटना नहीं थी। कारगिल यह घटना बनी और बनाई गई जिसने पोखरण को अचानक राष्ट्र की 'नई खोज' के भाजपा के परिचित एजेंडे से जोड़ दिया। उसके बाद भाजपा ने पीछे मुड़कर नही

देखा। जो सर्वे आए है वे कारगिल के बाद के है और भले सर्वे वालो के अपन मन भाजपा की ओर झुके मिले तो भी वे कारगिल के प्रभाव और उसके भाजपा की ओर मुडने को बताते है। हैरत है तो यह कि सर्वे भाजपा को बढने दे रहे ह लेकिन बहुत बडे जनमत का झुकाव नहीं दे रहे। भाजपा अपने 'अ-सरल' सहयोगियो को साथ रखने के लिए मजबूर है तो इसीलिए कि पॉच या छह फीसदी का कथित झुकाव यदि इधर है तो काग्रेस की ओर भी तीन फीसदी झुकाव मौजूद है। यह भाजपा के लिए निष्कंटक-रास्ता नही छोडता।

इन दिनो भाजपा समेत सभी दलो मे और सर्वे करने वालो में कारगिल के वोट को गिनने की समस्या है। अन्य दलो की हानि कारगिल को निस्सकोच समर्थन देने या आलोचनात्मक समर्थन देने से जुडी है। भाजपा ने कारगिल के उपसहार का युद्धवाद से लिखना शुरू कर दिया है। युयुत्सा का भाव उसने राष्ट्र-भाव से जोड दिया है जबकि राष्ट्र को खतरे जैसी कोई बात नही है। युद्धवाद के जितने चिह्न इन दिनो सक्रिय किए गए हैं उस अनुपात मे राष्ट्र के लिए खतरा उपलब्ध नही है। पूर्ण युद्ध के मुकाबले नियत्रण रेखा के इधर या उधर के लिए लडना पूरी लडाई नही है। सरक्रीक क्षेत्र मे पाक द्वारा किया जाता अतिक्रमण साप्ताहिक बात रही है। सियाचिन मे गोलीबारी स्थायी है। लेकिन भाजपा के सत्ता मे रहने से इन सब घटनाओ के अर्थ बदले हैं। करीने से उन्हे एक युद्धवाद के स्थायी भाव मे बदल दिया गया है।

भाजपा के विपक्ष के विमर्श का जहॉ हाथ सबसे ज्यादा तग है वह यही युद्धवाद और उससे पुख्तगी पाने वाला राष्ट्रवाद का भाव है जो आलोचना की विराट अनुपस्थिति मे अध-राष्ट्रवाद मे बदलने लगता है और जहॉ से फासिज्म दूर नहीं रह जाता। भाजपा के नेताओ ने राम जन्मभूमि को पीछे कर दिया, उन्होने समान नागरिक सहिता को पीछे कर दिया। लेकिन 'राष्ट्र की नई खोज' और उसकी अंधतावादी व्याख्या को नहीं छोडा। राम जन्मभूमि और समान नागरिक सहिता दोनो इसी राष्ट्रवाद की पुष्टि का काम करने वाले थे, लेकिन वे कुल मिलाकर विभक्ति से शुरू करके राष्ट्रवाद की ओर आते थे। यह सघ की नीति रही। विश्व हिंदू परिषद, बजरग दल या आदिवासियो के नाम पर बनाए गए सगठनों द्वारा समाज मे हिंदुत्वेतर समाज को छेकने, किनारे करने और तग करने की नीति भी इसीलिए थी और है कि हिंदुत्व का वर्चस्व स्थापित किया जा सके ताकि राष्ट्र के 'असली वारिस'—हिंदुत्व—को वह दिया जा सके। यह सघ का सामाजिक-सांस्कृतिक एजेडा रहा है लेकिन सत्ता मे एकाधिक साल काम करने के बाद भाजपा ने और इस तरह सघ ने जाना कि राष्ट्र को हडपने का दूसरा रास्ता भी हो सकता है। एटम बम, कारगिल और कारगिल के बाद युद्ध की मानसिकता को लगातार बनाए रखना वह रास्ता है जहॉ से नीचे की खर्चीली सामाजिक विभक्तियो और आलोचनाओं को छेड़ने की जगह सबको

आसानी से राष्ट्रवाद की नई गाँठ म बंद किया जा सकता है। इसके लिए सतत युद्ध भाव का जागरण जरूरी है। कारगिल के बाद पाक हवाई जहाज का अतिक्रमण एक अवसर बनता है, जबकि पहले भी अतिक्रमण होते रहे हैं। पूर्ण युद्ध नही, 'युद्ध-सी स्थिति' को भाजपा ने राष्ट्र को नए सिरे से प्राप्त करने का जरिया बनाया है। अटल का आडवाणी की जगह छा जाना यही बताता है कि सत्ता के जरिए अध-राष्ट्रवाद को जा सकता है। इससे आलोचना का मुँह बंद रहता है और भेद और असहमति खत्म हो जाती है। आने वाले दिनो में भाजपा और सघ के सामाजिक प्रयोगो के लिए इस लचीली हिंदुत्ववादी नीति को समझना जरूरी है।

राम जन्मभूमि का चिह्न विभक्त करता था। समान नागरिक संहिता का चिह्न विभक्त करता था। लेकिन 'युद्ध-सी स्थिति' को राष्ट्र के नए चिह्न से जोड़ने से यह विभक्ति दब जाती है और राष्ट्रवाद को उड़ाया जा सकता है। यह 'मुखौटे' की 'मुख पर 'ऑपरेशन विजय' है। चिह्नशास्त्र की नजर से भाजपा उन संगठनों में है जो चिह्न-युद्ध को बेहतर उपयोग मे लाती आई है। इसका कारण यह है कि अन्य दलो के मुकाबले यह अभी तक हिंदू समाज के चिह्नो के खेल और ताकत को ज्यादा जानती है। उसका विपक्ष जितना ही उसे विचारधारा के अखाडे मे पकडता है, उतना ही वह एक चिह्न से दूसरे चिह्न मे अपनी आलोचना को बद करती जाती है। परिचित राजनीति शास्त्र राजनीति मे चिह्न विज्ञान का महत्त्व इसलिए नही समझता कि वह राजनीति के नए सस्करणो को, उसकी सक्रियता के चिह्न को, चिह्नो के खेल को नही समझता। चिह्न विचारधारा से रहित नहीं होते लेकिन उनमे आकर विचारधारा का नाक-नक्श और प्रभविष्णुता, टिकाऊपन और सक्रियता के चैनल बदल जाते हैं। विचारधारा जितना ठहराव चाहती है, चिह्न उतनी ही चचलता चाहते है। विचारधारा जगह बदलने मे देर लगाती है, चिह्न का धर्म ही सतत प्रवाह और अतिचचलता है। नए सूचना समाज मे चिह्नो की चचलता और सक्रियता मानो हिंदुत्व के चिह्नों की उपलब्ध चंचलता और सक्रियता के साथ मिल गई है। राजनीति शास्त्र का चालू सस्करण और विचारधारात्मक जोर इस भाजपाई तरलता को नही समझ पाता। सघ परिवार के द्वारा पिछले एक साल में सक्रिय किए गए चिह्नो के दबावो और उनके 'संघीय प्रबधन' को देखने से यह बात साफ हो जानी चाहिए कि इस चुनाव में भाजपा के 'ऑपरेशन विजय' के बाद कौन-से चिह्न किस तरह सक्रिय किए जाने है और किस तरह प्रशासन और समाज को नियोजित किया जाना है। जो है और जो हो रहा है, वह क्लासिकल फासिज्म नहीं है जिसके रूपों को कम्युनिस्टो ने और उदारतावादियों ने दूसरे युद्ध से पहले और बाद में उत्खनित किया है और उसे हाशियाकृत किया है। जिस तरह युद्ध न होकर 'युद्ध-सी स्थिति' एक युद्धवादी मनःस्थिति को बनाए रखने का प्रयोजन है उसी तरह पूर्ण पश्चिमी फासिज्म नही, फासिज्म-सा वातावरण हिंदुत्व के वर्तमान वर्चस्व के लिए जरूरी लगता है। इसीलिए भाजपा के विचारों में अन्य विचारो के

प्रति किंचित सहिष्णुता सिर्फ सत्ता का सुख लेने का लालच नहीं है, बल्कि हिंदुत्व का आंतरिक लचीलापन है जो आर्यवादी शुद्धतावादी नस्लवादी फासिज्म से किंचित भिन्न है।

भाजपा ने स्थानीय स्तर पर कुछ नए चिह्नों को सक्रिय करके और उनका प्रबंधन करके कुछ फासिस्टिक किस्म के प्रयोग किए हैं। उसके लिए गुजरात एक प्रयोग-प्रदेश बनाया गया है। अल्पसंख्यकों को हिंदुत्व के अखाड़े में लाकर किनारे करना, राज्यसत्ता के लाभों को अल्पसंख्यकों को दीक्षित करने की ओर मोड़ना हिटलरी या कोसोवो में मिलोसेविच वाले 'सफाई' के प्रयोग नहीं हैं। वे कोहनी मारकर जगह बनाने और जगह के मालिक बनाने वाले तरीके हैं। इन प्रयोगों से जगह के वचस्व की लड़ाई शुरू होती है और वर्चस्व को तय किया जाता है। सरस्वती वंदना को पूर्वशर्त की तरह रखना या वंदेमातरम् को रखना या कारगिलवाद में देशभक्ति में स्पर्धा पैदा करके अपनी भक्ति से दूसरे की देशभक्ति को छोटी बताकर लज्जित करना, नियंत्रण रेखा से निकले और फोकस में आए देश के नक्शे के चिह्न को स्वाभाविक अर्थ में सबको पाना जरूरी कर दिया गया। जरा भाजपा के समक्ष भाजपा के विपक्ष की मजबूरियाँ पढ़ें। शुरू में सोनिया कारगिल को लेकर आलोचनात्मक होती हैं और फिर आलोचना का यह स्वर भी मंद होता जाता है।

कच्छ में हवाई जहाज गिराने की घटना मीडिया-हाइप और हेलिकॉप्टर पर मिसाइल दागने की घटना पर विपक्ष की तुरंत 'अनुकूल प्रतिक्रिया' बताती है कि कारगिल ने आलोचना के स्वर को सुला दिया है। इस वक्त लगता है कि 'राष्ट्रवाद' का चिह्न भाजपा की बख्तरबंद गाड़ी है जिसमें विपक्ष छेद नहीं कर सकता। भाजपा ने संकेत दिया है कि उसे गंभीरता से लिया जाना चाहिए। भाजपा संबंधी आलोचनाओं में इस बात के संकेत कम ही मिलते हैं जबकि भाजपा ने लगातार अपना एजेंडा और चिह्नशास्त्र सक्रिय किया है। युद्ध-सी स्थिति बनाकर उसने वह हासिल किया है जो उसके सपने में भी नहीं रहा होगा। युद्ध नहीं, युद्ध-सी स्थिति! हिंदुत्व नहीं, हिंदुत्व-जैसी स्थिति! यहाँ सिर्फ अलंकार काम नहीं कर रहा, अलंकार के भी अर्थ होते हैं और वे भी काम करते हैं। पूर्णोपमा पकड़ में आ सकती है। अधूरी उपमा को लचीला बनाए रखा जा सकता है। यह भाजपा का 'अटलवाद' है। एक कमजोर और कवि सम्मेलनी-सा, वीर रस का-सा, कवि-सा व्यक्ति एक 'लोकप्रिय चिह्न' बनाने में लगा है। वीर रस के स्थायी भाव उत्साह की जगह युद्ध का भाव वीर रस को बदल देता है। इसीलिए देशभक्ति में प्रदर्शनप्रियता और स्पर्धा है।

राष्ट्रवाद अंधराष्ट्रवाद को जगह दे रहा है। युद्ध-भाव मीडिया के लिए एक सफल रूपक है। वह भारतीय 'पॉप कल्चर' का प्राण है। बस यहीं संघ और अटलवाद परेशान होता है। शिवसेना का युद्ध भाव उसे कभी-कभी तंग करता है। लेकिन इसकी आंतरिक परेशानियाँ और भी हैं। मसलन, युद्ध में के चिह्नों को आप कितनी देर

बनाए रख सकते हैं? लगातार बनाए रखकर आप घृणा को बहने से कैसे रोक सकते हैं और कितनी देर? और युद्ध-सी स्थिति कब तक बनाए रखी जा सकती है? अधराष्ट्रवाद के चिह्न को कब तक सक्रिय किया जा सकता है? चिह्नशास्त्र कहता है कि एक चिह्न इस्तेमाल होते ही खर्च हो जाता है, फेंक दिया जाता है और फिर दूसरा बनाना होता है। इसे विज्ञापन जगत में हम रोज देखते हैं। क्या हम ऐसे दौर में जा रहे हैं जो जीवन को चिह्नों में बदलकर क्षणभंगुरता में अमर होगा? यदि हाँ तो हमें भाजपा के चिह्नों को खोलना-समझना चाहिए।

● जनसत्ता, 23 अगस्त, 1999

'ग्लोबल' में 'एजेंडा'

भाजपा के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के सत्ता में आने के बाद सबसे स्वाभाविक बयान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरकार्यवाह शेषाद्रि का ही रहा। उनका मानना था कि इस चुनाव में हिंदुत्व की जीत हुई है।

इस बयान पर इस बार सेकुलर खेमे से ज्यादा मुखर विरोध नजर नहीं आया। आना भी नहीं था क्योंकि सेकुलर खेमा अभी तक अपने घाव ढूंढने और सहलाने मे लगा है और हिंदू यथार्थ से प्रायः विमुख रहे आने के कारण वह अपनी अभ्यस्त प्रतिक्रिया देकर फिर एक हिंदुत्ववादी चपेट के लिए प्रस्तुत हो रहा है। हार के बाद बहुत स्वाभाविक है कि सेकुलर खेमे के लोग एक-दूसरे को जिम्मेदार ठहराते फिरें, एक-दूसरे को नीचा दिखाने फिरें और भाजपा अपना एजेंडा लागू करती रहे। सदी के ये कुछ आखिरी दिन ऐसे ही है जब एक नया राजनीतिक यथार्थ और नई राजनीतिक शैली आ रही है। जिन्हे अतीतवादी या पुनरुत्थानवादी कहा जाता है और जो बिला हिचक खुद को वैसा जताते-बताते है, वे आगे आते चले जाते है और 'विचारधारात्मक सहीपन' के बावजूद सेकुलर ताकतें राजनीति में गलत साबित होती जाती है। सेकुलरों के लिए यह दर्दनाक मौका है कि वे अचानक एक विराट जनक्षेत्र और राजनीति के विमर्श मे स्वयं को अनसुना और असंचारित होता हुआ पाते है। उनके जुमले इन दिनों अचानक चलन से बाहर होते दिखते है।

'भाजपा के आने से देश टूट जाएगा', 'भाजपा एक फासिस्ट विचार रखती है', 'दोहरी सदस्यता को स्पष्ट करो' इत्यादि बाते अचानक खो गई लगती हैं। कई लोग अब भाजपा के सत्ता में आ जाने को भवितव्यतावादी यथार्थ मानकर अपने विचारों में पानी इत्यादि मिलाने को व्यग्र नजर आते है। ऐसे लोग भारत के संसदवाद के दबावों, भारतीय समाज के वैविध्य और बहुवचनवाद की वजह से पूरी कोशिश के बावजूद भाजपा के स्वयं स्पष्ट बहुमत में न आने को एक राहत की बात मानते है और समझते है कि भाजपा को सत्ता में आना है तो कांग्रेस के ढंग की पार्टी जैसा बनाना होगा। वे सोचते है कि इस प्रक्रिया मे उसकी कट्टरता निकल जाएगी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि के दबाव से वह अंततः स्वतंत्र हो सकेगी ओर

यदि नहीं हुई तो टूट जाएगा।

हारते हुए भी सेकुलरों को इस बात से राहत मिलती है कि सिद्धांतनिष्ठता को त्याग कर कुर्सी की खातिर भाजपा एक व्यावहारिक पार्टी बन चली है, उसके नखदन्त गिर गए हैं और गिर जाएँगे क्योंकि भारतीय समाज की अपनी जटिल विविधता है और उसके दबाव में भाजपा को भी आना है। आना क्या है वह दबाव में है, क्योंकि चौबीस दलों की टँगडियाँ देर-सवेर उसे झेलनी पड सकती है। सेकुलर सोच इस तरह इन दिनों अपने दिल को समझाता है।

जाहिर है, इस विचार में कई बातें मान कर चली जाती हैं। पहली यह कि भारत का यथार्थ ऐसा शाश्वत किस्म का ठहरा हुआ यथार्थ है जो बदलता नहीं है और जो हर आने वाले को बदल देता है। यह आशावादी विचार जब तर्क को आगे बढ़ता देखता है तो मुश्किल में पड जाता है। मसलन, उक्त भारत के भारत होने का भरोसा जब होने लगता है तो फिर आने वाले अच्छे दिनों का इंतजार ही एक रास्ता रह जाता है। यह विचार कहता है कि इंतजार करो। भाजपा की कलई भी उतरेगी और फिर जनता तुम्हारी तरफ आएगी। जाहिर है कि इस प्रक्रिया में भाग्याधीनता है न कि नए यथार्थ के लिए नए विचार या विमर्श का निर्माण और उसके लिए जरूरी आकुलता।

ऐसा नहीं है कि इस बात में दम नहीं है कि भाजपा को भारतीय यथार्थ बदल रहा है। वह अब संघ की मुखर प्रवक्ता नहीं दिखती। उसके नेता मंदिर धारा-370 और समान नागरिक संहिता को पीछे रख देते हैं। लालकृष्ण आडवाणी, जो भाजपा के शायद एकमात्र सटीक सिद्धांतकार है, कह ही देते हैं कि अकेले भाजपा अपने विचार के बल पर सत्ता में नहीं आ सकती है। जिस दशहरे को संघ की रैली में शेषाद्रि ने हिंदुत्व की जीत का संदर्भ दिया उससे कुछ पहले ही आडवाणी ने कहा था कि भाजपा अपने विचार के बल पर यहाँ तक नहीं आ सकती थी। ये बातें उस आकलन के पूरक का काम करती हैं जो भाजपा के कायाकल्प में विश्वास रखता है। इस विश्वास के बाद सारी लड़ाई संसदवाद की रह जाती है कि कब कौन कैसे सत्ता में आए। इस विचार में एक आश्वासन छिपा है कि फासिज्म अब कोई संभावना नहीं है क्योंकि भारतीय समाज की संरचना ही ऐसे विचारों को पतला और शरीफ बना देती है।

इस विचार के बरक्स भाजपा और उसके सगोती संगठनों के विमर्श को देखे बिना भाजपा के कायाकल्प का प्रश्न साफ नहीं होता। हम देखते है कि विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल या संघ या ऐसे अनेक सगोती संगठन अपने एजेंडो पर कायम है और इन दिनों जब से भाजपा सत्ता में आई वे अपने प्रयोग बाकायदे करते रहते हैं। विश्व हिंदू परिषद वाले कहने भी लगे है कि भाजपा को सरकार चलानी है। हम उनसे अपनी माँगो को पूरी करने की उम्मीद नहीं कर सकते। इससे भाजपा

और संघ आनुषंगिक संगठनों के बीच एक भद्र संसदीय दूरी बन जाता है जो भाजपा के नेताओं की लंबी चुप्पियों के बाद इन संगठनों की हरकतों के प्रति तटस्थ रहने और इन हरकतों से भाजपा को अलग करने के बयानों में लक्षित होती है। मीडिया इसे इतना ही समझकर भरोसा करता है और मुखौटे और असल चेहरे के बीच बनाया गया फर्क बना रहता है। भाजपा ने यह फर्क फायदेमंद पाया है। वह लोगों को अपने पितृसंगठन से अलग होती नजर आने लगी है।

पितृसंगठन अधिक उग्र हो गरजते है तो यह कभी-कभी पानी डालने का काम करती है या कहती है कि जी, हमारी बस नही। अटल बिहारी वाजपेयी इस प्रयोग का राष्ट्रीय चेहरा है। यों इस दिशा मे पहला प्रयोग कल्याण सिंह की सरकार के रूप मे उत्तर प्रदेश में चल चुका है और इन दिनो धूल-धूसरित हुआ दिखता है। क्या हम कह सकते है कि कल्याण की तर्ज का राष्ट्रीय प्रयोग भी इसी दशा को प्राप्त हो सकता है क्योंकि भाजपा की समस्याएँ वहाँ नहीं दिखती है जहाँ अब सेकुलर समझते रहे हैं। ये समस्याएँ दोहरी सदस्यता का सवाल उठाकर लज्जित करने, संसद में किसी भी तरह उसे अपदस्थ करने या फासिस्ट कहने से नही बनती। भाजपा की अंतरंग समस्या दरअसल हिंदू समाज के लिए भाजपा और संघ की एक 'आधुनिकतावादी राजनीतिक योजना' और इस ग्लोबल उत्तर-आधुनिक समय के सामने उस योजना के लगातार पिछड़ते होने से बनती है। इसे समझने के लिए भाजपा और संघ के अनुषंगों की कार्यशैली के एक उपलब्ध आयाम पर गौर करना चाहिए। इसे हम उपलब्ध मोर्चा राजनीति के इतिहास में भी समझ सकते हैं और कह सकते है कि यह राजनीति में दक्षिणपंथी संयुक्त मोर्चे के प्रयोगों का दौर है जिसे भाजपा संभव कर रही है।

पिछले साल की अनेक घटनाएँ नए किस्म के दक्षिणपंथी संयुक्त मोर्चे के ऐसे कई नए प्रयोगो की कथा कहती हैं जिनमें भाजपा अलग रहकर पितृसंगठनों को अधिकाधिक 'स्पेस' दिलाती रही है। पिछले एक-डेढ़ साल से ईसाई मिशनरी यदि निशाने में रखे जा रहे है तो इसलिए नही कि मंदिर का एजेंडा छोड़ दिया गया है। उनके आनुषंगिक संगठन समय-समय पर बताते ही रहते है कि मंदिर निर्माण का काम जारी है जिसे कोई रोक नही सकता। ईसाई मिशनरियों के खिलाफ ताना गया एजेंडा बृहत्तर हिंदू पहचान को जगाए रखने मे पूरक का काम करता है क्योंकि ईसाइयत पर हर वार हिंदू हित मे ही होता है। इन दिनों संघ के आनुषंगिक संगठन हिंदुओं के सामने उनके शत्रुओं की तस्वीर धीरे स्पष्ट की जा रही है ताकि हिंदू मन एक स्थायी 'भय' मे थरथराता रहे और शत्रु को देख उग्रता महसूस कर सके। ये बातें बताती हैं कि भाजपा हिंदुत्व के एजेंडे को त्यागने की जगह उसके लिए ज्यादा स्वीकारात्मक और वैध जगह बनाने का काम कर रही है।

इस्लामिक या प्रोटेस्टैंट या कैथोलिक फाजिस्म के मुकाबले हिंदू फाजिस्म का

संस्करण कुछ अलग ही हो सकता है। वह संसदीय भी हो सकता है। संसदीय या सरकारी होने से ज्यादा वह सामाजिक भी हो सकता है। यानी सरकार किसी हद तक जनतंत्र मे रहे जबकि समाज को संघ के अनुषंग हॉकते रहे और जनक्षेत्र को रौंदते हुए अपने इच्छित 'कमान सोसाइटी' वाले नए नक्शे मे उसे ढालते रहें। सरकार मौन या उदासीन रहे और सामाजिक एजेंडा समाज को पुनर्परिभाषित करता रहे। यह हिंदू तत्त्ववाद का सार हो सकता है, जिसके कुछ प्रयोग इन दिनो लगातार हो रहे है। जनक्षेत्र के हिंदू तत्त्व को अधिक आजादी और अधिक हरकत करने की जगह और सरकार का उससे अलग क्षेत्र में विचरण, जिस सामाजिक-राजनीतिक द्वैत की रचना करता है, वह हिंदुत्व मे उपलब्ध द्वैताद्वैत आदि दर्शन से काफी मेल खाता है। यह द्वैतवादी संस्कृति के नजदीक बैठता है जो शाश्वत और दैनिक मे, अनित्य और नित्य मे या जनता और सरकार के बीच पक्का द्वैत कायम करके चलता है। इस द्वैत में एक अद्वैत सक्रिय रहता है। संघ का साहित्य पढने पर यह आसानी से जाना जा सकता है कि शेर ने अपनी खाल बिल्कुल नहीं बदली है और न बदल सकता है। खाल बदलना उसके वश मे नही है। मगर यही शेर की तरह उसकी समस्या भी बन रही है। नए जनक्षेत्र मे शेर का विचरण अभयारण्य मे विचरण की तरह नही हो सकता। अभयारण्य अब कही रह नही गए। जनक्षेत्र में शेर दहाड़ता है, इधर-उधर मारता-काटता है तो वह उतना ही वध्य भी होता है। सीधे कहे तो जनक्षेत्र मे आनुषंगिक संगठनो ने जो क्षेत्र इन दिनों छेंक रखा है वह राजनीतिक-सांस्कृतिक विराट क्षेत्र है। उसमें अनेक उपद्रव और भय रहते है और हिंसा लगातार रहती है। इस तरह के लंकाकांड जो आग लगाए रहते है वह कभी काबू से बाहर भी हो सकते है। ग्लोबल समय मे और बाजार के लगातार अंतर्निर्भर होते जाने के समय मे ये अग्निकांड समाज को एक असुरक्षित जगह बना दे सकते हैं—जिसकी कीमत सारे समाज को देनी पड सकती है। वे सहयोगी भी, जो शेर को अलग सोया मान लेते है, घायल हो सकते हैं। शायद यह डर भाजपा को अधिक मध्यमार्गी पार्टी दिखने को मजबूर कर रहा है अन्यथा उसका एजेंडा नही बदला है और जैसा कि उसके नेताओ ने चुनावी दिनो मे एकाधिक बार कह ही दिया था कि अवसर पडने पर भाजपा अपना एजेंडा ला सकती है। इसे यो भी कहा गया था कि अगर भाजपा का बहुमत होगा तो वह इस पर लौट सकती है।

दरअसल संघ का लक्ष्य छिपा हुआ कतई नहीं रहा। वह एक अखंड हिंदू राष्ट्र का निर्माण करने के लिए अरसे से सक्रिय रहा है। अपने एजेंडे पर वह कभी शर्मिंदा नहीं रहा। हैरत की बात यह है कि सेकुलर विमर्श जितना उसे धिक्कारता रहा वह उतनी ही वैधता पाता गया। जाहिर है कि संघ से वैचारिक मुठभेड जो की गई वह या तो गलत थी या अपर्याप्त नतीजा यह कि जितना उसे कोसा गया उतना ही उसके अनुषंगों को सहयोगी मिलते गए उसने अपनी कट्टरता को त्यागे बिना

लचीलापन सभव किया, एक किस्म की वचना की स्वत स्फूर्तता को अपनाया ओर राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद, हिंदुत्व, स्वदेशी, भारतीयता इत्यादि नारो के जरिए एक विचित्र किस्म के भविष्यवाद का विभ्रम खडा कर दिया। यह हमारे समय का सबसे वडा विरोधाभास कहा जा सकता है कि जिस पार्टी को सेकुलर अतीतजावी कहते रहे उसे वीस से पच्चीस फीसदी वोटरो ने भविष्य की पार्टी माना। सेकुलर विमर्श सिर्फ साप्रदायिकता या तत्त्ववाद के सामने पराजित नही हुआ है, वह एक विरोधाभासी पुनरुत्थान का झूठा भरोसा देने वाले एक असंभव भविष्यवाद के सामने भी हतप्रभ खडा है और दर्दनाक यह है कि उसके पास अपने आहत होने को समझने की कोई पक्की तरकीब भी नही नजर आती जबकि इस भविष्यवाद के अपने अतर्विरोध बहुत स्पष्ट और विस्फोटक है। संघ के साहित्य मे दैनिक कार्यनीति लचीली है लेकिन लक्ष्य साफ है। लक्ष्य हिंसा मॉगता है और हिसा प्रतिहिंसा मॉगती है जिसकी कीमत हिदू समाज को सन् सैतालीस से ज्यादा चुकानी पड सकती है।

सघ अपने लाख प्रयत्नो के बावजूद हिदू समाज की भीतरी वहुवचनता ओर उससे भी ज्यादा वहुवचनवादी होने के गर्व को नष्ट नहीं कर सका है। दलित ओर स्त्रीवादी विमर्श वे विमर्श हैं जिनके आगे संघ के विचार अचानक अपना आकर्षण खो देते है। ग्लोवलाइजेशन और उपभोक्तावाद से यह सचमुच डरता है। ये चार वडे उत्तर-आधुनिक विपर्यास संघ के परम केंद्रवाद और आधुनिकतावाद को समस्यायुक्त वनाए रखते है। सेकुलर विमर्श अभी तक इन नए पहलुओ के प्रति वैसा ही असहज नजर आता है जैसे सघ और उसके अनुषंग नजर आते है। सेकुलर अपने आधुनिकतावाद से सघ के आधुनिकतावाद को स्पर्धा ही दे सकता है, समस्यायुक्त नही करता। यह चुनाव इसका प्रमाण देता है।

• **जनसत्ता, 30 अक्टूबर, 1999**

नया जनक्षेत्र

जिन दिनो चुनाव थे अटल विहारी वाजपेयी ने पोप को न्योता भेजा था। कारण अवश्य ही संघ का ईसाई विषयक एजडा रहा होगा जो वह चुनाव से पहले चला चुका था और अब जरूरत थी कि आदिवासी क्षेत्रो में उसकी असहिष्णु छवि न जाए इसके लिए पोप को बुला लिया जाए। पोप जब आए तो विश्व हिंदू परिषद ने पहले तो बडे जबर्दस्त विरोध का स्वॉंग फैलाया और जब सरकार ने मेहमाननवाजी करने का मन बना लिया तो विश्व हिंदू परिषदादि संघ के अनुषंगी सगठन पालतू-सा विरोध करने लगे और अतत: कुछ साधु जैसे लोग अपने दंड-कमंडलो के साथ देखे गए।

पोप चले गए लेकिन दो बातें छोड़ गए। एक नेहरू स्टेडियम में हुए प्रवचन मे की गई अपील और दूसरे, तीन लाख डॉलर उडीसा के तूफान-पीडितों के लिए। उनके जाने पर परिषद ने फिर अपना फूत्कार जारी रखा और कहा कि पोप की घोषणा मे खतरनाक बातें है। वे ईसाइयत को एशिया मे फैलाना चाहते है। हमे विरोध करना होगा। लेकिन पोप द्वारा उडीसा के पीड़ितों के लिए तीन लाख डॉलर का कोई संदर्भ भी नहीं बना। विश्व हिंदू परिषद ने इस बात का विरोध तक नहीं किया कि एक चर्चवाला उनके पीडित भाई-बहनों को पैसा क्यों देकर जा रहा है, उन्हें नही लेना चाहिए और कि जरूर इसमे कोई दुरभिसधि होगी। उनकी चुप्पी के पीछे शायद यह कारण हो कि चर्च का हमने विरोध किया। हमे प्रचार मिला। हिंदू समाज के रक्षक के रूप मे हम ही उभरे। सरकार की भी ज्यादा फजीहत नहीं हुई। सब कट्रोल मे रहा। सत्ता पक्ष सत्ता से जीता, विपक्ष में हम ही थे तो हम जीते। दोनों की निभ गई। जै राम जी की!

यह बात किसी को हिंदू परिषद से नही ही पूछनी चाहिए कि ईसाई आदमी जो आपका दुश्मन नंबर एक है, आपके धर्म के लिए खतरा है, उसके डॉलर को आपने नही ठुकराया। यही नही, आपने अपने भाइयों के लिए अपने कमंडलो मे से एक चुल्लू पानी और भंडारे मे से एक दाना तक नहीं दिया है तो इसका कारण आपका हिंदुत्ववादी सनातन अवसरवाद है या कि यह आपके धर्मक्षेत्र की समस्या ही नही है?

उडीसा में जो तबाही हुई उसके आकलन के लिए किसी प्रधानमत्री और मत्रियो की फौज को भला आसमानी उड़ान भरने की औपचारिकता पूरी करने और न उत्तर पाने के हालात को जानते हुए भी नाटकीय बनाने की जरूरत नहीं है। मीडिया ने अपनी तमाम 'एलीटीय' भाजपाई जय-जयकार मे इतना तो बताया ही है कि तबाही ने पहले से गरीब लोगों को कितना बेचारा बना डाला है कि जो बच गए हैं वे शायद मरने से पहले किसी हेलिकॉप्टर या दानदाता गाड़ी को उग्र भाव से घेरते नजर आते हे। सेना के लोगो तक ने कहा है कि हम इन भाग्य के मारों को क्या कहें। जितनी सवेदनशीलता सैनिकों में है क्या उसका एक फीसदी भी विश्व हिंदू परिषद के सदैव ही अंगवस्त्रसज्जित महतो में देखी गई या सत्ता मे पुजापा पानेवाले दलो के कार्यकताओ मे देखी गई?

यह घनीभूत संवेदनहीनता और निस्संगता दरअसल हमारे दैनिक बोध मे 'जनक्षेत्र' के प्रति सहज सरोकारो का पतन है जो निरतर बुर्जुआकृत मनों के लिए अब एक अपराधविहीन और एक सर्वथा वैध विचार है। सत्ता के सूत्र से सचालित जीवन से बाहर एक बड़ा हिस्सा वह क्षेत्र होता है जिसे सत्ता नही चलाती, स्वय लोग उसे चलाते है। सत्ता चलाए न चलाए, लोग अपने आप चलाते है। प्राकृतिक आपदा में मदद करना, परदुखकातरता, परोपकार, एक दूसरे की धार्मिक और निजी अभिरुचियों के क्षेत्र का सम्मान, जनसेवा के निःस्वार्थ कार्य करना इसी जनक्षेत्र का विषय ठहरते है। स्पर्धात्मक राजनीति मे और सत्ता और विपक्ष दोनो ओर ही तत्त्ववाद के प्रवेश ने और तकनीक के निजीकरण ने इस जनक्षेत्र को जीवन से बाहर करना शुरू कर दिया है। उड़ीसा को लेकर विराट बौद्धिक चुप्पी और जनक्षेत्रो को बनाने के लिए तरसते दलो-संगठनो की मौन साधना बताती है कि हम आपदाओं, विपदाओ और सामाजिक दुखों के भीषण निजीकरण की ओर बढ रहे है। आपदाएँ अब प्राइवेट लिमिटेड व्यवस्था है। यह वैसा ही है जैसा हमारे घर में बिजली नही आती तो हम जेनरेटर ले आते हैं और पड़ोस के घर मे धुऑ देकर अपने घर मे रोशनी की नितात निजी व्यवस्था कर लेते हैं। फिर इस तरह सब करने लगते हैं। और धुऑ बढता जाता है और हम प्रदूषण की चिंता करने लगते है जिसमे अदालतें हमारी मदद करने लगती हैं और हम अततः महँगी गाड़ियों और महँगी बिजली के लिए तैयार होते हे और जो इस महँगी बिजली को चुराएँ उनमे से गरीब चोरो को निजी सेनाओ से कुचलवाते हैं। समस्या का निजीकरण इस तरह जनक्षेत्र को बनने नही देता, यानी वह उसके लिए नहीं होता जिसने समस्या का निजीकरण कर लिया है। हम अपने खोल मे बंद होते जाते है।

यहॉ उड़ीसा को लेकर शुरू के दिनों की चिता को परखे। अचानक पाते हे कि प्रधानमंत्री जी ने सहायता कोष से कुछ दिया है। फिर कुछ मुख्यमंत्री लोगो को बहुत दुख हुआ दिखाई पड़ता है। वे अपने कोषों से कुछ देने की बात करने लगते

हे कांग्रेस के मुख्यमंत्रियो की अलग बैठक सुनी जाती है मानो उडीसा कांग्रेस की कोई निजी समस्या हो। यह भी निजीकरण हुआ। एक गैर-कांग्रेसी मुख्यमंत्री का दिल्ली में ऐसा गजब जनसंपर्क दिखता है कि एक अखबार मे रिपोर्ट आती है कि पीड़ितो की पीडा देखकर उन्होने कई उत्सव रद्द कर दिए। हाय, सकरुण होने का भी कैसा अवसर मिला है कि पोस्टर छापना पडता है। कमबख्त उडीसा वालो को अभी ही मरना था। एक कांग्रेस मुख्यमंत्री दिल्ली के अखबारो मे आधे पेज का कई लाख का विज्ञापन ही ठूँस देता है कि देखो मैं मरा जा रहा हूँ। उडीसा का मरना दिल्ली का तमाशा है। यह सब जनक्षेत्र का, खास कर करुणा वाले जनक्षेत्र का लोप है जो स्पर्धात्मक राजनीति और भारत के ग्लोबल प्रवासी मनों ने किया है। जो कहीं रहते नहीं है उनके घर कभी नही उजडते।

कारगिल पर जितना धनवर्षण हुआ और स्पर्धात्मक चैनलो ने स्पर्धाभाव से चंदे चलाए, उडीसा के लिए नही चलाए। कारगिल के लिए प्रवासी मानसिकता ने डॉलर निकाले, उडीसा के लिए नही जबकि स्वयं रक्षामंत्री जी कहते पाए गए कि यह कारगिल से बड़ी त्रासदी है। यह भी समस्या के निजीकरण का उदाहरण है कि कारगिल राष्ट्रीय मामला बना जबकि उडीसा अभी तक उडीसा का मामला है। कारगिल अतिरिक्त मूल्य पैदा करता था। वह भाजपा का विज्ञापन बनाने वालो को एक नारा देता था कि 'युद्ध मे विजय दिलाए शांति मे सुख-समृद्धि लाए।' भाग्यहीन उडीसा ऐसा कोई अवसर नही देता कि कोई नारा गढा जा सके और वोट बन सके। हमारी राजनीति बाजार के ऐसे अमोघ विनिमय मे आ गई है कि हर बार जनता के सेवका का व्रत धारे लोगों, संगठनो को गारंटी चाहिए कि एवजी मे परलोक में स्वर्ग की जगह इसी लोक में कैश या वस्तु मे कुछ मिलेगा कि नहीं। वे गैर-सरकारी संगठन भी अपने अँगूठे पी रहे हैं जो ऐसे मौको के लिए बने होते है। कुछ अखबारों ने बहुत बाद मे चंदे का आवाहन किया। और हम देख पाएँगे कि वह कारगिल से कितना कम था। प्राकृतिक आपदा की कीमत नही। एक बनाई गई देशभक्ति मे बहुत माल होता है क्योंकि उसमे सुर्खरू होने का मौका होता है। यह भी जनक्षेत्र के सिकुडने का पर्याय है। उडीसा का दुख बिकने से भी मना करता है। उसे दिखा कर आप न कार बेच सकते हैं न टीवी-फ्रिज। अपनी नित नई कारों को बाजार मे दौड़ाने और नए मिलेनियम की गीतावली गानेवालों के लिए उडीसा की विपत को मार्केट करते हुए अपनी कार की मार्केटिंग करने का विचार नही सूझ रहा। विपत का कौन-सा मार्केट होता है? कोई हो तो वे आज बेच ले। कारगिल में उन्होने कार बेची।

यहाँ क्या बेचें।

जनसेवा के जनक्षेत्र के सिकुड़ते जाने के पीछे सिर्फ मध्यवर्ग के स्वार्थी होने को कारण बताना एक चालू किस्म की मध्यवर्गीय मक्कारी ही हो सकती है जो हम

जैस मध्यवर्गीय लाग करत ही रहते है बगाल के अकाल क बाद ऐसा काइ सम्मानिक विपत नहीं याद पडती जिसन लागो की चतना को झकझोरा हा आर वृनाता मे टिक गई हो और कविता मे निवास करती हो। छठे दशक के अभाव और अकाल भी धीमी गति वाले थे जो एक साथ घटना नही बने थे और फिर गैर-कांग्रेसवाद मे जनता का आक्रोश निकला था। तब तो मध्यवर्ग और भी सिकुड़ा हुआ था।

इस बढती संवेदनहीनता के कारणों में जाने पर हम मध्यवर्गीय बुर्जुआ स्वार्थपरता की बढोत्तरी को एक बड़ा कारण मान सकते है, लेकिन विभिन्न दलो मे कथित सवेदनहीनता बताती है कि बीमारी कुछ ज्यादा बुनियादी है। पूँजी और बाजार के खुले खेल ने सबको मानो दुख को टरकाने, अपने दुख को दूसरे के गले मढने, सदा सुखी रहने और कष्ट बचा जाने की कलाएँ सिखा दी है। हम दुख के समाजीकरण की जगह निजीकरण के युग मे रह रहे है। दुख जब तक विक्रय योग्य नही है या कहे ब्रांड नहीं है, हम उसे बेच नहीं सकते। हम जानते हैं कि शुद्ध दुख का कोई उपभोक्ता नही होता। दलो और संगठनों की स्थिति बताती है कि उनके बीच भी अचानक बनने वाले किंतु उडीसा जैसे अलाभकर जनक्षेत्रो के प्रति कोई स्पर्धा नही जगती। सघ स्वय को ऐसे मौको पर मदद करने वाले के रूप में अक्सर ही प्रचारित करता रहता है, लेकिन उडीसा मे प्रकृति ने किसी भी तमाशे के लिए अवकाश ही नही छोड़ा और उसके एजडे पर हिंदुओ का धर्म बचाना है जबकि तूफान किसी का धर्म नही मानता।

पिछले दिनों परवान चढी राजनीति ने ऐसा वातावरण बनाया है कि हमारे सुख और दुख सबका निजीकरण हो गया है। समाज मे उपलब्ध 'सबके लिए' वाला जनक्षेत्र निजीक्षेत्र मे बदल गया है जैसे जन सुविधाओ को या शौचालयो की जगहो को लोग निजी बना लेते है, दुकानें खोल लेते हैं। यह निजीकरण पश्चिम के देशो के निजीकरण से ज्यादा नृशंस, ज्यादा अतिवाला और गैरजिम्मेदार है। जाहिर है, ऐसी स्थिति के लिए मात्र बाजार भी दोषी नहीं है। दोषी है बाजार और लाभ के प्रति हमारी सट्टाजीवी वाली वित्तीय वृत्ति। पुराने पूँजीपति धर्मशाला—प्याऊ बनवाते थे क्योंकि वे जनक्षेत्र के प्रति जिम्मेदारी समझते थे। अब का हर्षद मेहता क्या बनवाता है? या कोई कंप्यूटर ज्ञानी जिसने अमेरिका को जीता है, क्या बनवाता है? अस्पताल या कंप्यूटर कपनी जो मुफ्त कुछ नही देती। जनसेवा, दान, परोपकार जैसे पद नए वित्त मे विदा है।

यह सब एक दिन में नही हुआ है। पहले हम हर काम भगवान् के हवाले करके निश्चित रहते थे। अब सरकार के हवाले करके निश्चित हो लेते है। तिस पर पिछले एक दशक से एजडा मध्यकालीन बना दिया जा रहा हो तो ऐसी ही सवेदनहीनता पनप सकती है जो अपने आचरण में मध्यकालीन ही हो। पुराने समाजो मे आपदाओ के वक्त राजा कभी-कभी कर्ज माफ किया करता था और प्रजा मे कोई जनक्षेत्र ऐसा नही होता था जो अपने लिए कुछ सोच सके।

जनक्षेत्र आधुनिक समाजो का क्षेत्र है। यह सामाजिक प्रक्रिया का वह क्षेत्र है जो सरकारों से ज्यादा स्वयसेवी समूहों के बल पर और आत्मसंरक्षण के भाव पर पलता चलता है। इसमें दिखावा कम होता है, क्रूर विनिमय नही होता। जैसे एक प्याऊ चलाया जाता है या कुऑ खोदकर पानी दिया जाता है उसी तरह पश्चिमी समाजो मे जनक्षेत्र आज भी बडे काम करते है। ऐसी सस्थाएँ वहॉ स्थायी होती है जिन्हे अवसर खोजने नही पडते, सेठ-सरकार सब उन्हे मदद करते है ताकि वे विपत्ति मे काम कर सके अपनी तमाम पाखंडपूर्ण महानताओं के बावजूद परपीड़ा को अधमाई समझने का नाटक करने के बावजूद और भारतीय समाज के चित्त मे कोई जनक्षेत्र जगह नहीं पाता, इसलिए लोग मरने दिए जाते हैं। भगवान् को यही मजूर होगा कह कर पल्ला छुडा लिया जाता है। इस लीला भाव को पिछले एक-डेढ़ दशक मे जिन्होने सामाजिक एजडे में बदला है वे किस मुँह से शिकायत करेगे कि उडीसा मे कौन क्या करे? पोप तो दे गए क्योकि उनके यहॉ जनक्षेत्र है। विश्व हिंदू परिषद क्यों कुछ करे? उडीसा कोई हिदुत्व का विषय तो है नहीं।

• जनसत्ता, 13 नवंबर, 99

तहलका लीला

वाह क्या नजारा है! वीडियो मार होली है। वीडियो से पिटाई हुई है। सारे श्याम रंग रसिया रंगे हाथ पकडे गए है। धन्य तेरी लीला, हे कन्हैया! तुम्हारे ग्वाल-बाल एक से एक सीन दे चुके है और अपने सीन देख-देखकर सिर धुन रहे है कि ये कैमरा कहॉ था? इस बजटीय होली के ऐन बाद तहलका डॉट कॉम की वीडियो-विस्फोटी होली ने इतना काला पोत दिया है कि 'नैतिकतावादी' 'राष्ट्रभक्त' 'देशभक्त' ग्वाल-बाल अपने चेहरे किसी भी तरह साफ नहीं कर पा रहे। लगता है कालिंदी ही चढ आई है। इतना काला-काला कभी नही देखा। लगता है, सब श्यामधन मे रंग गए है।

कोई दो-ढाई दशक पहले हिंदी कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने इस अधूरे ओर जंग खा चुके मुहावरे को इस तरह लिखा था 'पहले दाल मे कुछ काला था अब काले में दाल है/सारी दुनिया जीम रही है हमको यही मलाल है।' प्रधानमंत्री ने कहा कि दाल मे काला है। सर्वेश्वर इतना पहले कह गए कि काले मे दाल हे ओर अब तो काले में दाल का दाना तक नहीं है। इतनी जल्दी मुहावरा बदलेगा, किसे मालूम था और उसे भी कॉटकॉमियॉ छोकरे बनाएँगे, किसे मालूम था?

मलाल की बात है। 'देशप्रेम' करते हुए, 'राष्ट्रधर्म' निभाते हुए हमारे नायक लोग सस्ते मे ही निपट गए। अरे, इतने कम पर तो एक कांस्टेबिल हाथ नही रखता। जरूर अपने ग्वाल-बालों का पाचन तंत्र कमजोर निकला। पैसे को पचा नही सके। बातो को पी नहीं सके। कहॉ पॉच हजार साल की हिंदुत्व की गर्वीली अक्षुण्ण परंपरा कहॉ, विश्वगुरु का कीर्तिमान और कहॉ ये लाख-दो लाख पर झंझट करने वाले। ये विपक्षी एकदम टुच्चे है। सत्ता से जलते हैं। सब आई.एस.आई. के हैं। ग्वाल-बाल इतिहास बना रहे है। बम फोड रहे हैं। भूगोल बना रहे है। अयोध्या बना रहे है। अभी वहॉ मंदिर बनाना है। सेवक है इस हिंदूराष्ट्र देवता के। सेवक का स्वत्व कहॉ होता है। वह तो जो कुछ करता है, अपने प्रभु के नाम पर करता है। ग्वाल-बालो ने सब इस देवता के नाम पर ही किया है। लेकिन इस काम में भी परंपरा का पूरा ध्यान रखा गया है। मसलन, भारतीय संस्कृति में तीन अंक का बड़ा महत्त्व है इसीलिए तीन फीसदी मे निपटा दिया। तीन देव हैं, तीन देवियॉ हैं, तीन नदियॉ हैं, तीन लोक

हैं, त्रिशूल है। तो तीन फीसदी रखा।

और अपने नए ग्वाल-बाल मुख्तार अब्बास नकवी ने कह ही दिया कि यह सब तो ड्रामा है और आप लोग ड्रामे को सच समझ रहे हैं। यही बात प्रकारांतर अरुण जेटली साहब ने कही कि जो हुआ ही नहीं, जो किया ही नहीं गया, जिसका कोई 'कर्ता' नहीं, उसे लेकर हाय-तौबा क्यों? यह बात अपनी परंपरा से ही निकली है। नितांत भारतीय यह परंपरा पुष्टिमार्गी भक्ति मे वल्लभाचार्य की भगवल्लीला की अवधारणा से आती है। यह चराचर प्रभु की लीला है, उस लीला मे जो शामिल है उसी की मुक्ति है। कृष्ण भगवान् ने माखनचोर लीला का स्पेशल शो, जो अपने परम भक्त अंधे सूरदास के लिए मिथक मे कभी किया था, उसमें माखन खाने का एक स्पेशल इफेक्ट कुछ इस प्रकार दिया था कि मुँह पर लगा था और सबको दिख रहा था तो भी कहते रहे कि नही खाया! बाद मे सब बोले कि धन्य है धन्य है।

कृष्ण ने जब ग्वाल-बालो के संग मिलकर ऊँचे छीके पर रखे माखन से भरे मटके से माखन चुराकर खाया और माता यशोदा संटी हाथ में आकर सटसटाने लगीं तो भगवान् कृष्ण बोले कि मैने माखन नहीं खाया है। यह तो ग्वाल-बालो ने मेरे मुँह पर जबर्दस्ती लगा दिया है। जब यशोदा नही मानी तो कहा कि इतने ऊँचे छींके तक मेरा हाथ कैसे पहुँचेगा? माता फिर भी नही मानी तो बोले, तू मुझे ही मारती रहती है क्योंकि मै तेरा बेटा नही हूँ। मै तेरा जाया कहाँ हूँ? यशोदा का वात्सल्य उमड़ आया, उसने संटी फेंक दी और बोली, हॉ कन्हैया तूने माखन नही खाया।

अब्बास और हमारे अरुण जेटली इसी कारण इस सबको ड्रामा कहते भए। अब अगर कुछ माखन मुँह पर लगा है तो यह माखनचोर लीला ठहरी। इसे पश्चिमी कलजुगी यूरो-हिंदू क्या समझें! यह लीला भाव किसी-किसी की समझ मे आता है। लीला भाव कानून-संविधान-संसद से ऊपर होता है। संत जन कहते है कि कृष्ण का माखन चुराना, दरअसल माया को वश मे करना, मायामोह मे लिप्त माता को बोध देना था, माता को अपना असल रूप दिखाना था। वे तो जीव जगत् मात्र के आनंद के लिए लीला कर रहे थे। मूर्ख इसे चोरी समझें, लीला मे शामिल भक्तजन लीला। यह हिट लीला है। तहलका डॉट कॉम रूपी माता क्या जाने संसद रूपी माता क्या जाने कि भगवान् ने कैसी लीला कर रखी है और इसका हेतु क्या है? कलजुगी यूरो-हिंदू बंदे क्या जानते हैं?

उमा भारती ने एक भावुक क्षण में एक टीवी चैनल पर कहा था कि भारतीय जनता पार्टी मे कृष्ण नाम के लोग ज्यादा हैं। सच कहा। इसीलिए इन दिनो हम एक कृष्णलीला देख रहे है जिसका नाम है 'नोटलीला'। इस लीला मे यह सवाल एकदम बेमानी है कि किसने कितना खाया, कितना नहीं खाया। सारे ग्वाल-बाल माखनचोरी मे पहले ही शामिल रहते थे, अब भी शामिल हैं। एकदम परंपरा मे है इस नोटलीला में भक्तिभाव के नए स्तर खुलते हैं। अरुण जेटली की टीका कहती

हे कि पहले तो किसी ने माखन खाया ही नही और अगर खाया तो पापी पार्टी की खातिर खाया जो सब खाते है और मान लो खाया भी हो तो पहले जॉच कर लेते है कि कितना सब किसने खाया और ग्वाल-बालो की एक कमेटी बना देते है। लेकिन जानने से पहले ही लीला को जान लेना ठीक नही है। पाप लगता है।

इस तहलका नोटलीला मे तीन सीनो यानी पहले लालच का निर्माण, फिर नोट का निर्माण और 'चोरी-चोरी, चुपके-चुपके' फिल्म का निर्माण हुआ है। 'चोरी-चोरी, चुपके-चुपके' एक हिंदुत्ववादी-भाव है। इस भाव के प्रति कृष्ण भगवान् की टीम मे बड़ी उत्सुकता देखी गई है। वित्तमंत्री ने बजट भाषण मे इसका विज्ञापन किया और प्रधानमंत्री की नातिन इस फिल्म को प्राइवेट देखने को बुरी तरह मचल चुकी है, ऐसी खबरें रही है। 'चोरी-चोरी, चुपके-चुपके' इस प्रकार संघ-भाजपा का राष्ट्रीय रूपक हे जिसमे अन्य दल ग्वाल-बाल की तरह ही लीलारत है।

तर्क निकलते हैं कि आपने पैसे का लालच ही क्यो दिया। अर्थ हुआ कि लालच देंगे तो क्या हम ललचेंगे भी नही? सवाल यह कि आपने दिया क्यों? आपने हमे भ्रष्ट क्यों किया? आपको तो गोली मार देनी चाहिए जो विश्वामित्र की तपस्या मे इस प्रकार का विघ्न डाला। दूसरा तर्क निकलता है कि हॉ खाया। तब, क्या कर लोगे? हिंदुत्व में तो हर देवता प्रसाद मॉगता है, सब चढाते है। हर बात की फीस हे। देवता नोट से यारी करेगा तो खाएगा क्या? यह पश्चिमी सस्कृति है जो इस प्रसाद को भ्रष्टाचार समझती है। हमारे यहॉ तो सब देवता खाते हैं। भोग लगना हे और वह भी छप्पन भोग। यहॉ तो सूखे नोट ही है। पश्चिम वाले इस लीला रहस्य को क्या जानें? सब खाते है। माखनचोरी लीला एक हिट लीला है अपनी संस्कृति की। उसी से देश बचा है, समाज बचा है। परिवार बचा है। चोटी बची है। चिमटा बचा है। आप उसे पश्चिमी नजर से कैसे समझ सकते हैं। अब तो लीला में दैत्यो ने विघ्न डाल दिया, वरना अगर हम पूरा देश ही खा जाते तो कोई उफ न करता। आगे खाएँगे और आप देखेंगे कि सबने धन्य-धन्य किया।

'बहस' मे अब भी नही मानते तो हम कहेगे कि आप कौन से दूध के धुले है। आप लोगो ने बोफोर्स मे खाया। लालू जी, आप तो छोड ही दीजिए, आपने तो चारा तक खा डाला। आप सब लोग अपनी-अपनी नोटलीला कर चुके है। अब हमे करने दीजिए। अकेले चद्रशेखर जी ही हमारे इस मर्म को समझते है तो कहे है कि सरकार के इस्तीफे की बात न करो! बहस करो।

जब कुछ है ही नहीं तो बात भी किसलिए करें? जॉच भी करे तो किसलिए क्योकि कुछ है ही नहीं। एक ड्रामा बनाया गया है, एक षड्यत्र बाकायदा बिछाया गया है। देखते नहीं, कैमरे छिपे हुए लाए गए हैं, शूट किए गए हैं। अरे, घर मे आदमी हजार बाते करता है तो क्या वह सब पब्लिक प्रमाण है? हो सकता है वह कोई डायलॉग ही बोल रहा हो-हो सकता है, वह नोट लेने सबधी अभिनय का रिहर्सल

कर रहा हो। हो सकता है कि बगारू भी बगारू न हो उनके जैसा कोई हो जो किसी जगह सेट बनाकर बिठा दिया गया हो। कैसे जानें कोई मँजा हुआ अभिनेता ही इन नेताओं के सीन दे रहा हो? भारतीय संस्कृतिवादी पार्टी मे पग-पग कवि-कथाकार-नाटककार रहते है, आप क्या जानें?

अंतिम सत्य इतना है कि पापी पार्टी के वास्ते चदे लिये गए हैं। पापी पार्टी पापी पेट मे जुडी है। पापी पेट की खातिर सब लेते हैं। इसलिए भइया इस बात पर बहस करो कि किस प्रकार कायदे से बिना चौके-चिल्लाए पार्टी के लिए नबर दो के पैसे को लिया जाए। आप भी खाइए, हम भी खाएँ! नया नारा दो - खाओ और खाने दो! तसल्ली से। सब खाते है। जब तक पार्टी चलेगी, खाना-पीना चलेगा। बल्कि पार्टी इसलिए बनाया करेगे कि खा सके और इस तरह सब एकमत है और होगे कि हमसे कोई भी गुनाह नहीं हुआ। सबको माखन चाहिए, सब खाओ अरे लडते काहे हो। जनता रूपी गोपियों का माखन खा और लगा! अरे माखन खाने का नियम बना दो। नियम नही है तभी तो फजीहत हो रही है।

और ध्यान रहे जो 'दीन के हेत' लडा करते हैं वे 'पुरजा-पुरजा कट' मरते है, लेकिन 'खेत' नहीं छोडा करते। खेत नही छोड़ना है। यही उत्तर-तहलका डॉट कॉम लाइन है। तो ग्वाल-बाल गोपियाँ सब डटे है। एक ऐसी माफियालीला चल रही है, जिसमे सत्ता सब पापो को पुण्य में बदल रही है। बहुत जल्दी ही ये छोकरे किसी के एजेंट साबित होंगे, जरा ठहरें। देख लेगे। एक-एक को।

इस देशभक्ति को कोई चुनौती नही दे सकता। पाँच हजार के माल को पाँच सौ में बेच दें तो देश की खातिर। महाबली क्रातिकारी फर्नाडीज कही नहीं जाने वाले। थोडे दिन की छुट्टी जरूरी थी, दे दी! ममता दीदी का ड्रामा हमेशा की तरह उनका अहर्निश कोपभवन का नाट्यविनोद रहेगा। अरे, जब आप ही गद्दी नही छोडेंगे तो छुड़ाएगा कौन? नैतिकता पर एक प्यारी-सी बहस कर लीजिए। अपने ग्वाल-बाल ठहरे, भ्रष्टाचार विरोधी जेपी के सेनानी लोग। इनसे बेहतर कौन जानता है कि उससे कैसे दूर रहा जाता है। इन दिनों नोटलीला नोट से दूर रहने का अभ्यास ही तो है। यह तो फुल ड्रेस रिहर्सल नही था न! फुलड्रेस मे हम सब नोट से दूर ही दिखते है। किसी ने कहा कि बंगारू कुल एक लाख पर मर गए और वह भी जमा नहीं कराए। अरे भाई भूल गए होगे। फिर दलित ठहरे, आप जैसा ब्राह्मणी हाजमा नहीं बना है। वे भूल गए कि भाजपा में भूलने की कला पूरे विज्ञान की तरह इसी खातिर विकसित की गई ताकि सकट के समय काम आ सके। यह प्यारे से फासिस्ट दिमागो की कला है जो हर संकट के मौके पर भूलने को शास्त्र बना डालती है। अभी पूरी तरह सधी नही। बाबरी को भूल गए, नोटरी को नही भूल पाए, बोल बैठे! मारे गए। अभ्यास करने से एक दिन हम इस देश की जनता को, इस देश को भी एकदम भूल सकते है। आगे किसी दिन 'बाबरी गिराई नहीं गिर गई' की तर्ज पर सुदर्शनजी

नही तो कोई उवाचेगा कि 'खाया कहाँ खिलाया गया। धुन उसी पुराने फिल्मी गाने की होगी कि · 'मुझे दुनिया वालो शरावी न समझो/मैं पीता नहीं हूँ पिलाई गई है।'

हे सखे! इस वार आपका पाला हिंदुत्व के शुद्ध निर्लज्ज माफिया से पडा है। इतना निर्लज्ज तो दाऊद, छोटा शकील, छोटा राजन, भरत शाह का माफिया तक नहीं बन पाया क्योंकि वह अपने 'खाने' को छिपाता नही है। वह अपनी उगाही को सरे आम कहता करता है। कम से कम उनकी गोली सच्ची होती है। इधर तो एक कथित महान् सघ एक कथित महान् पार्टी और उनके इतने सारे राष्ट्रभक्त लगातार मिथ्याजाल मे रहते हैं और उसे ही बुनते है। वे हर राई को पर्वत करते है हर पर्वत को राई करते है। उसे सस्कृति कहते हैं। इन दिनों दाल मे काला नही है, काले मे ही दाल है। सारी दुनिया जीम रही है। हमको मलाल है कि हमारा नवर कव आएगा। हे ग्वाल-वालो, अगर छोडेगे तो आएगा। वस, हमारे पेट की खातिर छोड देना जी।

● जनसत्ता, 19 मार्च, 2001

तहलका बाद के दिन

बेचारी गर्वीली सरकार की आत्मा तो उसी दिन चली गई थी जिस दिन तहलका डॉट कॉम ने सत्ता के राम-लक्ष्मणो के चपत लगाई। इन दिनो एक शव है जो चला आ रहा है। भारत मे शव साधना की परपरा पुरानी है। आत्मा शव मे लौट आए ऐसे तान्त्रिक कर्मकाड भी हमारी परंपरा के अंग है। उस दिन जब प्रधानमन्त्री ने अपनी भुजा उठाकर कांग्रेस और सोनिया गाँधी को ललकारा तो आवाज भले वही शखनाद वाली रही, लेकिन वह बात नहीं थी। ऐसी चुनौती पर टूटकर ताली नही पडी।

सच। किसी को अफसोस नही होना चाहिए कि यह सरकार नही गई, बल्कि हल्की-सी खुशी ही होनी चाहिए कि एक ऐसी सरकार भी अपने यहाँ काम की हो सकती है जिसकी आत्मा मर चुकी है, जो नैतिकता के नियम माने तो रसातल म चली जाए। तब देश का क्या होगा? आनद की बात यह है कि यह लगभग उन्ही स्वदेशी तरकीबों से बची जिनसे सदियों से यह देश बचा हुआ है। अगर यह नही बचती तो जरूर अफसोस होता। हमारे अचूक प्रयोगों का क्या होता?

हमें प्रधानमंत्री के सलाहकार ब्रजेश मिश्र का कम से कम एक बार कायल होना चाहिए कि इतने तूफान मे भी वे अटलजी को बचाकर ले गए। जरा-सा नैतिक भावुकता का दौरा पडता तो तिनके न मिलते। लेकिन सत्ता का तर्क उनके सामने इतना साफ रहा कि वही बचा ले गया। अब सब शात है। सब और चैन है। बेखटके पॉच साल राज इसी तरह किया जा सकता है। सत्ता के आगे नैतिकता की विजय इसी प्रकार हो सकती थी। भाजपा और उसके पितृसगठन से बेहतर इस प्रकार की नैतिकता के पाठ कौन जानता है जो 'चाल चेहरा चरित्र' के चकार को 'चोरी-चोरी चुपके-चुपके' के चकार से अदल-बदल करने रहते हैं। 'पार्टी विद ए डिफरेस' 'पार्टी विद डिफेस' रह गई।

तहलका डॉट कॉम दरअसल भ्रष्टाचार को 'काम कराने की लीला' मानने वाली सदा सहनशीला जनता के एक मनोरजक जनक्षेत्र में गिरा। वहीं उसे गिरना भी था। गिरते ही दो प्रतिक्रियाएँ जनता मे होनी थीं : सनसनी और मजा। जनता का देशकाल उस पखवाड़े अवसादयुक्त था। बजट-बाद की शेयर बाजार की सेबी की मिलीभगत

से कराई गई लूट और मदी की मार से करोडपति बनने के लालची लोगो की आत्महत्याओं के बीच तहलका के टेप किसी ऐसे सच की तरह ही थे जिसे सब पॉच हजार साल से होता हुआ जानते थे, लेकिन जिसे फिल्म पर अब जाकर उतारा गया था। लोग पहले चकित हुए क्योंकि ऐसे मौको पर चकित होने की मुद्रा रस सिद्धात मे आवश्यक अनुभव कही गई है। अद्भुत रस का स्थायी ऐसे ही आलबनो से उचित अवसर पाकर होता है। फिर विविध संचारियो के सयोग से जब रस की निष्पत्ति होती है तो रस मात्र रह जाता है। उसमें मेरे-तेरे का झगडा मिट जाता है। किसने लिया, किसने खाया, कौन भ्रष्ट है, ये तमाम विकार भुला दिए जाते हैं। रस की दशा ही ऐसी है कि कर्ता, कर्म, क्रिया सब खत्म हो जाते है। सिर्फ भाव मात्र रह जाता है। यहाँ आश्चर्यभाव से पल्लवित हुआ अद्भुत रस रह गया। काग्रेस और विपक्षी दल साहित्य-शास्त्र नहीं पढ़े, सो उसे गंभीरता से नैतिकता का मामला मानकर चलने लगे और इस्तीफे की मॉग करने लगे। सच कहा है कि ये यूरो-हिंदू नही जानते कि अत में रस मात्र रह जाता है जो आनंद का पर्याय है, जो अतत: ब्रह्मानद सहोदर का पर्याय है।

अद्भुत रस एक उत्तर-आधुनिक समस्याग्रस्त रस है। वह जितनी जल्दी बनता है उससे ज्यादा तेजी से गायब हो जाता है। कही टिकता ही नही। एक फोटो नही लेने देता। जैसे ईश्वर के दर्शन हो, जो होते-होते रह जाते है या सच के दर्शन, जो थोडी देर के लिए ही झिलमिलाता है। सत्य का साक्षात्कार करने की ताब किसम है? इसलिए जब भी वह प्रकट हुआ, ईश्वर की तरह चकित करके गायब हुआ। अद्भुत रस कोई प्रमाण भी नहीं छोडता। बस एक शाम कुछ मजा, कुछ औत्सुक्य, कुछ ठहाके, कुछ अवाक् भाव और फिर उसी सडांध में गिरे आप। इसीलिए यह लेखक कहता रहा है कि ये दिन ग्लोबल अ-गभीर दिन हैं। यह नितात स्वदेशी पॉच हजार साल पुराना भारतीय संस्कृति से ओतप्रोत भाव क्षेत्र है जहॉ नैतिक-अनैतिक धर्म की रक्षा से तय होता है और धर्म राजा मे रहता है। इसीलिए तो कहते हे कि वह सविधान बदल दो। सारे झझट खत्म। लेन-देन को पारदर्शी कर दो। लेकिन जनता को अद्भुत रस पसंद है। सब खेल पारदर्शी हो गया तो फिर मजा क्या रहा!

सो तहलका से जिन्होंने ज्यादा उम्मीद लगाई, वे भावुक ही कहे जाएँगे, सच्चे रसिक या भावुक नही। तहलका एक अद्भुत सास्कृतिक क्षण से ज्यादा कुछ नही था। जनता जानती थी कि भ्रष्टाचार के बिना, रिश्वत के बिना यह जीवन दूभर है। इसलिए अद्भुत रस के निर्माण के बाद जो दूसरा रस मिक्स हुआ वह हास्य रस था, विनोद का भाव था। 'अब आएगा मजा' लोगों का प्रथम कथन था। किसी को अफसोस नही था कि कौन कितना खा गया, अफसोस था तो यह कि ये लोग इतने कम में बिक गए। यही गंभीर आरोप था और आज तक है। दुख मे भी सुख मानने वाली जनता को दुख हुआ कि ऊपर के लोग इतने कम पर ही मान जाते

हैं जबकि सड़क पर खड़ा पुलिसवाला तक इससे ज्यादा लेता है। जनता तो दफ्तरों में काम करती है, फाइलें चलाती है या चलवाती है, वह जानती होती है कि किस विभाग में किस मेज की कितनी फीस है और उसे किस तरह देना है, कहाँ देना है।

अद्‌भुत सुंदरता से युक्त भारतीय यथार्थ यही है कि हर मनुष्य में एक रिश्वत लेने वाला और एक रिश्वत देने वाला रहता है। भगवान् को हमेशा से प्रसाद-चढ़ावा प्रिय रहा है। भक्त भगवान् को पाँच हजार साल से चढ़ाते आ रहे हैं। यह जीवन भगवान् का ही प्रसाद है। कलजुगी यूरो-हिंदू प्रसाद को रिश्वत कहा करते हैं। यह पश्चिमी सोच का प्रतीक है। अपना एकाउंट कभी बंद नहीं होता। आना-जाना, लेना-देना कर्म के फल हैं। यही अपनी सभ्यता है। यहाँ कर्मफल ही सजा है, जो अपने आप मिलते हैं। पश्चिमी समझ वाला हासी क्रोनिए बेवकूफ था, मारा गया। अपने यहाँ अजहर ने एक मीडिया कंपनी बना दी है और जडेजा सरेआम शादी कर रहा है जहाँ लेन-देन की बात हुई थी। लक्ष्मण जी ने जब डॉलर कहा तो प्रश्नवाचक कहा। डॉलर? यही तो भाषा के खेल हैं। बताइए, बाबरी गिरी कि गिराई गई? और क्या फर्क है गिरने-गिराने में, सबको गिरना है एक दिन। खाटी भारतीय विमर्श इसी तरह चलता है। अर्थ को जब चाहे जहाँ चाहे बदला जा सकता है। अर्थ डंडे में रहता है, बोलने वाले के पास रहता है। प्रसाद चढ़ाओ, अर्थ पाओ। इसे कौन तहलका समझेगा? **सोइ जानहिं जेहिं देहु जनाई, जानत तुमहि-तुमहिं होंहि जाई।** जो इस लीला भाव को नहीं जानते वे माया में फँस जाते हैं।

इसीलिए तहलका ने एक उपकार ही किया है। रिश्वत और भ्रष्टाचार को एक धनात्मक मुद्दा बना दिया है। जिस प्रकार लालू ने गद्दी न छोड़ कर नवीन नैतिकता के ऊँचे मानक कायम किए और इन दिनों एक खबर चैनल के प्रोमो में ठाठ से हर रोज कहते हैं 'मैं जेल जा रहा हूँ।' जेल न हुई मुफ्त की पाँच सितारा फॉरेन ट्रिप हो गई। यह अद्‌भुत-रस है जिसे अभूतपूर्व समाजवादी लालू नितांत अब तक बनाते आए हैं और जिस दिन तहलका टेप खुले, उस दिन वे ही सबसे पहले बोले कि इन सबको तिहाड़ ले जाना चाहिए। खग जाने खग ही की भाषा! वे अपने पुराने समाजवादी को बेहतर समझते होंगे। बहुत जल्द ही दृश्य मनोरंजक हुआ। इधर भी वे ही रहे, उधर भी वे ही रहे। संसद में बहस करने की बात होने लगी। काहे भइया? ये बातें बहस की कहाँ हैं, आनंद की हैं। अब हर कोई कहता है, मैं रिश्वत खा रहा हूँ, तुझे जो करना है कर ले। पब्लिक को 'दीवार' का डॉयलाग रटा हुआ है। वह उसी में जीती है जब अमिताभ का भाई बना शशि कपूर अमिताभ से कहता है कि भाई, तुम सरेंडर के कागजों पर दस्तखत करोगे कि नहीं, तो वह कहता है कि जाओ पहले उस आदमी के दस्तखत लाओ जिसने मेरे हाथ पर यह लिख दिया था कि तुम्हारा बाप चोर है। शशि कपूर देखता रह जाता है और अमिताभ को ताली मिलती है। हमारे सांसद पिक्चरें देखने का टाइम नहीं निकाल पाते। चिंतन का तो

बिल्कुल नहीं निकाल पाते। वे संसद में सोते हैं। ऊँघ जाते हैं। सदियों की जनसेवा की थकान ठहरी! अपनी फिल्में वह सब हजार बार दिखा चुकी है जिसे देखकर पहली बार सब चौंकने का नाटक कर रहे हैं और इस्तीफा देने-न देने की बात कर रहे हैं।

तहलका डॉट कॉम के टेप क्या है? अरे, सच तो इससे कहीं ज्यादा है जो उसे ही मालूम है जो सत्ता में रहा है, सत्ता से बाहर रहा है। चलने दो टेप। कुछ दिनों बाद भ्रष्टाचार के समुद्र में कहीं विला जाएँगे कि पता नहीं चलेगा। वही हुआ। वैसा ही होना चाहिए था। फर्ज कीजिए, प्रधानमंत्री अपने कार्यालय पर लगे आरोपों पर ही इस्तीफा आदि दे देते तो परंपरा का क्या होता? भारतीय संस्कृति का क्या होता? उत्तर-तहलका दिनों का एक सबक यह है कि रिश्वत को, उसकी प्रक्रिया को कानूनी और पारदर्शी बना दिया जाए। सबके रेट गेट पर लिखे हों। सबको रसीद मिले। काम न हो तो रेट गेट पर ही मय ब्याज के वापस मिले। लेन-देन हो और सरे आम हो। जब आम हो। जब हमें घंटा-घड़ियाल बजाकर भगवान् को रिश्वत देते हैं तो मनुष्य को हमें ठुमरी-दादरा नाच-गाकर बधाई देकर कमर लचकाकर तिहाई मारकर रिश्वत देनी चाहिए।

ये नैतिक सवालों से परे चले गए दिन हैं। इन दिनों गाँधी बाबा को पटक-पटक कर नैतिकता सिखाने के लिए न मारें। उस पर रहम करें। मौका लगेगा तो यार लोग उसकी भी तस्वीर निकाल देंगे। कलजुग है। कौन दूध का धुला है! वही अमिताभ वाला डॉयलॉग होगा। इससे लालू भी बचेगा, विंसेंट भी बचेगा, बोफोर्स भी बचेगा, प्रधानमंत्री कार्यालय भी बचेगा। क्या गुनाह किया है उन्होंने? नियम नहीं थे तो पूर्व तिथि से लागू होने वाले नियम बना दें कि सन् सैंतालीस के बाद जो भी लिया-दिया गया वह सब कानूनी है। वैध है। नैतिक है। इससे भारतीय संस्कृति की विजय पताका दिग्दिगंत में फहराएगी। सभ्यता के विकट संघर्ष हम पलक मारते जीत जाएँगे कहा ही गया है कि प्रक्रिया में पारदर्शिता लानी होगी सो सरकार अपने गेट पर ही रेट लिख दे। तहलका—बाद के दिनों का यही सबक है। नैतिकता से जुड़े शब्दों का कोश से हटा दें या उनके अर्थ बदल दें। रिश्वत का अर्थ हक कर दें, फीस कर दें। संविधान बदल ही रहे हैं तो हे प्रभु, जरा शब्दकोश का खयाल करें, अंग्रेज का बनाया हुआ है, दुरुस्त कर दें। खाएँ और खाने दें।

आने वाले दिनों में जिन लोगों को अपनी सरकारें बचानी हों, उन्हें इन तेरह दिनों में अब गई-तब गई सरकार द्वारा तहलका को निपटाने के तरीकों का अध्ययन जरूर करना चाहिए। इसमें एक निर्लज्जता का स्वदेशी जीवनरक्षक कवच मिल सकता है जो देश के नागरिक मात्र के काम का हो सकता है। जब भी संकट आए, लोग कुछ भी कहें, आप संयम न खोएँ और क्रमिक भाव से निर्लज्जता को ही एक धनात्मक अस्त्र की तरह चलाएँ। ढीठता अडिगता बन जाएगी। अडिगता सिद्धांत बन जाएगी।

सिद्धात बचा ले जाएगा। इस कुछ लाग धरती-पकड दा
दे कि भारतीय शैली की कुश्तियों में समय की पाबदी
चीज बडी बलवान हुआ करती है। बस, आप समय का
देर तक धरती पकडे रहे तो कुछ लोग इसी कला पर
वाह, पिटता खूब है और देखो हिलता तक नही है।

● जनसत्ता, 31 मार्च, 2001

ग्लोबल सोनिया और हिंदुत्व के डर

आपातूकाल से पहले के दिनों में, गैरकाग्रेसवाद के दौर मे एक औरत-प्रधानमत्री के लिए लपट रस वाले कुछ जुमले तब के भारतीय जनसघ के बीच खास लोकप्रिय थे जिन्हें सुनकर संघ समर्थकों में खुशी की टिटकारी दौड़ जाती थी। तब न मीडिया इतना था कि सब तुरंत दिखाया जाता, न स्त्रीत्ववादी विमर्श ने जोर पकडा था, न स्त्रीत्ववादी संगठन थे जो इस लंपट-मर्दवाद का गला पकडते।

इस चुनाव मे भी भारतीय जनता पार्टी के नेताओ द्वारा आजमाए जाते मर्दवाद के प्रचुर उदाहरणों मे से कुछ भर को देखा जा सकता है। यदि उनको एक तरतीब मे पढ़ा जाए तो कहा जा सकता है कि भारतीय जनसघ से भारतीय जनता पार्टी बने सगठन ने स्त्रियो के मामले में एक गजब का मर्दवादी सातत्य दिखाया है। एक दिन कुशाभाऊ ठाकरे ने यो कहा कि औरतो को अभी इसलिए आगे नही लाया जा रहा है कि वे राजनीतिक माफिया से नहीं लड सकतीं। अर्थ यह था कि वे अबला होती है, गृहिणी होती हैं, वे लडना क्या जानें, लडने का काम मर्दो का ठहरा। 15 अगस्त को प्रधानमत्री द्वारा तैंतीस फीसदी आरक्षण के लिए ललकार के बाद ही भाजपा अध्यक्ष की यह टिप्पणी बताती है कि भाजपा के ऐसे सहज विचार हैं। इस पृष्ठभूमि मे गुजरात के भाजपा नेताओं और महामना महाजन-फर्नाडीज जैसे नेताओ के सोनिया गॉधी-संदर्भ के विचारो को पढ़े तो क्रोध कम आएगा और समझ मे आ जाएगा कि औरत के मामले पर बहुत-सा दबा हुआ लंपट-रस सामने क्यो आता है। यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि भाजपा के विमर्श और फर्नाडीज जैसे 'राष्ट्रीय समाजवादियों' की भाषा एक ऐसे परिचित स्त्री-विरोधी शब्दकोश से निकलकर आती हे जिसके स्रोत जर्मनी की नाजी पार्टी के अब सुपरिचित स्त्री-विरोधी विमर्श मे बने होने चाहिए।

नाजी पार्टी के अंध-राष्ट्रवाद मे राष्ट्र का जो नक्शा हिटलर ने बनाया उसमे सबसे पहले 'लैंगिक नियोजन' किया। विलहेल्म राइख का 'मास साइकोलॉजी ऑफ फासिज्म' नामक प्रसिद्ध अध्ययन बताता है कि फासिज्म की वैचारिक संरचना मे यह नियोजन और इस तरह 'स्त्रीलिग का नियत्रण' प्रथम पाठ है। सोनिया गॉधी

को लेकर भाजपा के विभिन्न नेताओं द्वारा की जा रही टिप्पणियाँ, जो भारतीय किस्म के हिंदू-फासिज्म की संरचना की अनंत दैनिक कसरतों का हिस्सा है, मूलतः ऐसी ही 'लैंगिक नियोजन' और 'स्त्री-नियंत्रण' की संरचनाएँ हैं। इन्हें भाजपा की चुनाव की 'निराशा' मात्र के रूप में नहीं पढ़ा जा सकता, बल्कि इन्हें नाजी पार्टी के स्त्री संबंधी विमर्शों और नस्ली शुद्धतावाद के लगभग समानांतर, यहाँ तक कि छायानुवाद के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

भाजपा अपने सांस्कृतिक-राजनीतिक विचार में न चाहते हुए भी पकड़ी जा सकती है। सत्ता के इतने पास और इतनी आसानी से पहुँच जाने के बाद उसके नेता फासिस्ट नाजी पार्टी के कई नेताओं की तरह अति उत्साह में कुछ ज्यादा ही यथार्थ बोल जाते हैं। सौभाग्यवश स्त्रीत्ववादी पाठ की राजनीति के इन दिनों में लिंगभेद के विचार उन तमाम विचारों के पीछे छिपे फासिज्म को खोल देते हैं जो अब तक छिपे रहे हैं। भाजपा इन विचारों की एक प्रबलतम संरचना है और इन दिनों सोनिया प्रसंग में वे लगातार 'भारतीय संस्कृतिवादी' 'अनंत मुखारविंदों' से अजस्र झर रहे हैं इसलिए उन्हें खास तौर से देखा जाना चाहिए। इस प्रकरण में उस समांतरता को भी पढ़ा जाना चाहिए जो नाजी पार्टी और भाजपा (और इन दिनों खासकर फर्नांडीज) के बीच दिखती है। स्त्रियों के प्रति गहरी घृणा के सामाजिक वातावरण में और संस्कृति संबंधी अनेक विमर्शों में हम ऐसे विचारों को इतना सुरक्षित पा सकते हैं कि ये आपत्तिजनक ही नहीं लगते। मगर कभी कोई घटना अचानक इस नशे में बौरा गए मर्दवाद का मुँह चिरा ही जाती है। पहले इंदिरा इसका निशाना थीं, अब सोनिया है, कल को प्रियंका होगी।

जरा 'भारतीय संस्कृति' पर गर्व करने वालों के सुभाषित पढ़ें 'वह तो गाने वाली है'...'वह तो कलमुखी/कलमुँही/है/जो 'अपने शौहर को खा गई'/...'वह प्रधानमंत्री बन सकती है तो मोनिका लेविंस्की भी बन सकती है'.. 'क्या दिया है उसने, सिर्फ दो बच्चे ही तो जने हैं।' इसमें सहयोगी करुणानिधि को मिलाकर पढ़ें जो जयललिता के बारे में कहते हैं कि "भाजपा की सरकार तेरह महीने इसलिए चली कि जयललिता की लड़ाई एक मर्द से थी। अब अगर भविष्य में कहीं दो औरतें (सोनिया और जया) आपस में ऐसे ही निपटने लगीं तो आप जानते ही हैं कि नतीजा क्या होगा

कहने के बाद आसानी से माफी माँगी जा सकती है, लेकिन माफी के बाद भी इस मनोरोगी मनोरचना को नष्ट हुआ नहीं माना जा सकता।

नाजीवाद स्त्री का नियोजन इस प्रकार करता था : स्त्री माँ है, बहन है, उसका केंद्र उसका बेटा है, उसे चौका-चूल्हा देखना है और अच्छी नस्ल पैदा करनी है। नाजी पार्टी में कुँवारे मर्दों का भाव ऊँचा रखा जाता था ताकि श्रेष्ठ नस्ल बन सके। खून का मिश्रण नस्ल को अशुद्ध करता था। जर्मन राष्ट्र के पतन में यहूदी संस्कृति के साथ जर्मनों की उदारता अपराधी रही। नस्ल खराब हो गई। औरत आजाद होगी

तो नस्ल कैसे बनेगी। 'लेडी' नहीं, उसे जर्मन औरत या लड़की होनी चाहिए। उसे बच्चे पैदा करने चाहिए। ऐसी बातें हिटलर की, 'माइन काफ' और कर्ट रास्टेन के 'ए बी.सी. ऑफ नेशनल सोशलिज्म' में लिखी हैं। और देखिए वे आज के दकियानूसी स्त्रीविरोधी विचारों से मिलती हैं। धार्मिक-तत्त्ववाद और अंध राष्ट्रवाद स्त्री के दुश्मन हैं। वे बिना कहे भी स्त्री को नियोजित करते हैं। वे कह रहे हैं सोनिया एक विदेशी औरत है। विधवा है, कायदे से तो उसे पति के साथ ही सती हो जाना चाहिए था। अगर न हुई तो कोई बात नहीं। अपना चौका-चूल्हा करे। हम इतने अनुदार नहीं कि उसे घर से निकाल दें। उसका अनुभव कहाँ है राजनीति का। दूसरा तर्क-कम चलता है वह विदेशी है। इस देश में जन्मी नहीं है। ईसाई है। इस देश को ईसाइ बनाने की साजिश चल रही है। ईसाइयों ने इतने दिनों हम पर शासन किया है। वह फिरंगी है। विदेशी है। उसे क्या हक है कि वह प्रधानमंत्री बनने का दावा करे? हम कानून बनाएँगे। विदेशी को 'फिक्स' कर देंगे। विदेशी नस्ल से बचना है। विदेशी खून को क्या हक है? हम अपनी नस्ल खराब नहीं होने देंगे।

सोनिया की जगह अन्योक्ति में मोनिका लेविंस्की को रखना उसे पुंश्चली मनवाना है और तुलना में 'भारतीय स्त्री' की छवि को स्थिर करना है कि वह पतिपरायणा है, माँग में सिंदूर है, बिंदी है और बेटों की माँ है। बेल्लारी में सुषमा को लड़ाना दरअसल इस स्त्रीछवि को ऐसी पश्चिमी स्त्री की उस छवि से लड़ाना है जो भारतीय मर्द के मजे के लिए उपलब्ध होनी चाहिए, लेकिन हक के लिए नहीं। सोनिया पश्चिमी है। पश्चिमी स्त्री पुंश्चली होती है। तीसरा तर्क चलता है 'कलमुँही' के रूपक में वही हिंदू-परंपरागत 'अशुभ विधवा' का और सुहागिन का आमना-सामना है।

यहाँ से यह चुनाव एक तरह से मर्दवाद और नस्लवाद के नए हमले और उसके विरुद्ध लड़ने का भी अवसर है जिसके लिए कांग्रेस के चुनाव संयोजक पहले से तैयार नहीं थे और अभी तक वे स्त्रीत्व के निहित प्रश्नों को पूरी तरह नहीं उठा पा रहे हैं जबकि चुनाव आयोग के सामने इन प्रश्नों को कई महिला संगठनों ने पहले ही उठाया था।

इस चुनाव में मर्दवाद स्त्रीत्ववादी विमर्श को मनचाहे ढंग से अपमानित करता और दु:शासन की तरह अपनी जंघा पर ताल देता आ रहा है। बम, युद्ध, राष्ट्रवाद, शहादत, वीरता और इन सबको 'जीत' में बदलता वह चेहरा एक कुँवारे का ही चेहरा है जिसे इक्कीसवीं सदी के विजयी भारत के नाम पर बेचा जा रहा है। इस भाषा में एक मर्दवादी विमर्श काम कर रहा है जिसकी अभिव्यक्तियाँ हैं ऐसे 'सुभाषित' जो सोनिया को लेकर कहे गए हैं।

हिटलर और उसकी टीम के दैनिक विमर्शों में मर्दवादी लपट भाषा का पर्याप्त प्रयोग होता था। हिटलर के गुरु डाइट्रिख एकार्ट ने कहा था कि 'जर्मनी का रक्षक

कुँवारा मर्द होना चाहिए।' फासिज्म जिस नियंत्रित यौन-अर्थव्यवस्था पर चलता-पनपता है वह यौन-शुद्धता और इस तरह नस्ल की शुद्धता की माँग करती है। हिटलर ने फरमान जारी किया था कि शादी के पहले जोड़ों को अपने जर्मन रक्त के शुद्ध होने की सनद देनी होगी। अपने यहाँ भी जरा देखें कि देश के कितने जिम्मेदार लोग स्त्रियों के प्रति कैसे असहिष्णु विचार रखते हैं? कहने के बाद 'किंतु-परंतु' के साथ माफी माँग लेने से नाटक तो पूरा हो सकता है लेकिन वह विचार नहीं खत्म हो जाता जिसे आपने सोचा है। मर्दवाद फिलहाल बम और वीरता के जोर में है। जिस अनुपात में वह जोश और जोर में है उसी अनुपात में स्त्रियों पर अत्याचार बढ़या है।

राष्ट्रवाद का रूपक जगाकर और उसमें अधराष्ट्रवादी अर्थ देकर जो वातावरण बनाया जा रहा है उसमें स्त्रीत्ववादी विमर्श कितनी बड़ी चुनौती है, यह उस डर से प्रकट है जो भाजपा के नेता सोनिया पर हमला करके प्रकट करते हैं। इसके सबक भी हैं जो प्रतिरोध के नए रूपों की तरफ इशारा करते हैं। शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे ने जब एक सभा में सोनिया गाँधी की नकल उड़ाई तो वहाँ आई औरतें उठकर चली गईं। इसी तरह जब सोनिया के स्त्रीत्व पर हमला किया गया तो औरतें नहीं हँसीं। स्त्री को बेपर्दा करने वाले मजाक और व्यंग्य अब गाँव की स्त्रियों द्वारा भी नहीं सहे जा रहे हैं। भाजपा का मर्दवाद अपने जोम में रोज दो-चार सीटें खो रहा है।

● जनसत्ता, 6 सितंबर, 1999

विश्व सुंदरी और विश्वामित्र

पहले भारतीय सस्कृति का शत्रु वैलेटाइन डे था, फिर लडकियो की जीस थी, अब सौंदर्य प्रतियोगिताएँ है। पहले कानपुर में भाजपा के अनुषंग विद्यार्थी परिषद ओर बजरग दल से जुडी कथित भारतीय सस्कृति ब्रिगेड ने रोकने की कोशिश की थी। अब सघ के अनुषग भाजपा के एक मुख्यमत्री ने ऐलान कर दिया कि वे प्रदेश मे सोंदर्य प्रतियोगिताओं की इजाजत नहीं देंगे। इस बार इस बयान के साथ मुख्यमत्री ने सौंदर्य के मानको और उनके सामाजिक उपयोगो पर भी एक 'बौद्धिक' दिया जिसे उत्तर प्रदेश के कई भारतीय सस्कृतिवादी लोगो ने आगे बढाया। एक ने तो शृगार क बारे मे विरोधाभास अलकार की टॉग तोडते हुए मुख्यमंत्री का कुछ इस तरह साथ दिया कि औरते बडे अंगो को छोटे वस्त्रो मे परोसती फिरती हैं। भारतीय सस्कृतिवादी भाषा की यह रसलपटता इन दिनों सिद्धावस्था को प्राप्त कर रही होगी।

सौंदर्य प्रतियोगिताओं पर प्रतिबध लगाने के ऐलान की देर थी कि सौंदर्य प्रतियोगिता के मानी बदल गए। प्रदेश के कलजुगी विश्वामित्रो को सदा की तरह लगा कि सौंदर्य प्रतियोगिता 'अग-प्रदर्शन' है। फिर तर्क फिसला कि यह अततः देह व्यापार है। मुख्यमत्री का बौद्धिक चला कि भारत विश्वगुरु रहा है ऐसी प्रतियोगिताओ के कारण ही वह उच्चासन से गिरा है, अब नहीं गिरने दिया जाएगा। गजब का सत्य खोजा कि सौंदर्य तो प्रकृत होता है, उसमे प्रतियोगिता कैसी? ऐसे मौलिक तर्को के उत्तर के लिए हमे केंद्रीय मत्री और सघ के एक महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ता प्रमोद महाजन से जरूर पूछना चाहिए कि उनका इन प्रतियोगिताओं के बारे मे क्या रवैया है जिनमे कल तक उनकी बेटी भी भाग लेती रही है।

भूमंडलीकरण को जाने बिना ताल ठोंकने वाले उसी के मीडिया-प्रस्तुत तर्को को दुहराते है, जो प्रतियोगिता बनाता है और सौंदर्य प्रसाधनो का विज्ञापन करता हे। इन दिनो ऐसे अनेक स्वदेश प्रेमी समक्ष हो रहे हैं जो सौंदर्य के इस सहज बाजारीकरण और अंततः अपने प्रसाधन के बाजारीकरण से आहत रहते हैं। भूमंडलीकरण और बाजार का विरोध करने के बहाने वे स्त्री जाति की आजादी को ही खत्म कर देना चाहते हैं। इस पुण्य कर्म में कई प्रगतिशील किस्म के लोग भी शामिल है।

वे समझते है कि भूमडलीकरण की बाजारी शक्तियाँ नारी की स्वतन्त्रता को बेच डालती है, स्त्री आजाद नही होती। प्रगतिशील विचार भी मर्दवादी हो सकते है, ऐसा लगता है। स्त्री जाति की आजादी के ऐसे पक्षधर अतत यही चाहते है कि स्त्री आजाद अगर हो तो उनके पौरुषानुसार हो।

लेकिन इस फासिस्ट विचार की एक अधी गली भी है जिसमे हर विश्वामित्र कम से कम अपने लिए हर बार एक मेनका ही चाहता है। कथित भारतीय संस्कृति के कथित गर्वीले नायको के घरो मे रहने वाली बहू-बेटियाँ प्रकृत सौंदर्य पर कितना निर्भर करती है, यह बात यदि स्वय राजनाथ बताएँ तो सुदर रहे। घरो मे रहने वाली लाखो-करोडो स्त्रियो को उनके पति या पिता उनकी सुदरता के भावो और अभावो को लेकर कितने चितित नही रहते? क्या उन लडकियों की शादी हो जाती है तो जरा भी असुदर यानी प्रकृत-सुदर होती है? सॉवली-काली लडकियो को शादी योग्य बनने के लिए क्या-क्या नही करना पडता! और उनको अक्सर ही अस्वीकृत करने वाले लडको के स्त्री विचार प्रकटत ऐसे ही होते है कि उनके घर की औरते शृगार ज्यादा न करें, लेकिन शादी वे किसी कुरूपा से कभी नही करना चाहते। ऐसे विश्वामित्र घर के बाहर अपनी औरत को ढँक कर चलाना चाहता है, लेकिन घर में उसे रभा-उर्वशी की तरह ही देखना चाहते है।

समूचे 'परकीया प्रेम' का समाजशास्त्र घर की औरतो को शृगार-रहित करके घर के बाहर आदर्श रचने का परिणाम रहा है और परकीया इसीलिए रही है कि वह इस विश्वामित्र के पौरुष को धन्य कर सके। और जब यही भारतीय सस्कृतिवादी नौजवान अपने लिए लड़की देखने जाता है तो उस वक्त जो उसकी चाल-ढाल पर बातचीत पर नजर रखी जाती है वह क्या है? वह एक अश्लील फैशन परेड ही है जिसमें लडकी का अपमान किया जाता रहता है। यानी कलजुगी विश्वामित्र अपनी पुरुषवादी सत्ता के लिए आज भी एक प्रकार की फैशन परेड ही कराते है। यह एक कमजोर कायर हिंदू तर्क की तरह है कि औरते सजे लेकिन सिर्फ उनके अनुसार और उनके लिए सजें। उस औरत को अगर बहुराष्ट्रीय निगम अपना दूत बनाते है, अपना ब्राड बनाते है तो वे हाय-हाय करते हैं। झगडा यह है कि हमारी बहू-बेटियो को कोई क्यो लुभा रहा है। अर्थ यह कि औरत को जला कर मारना, उसे बलात्कृत करना, सती कर देना उसे नियंत्रित करना है। उत्तर प्रदेश के प्रमुखमत्री ने यह नही कहा कि दहेज लेने और बलात्कार करने को मैं प्रतिबधित करता हूँ। अरे, इन तरीकों से ही तो औरत काबू की जाती है।

वह पॉच फुट दस इच लंबी होकर दुनिया भर को रौदती-मुस्कुराती नई पोशाको के सामने आए तो 'अपराध' है। अपराध इसलिए कि पॉच फुट दस इच लबी ग्लोबल लडकी अग्रेजी मे बोलने वाली इस धरा के किसी सुदर समुद्र तट पर अपनी बिकिनी मे अपनी देहभाषा को नया करती इस विश्वामित्र की परिभाषा के एकदम परे चली

जाता है। परिभाषा के पर चले जाना ही तो नियन्त्रण से परे चले जाना है। आप उसे स्टोव मे जला नही सकते, आप उसे आसानी से पकड नही सकते। अपनी लवाइ मे वह मर्दो की मर्दानगी के लिए बेहद चुनौतीपूर्ण लगती है। यह नई ग्लोबल औरत है जो भारत मे बन रही है, जो न जलाई जा सकती है न आसानी से बलात्कृत की जा सकती है। वह कलजुगी विश्वामित्रो की ऑखो मे चुभती है। वह अपना सौदर्यशास्त्र बदल रही है। प्रसाधन बनाने वाली कपनियॉ बदल रही है। मीडिया बदल रहा है। विश्वामित्र रो रहे हैं। ऐसे अनेक विश्वामित्रो की अपनी लडकियो के व्याह नही हो पाते क्योकि जमाना बदल रहा है। वे लडकियो को नही बदलने दे रहे है। बदलेगे तो लडकियॉ आजाद हो जाएँगी और आजादी भारतीय सस्कृति मे सिर्फ पुरुषो को दी जाती है।

नया पूँजीवाद नर-नारी सबधो को बदल रहा है। वह स्त्री के लिए एक सापेक्षित आजाद स्पेस बना रहा है। किसी दफ्तर मे, किसी मीडिया मे, किसी अस्पताल मे, किसी कॉलेज मे काम करने वाली स्त्री सात हाथ का घूँघट काढ के नही रह सकती जिस दिन से सात सात हाथ का घूँघट गया उस दिन भारतीय स्त्री ने न्यूनतम आजादी पाइ। आज स्त्री का क्षेत्र बढा है। सौदर्य प्रतियोगिता और ब्यूटी पॉर्लरो का बढना स्त्री की देह के आजाद स्पेस का बढ़ना है। नितात रूढिवादी लोगो की बहुएँ शादी से पहले इन्ही ब्यूटी पॉर्लरो मे सजने जाती हैं। इनमे बनने वाली स्त्री ऐसी ही विदाम औरत है जो पुराने नियत्रणों मे नहीं है। वह अपनी देह की मालकिन हो सकती है। वह प्रजनन का निर्णय कर सकती है। यह बाहर आई औरत नए ग्लोबल-भारतीय समाज की अर्हता है। विश्वगुरु भारत चूँकि फिर विश्वगुरु बनने के चक्कर मे है तो वह चाहता है कि उसकी औरते चारो तरफ से बद 'असूर्यपश्या' बन जाएँ। यह भारतीय जनता पार्टी द्वारा कल्पित भारत की विश्व-ब्राड है। दर्जनो बच्चो की मॉएँ बनाई जाकर लगभग खत्म कर दी गई औरते किस भारत की छवि बनाती हैं? स्त्री प्रश्नो को लेकर होते विश्व सम्मेलन इस औरत को उसके अनत रोग-शोको से निजात दिलाने की जग लड रहे है। दुनिया की जो औरतें आगे जा रही हैं, क्या वे सब देह व्यापार करती है? और देह व्यापार कोई करता हो तो वह उसका चुनाव हुआ श्रीमान? एक सजी-सँवरी औरत मूलत एक मर्दवादी विचार के दबाव मे ही सजती है ताकि लोग उसे बावली न समझें। ऐसी हर औरत को देह व्यापार करने वाली जेसा कहना स्त्री जाति का अपमान है। आश्चर्य कि हमारा महिला आयोग इन पक्तिया के लिखे जाने तक एक बयान का कर्जदार है। आश्चर्य कि कुछ इस्लामी तत्त्ववादी सगठन संघ के साथ खडे है। वे लोग परेशान है जो सघ से लडना चाहते है, लेकिन स्त्री, को लेकर उनके भी विचार वैसे ही रहे है, जैसे संघी भाइयो के रहे हैं। यह एक भयावह स्थिति ही है।

अपने शहर बरेली में विश्वसुंदरी प्रियका चोपडा को अरक्षित महसूस करना पडा है। उसके घर धमकीभरे फोन आ रहे हैं। इस तरह जो महान् 'नैतिक' नियत्रण

कभी मुंबई में क्लबों पर शिवसेना के एक मंत्री ने लगाने की कोशिश की थी या गुजरात में गरबा करते लड़के-लड़कियों को नियंत्रित करने की कोशिश की गई, लगभग वैसी ही कोशिश उत्तर प्रदेश में शुरू हुई है। सौंदर्य प्रतियोगिताएँ कराने वाले संस्थान फैशन संस्थान और उनसे जुड़े लोग स्वयमपि 'नरम लक्ष्य' हैं। डराने वाले और लोगों को डराकर रखने वाले जानते हैं कि एक धमकी भर से उन्हें चुप कराया जा सकता है। सरकार ने मना किया तो इशारा पाकर सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने का काम तुरंत उसके संगठनों ने ले लिया। इस तरह संस्कृति को नियंत्रित करने के जतन किए जा रहे हैं। सौंदर्यशास्त्र और सौंदर्य प्रतियोगिताओं से जुड़े लोग न तो दल बनाकर चलते हैं न वे प्रतिआक्रमण के लिए बने होते हैं। एक हंगामा-हुड़दंग ऐसे समारोहों को खत्म कर देता है। सरकार पीछे खड़ी हो और वैसी ही मानसिकता की पुलिस हो तो क्या नहीं किया जा सकता। यदि किसी सुंदरी स्त्री के चेहरे पर किसी ने तेजाब फेंक दिया तो यह मात्र एक दुर्घटना ही कही जा सकेगी। स्त्री-रूप से जलने वाले यही कर कर सकते हैं। देवदास को कहाँ पसंद था कि उसकी पारो को रूप का अभिमान हो। उसने एक छड़ी से उसके माथे पर निशान बनाया ही था। कल को औरतों को सजने नहीं दिया जाएगा। एक भयानक मध्यकाल उन तमाम स्त्रियों का स्वागत करने के लिए खड़ा है। स्त्री के रूप-सौंदर्य के प्रति इस वहशीपन का सचमुच की व्यापक और उदार भारतीय संस्कृति से कुछ लेना-देना नहीं है। यहाँ स्त्री के रूप-सौंदर्य से डरा नहीं गया है।

संस्कृति के काव्यशास्त्रियों ने शृंगार को रसों का राजा अगर कहा तो शायद इसीलिए कि 'शृंगार' सदा से एक लोकप्रिय विचार रहा है और सौंदर्य एक नितांत लोकप्रिय कामना रही है। शृंगार की अनिवार्यता दरअसल मनुष्य के विकास की सूचक है कि जो प्रकृत है, उसमें रही कमी को पूरा किया जा सकता है। शृंगार का अर्थ है 'कामोद्रेक' अथवा काम की वृद्धि। 'रस मंजरी' में शृंगार का अर्थ 'काम वृद्धि की प्राप्ति' कहा गया है (हिंदी साहित्य कोश)। भरत मुनि ने कहा है कि 'उसका वेश उज्ज्वल है। संसार में जो कुछ भी पवित्र, उज्ज्वल और दर्शनीय है वह शृंगार से उपमित होता है।' 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि विश्वकर्मा प्रजापति आरंभ में एक था, पर उसका अकेले मन नहीं लगता था। अतएव उसने अपने मन को ही स्त्री और पुरुष के रूप में विभक्त कर दिया। यह कथन काम के सर्वातिशायी महत्त्व को प्रकट करता है। भोजराज ने 'शृंगार प्रकाश' में शृंगार को आस्वादनीयता की दृष्टि से एकमात्र रस कहा है। शृंगार के देवता विष्णु माने गए हैं, जो अपनी अनंत शक्ति रमा के साथ रमण करते हुए लोक का पालन करते हैं। हमारी मूर्तिकला में पयोधरों को जिस तरह से उकेरा गया है वह बताता है कि स्त्री के विशेष अंग कला केंद्र में रहे हैं। खजुराहो तो देह का समारोह ही है। स्त्री-देह को लेकर भारतीय परंपरा में ऐसी जहालत कभी नहीं रही जिसे भारतीय संस्कृति के नाम पर उसके

कुछ ठेकेदार लागू करना चाहते हैं।

सोचना उस हिंदू समाज को है जिसके नाम पर यह सब हो रहा है। जिस समाज के सौंदर्यशास्त्र के इतिहास में सैकड़ों किस्म की नायिकाओं को श्रेणीबद्ध किया गया हो और जहाँ यह श्रेणीबद्धता 'कामसूत्र' के रचयिता से लेकर रीतिकालीन आचार्यों तक ने की हो, जहाँ आज भी हिंदी साहित्य में नायिकाभेद पाठ्यक्रम का हिस्सा हो, वहाँ ऐसी जहालत इसीलिए संभव है कि भारतीय संस्कृति वालों को भारतीय संस्कृति का कोई ज्ञान नहीं है। जिस संस्कृति का पहला महाकाव्य क्रौंच-मिथुन पक्षी के काम-प्रसंग की रक्षा करता हो, वहाँ ऐसे कलजुगी विश्वामित्र भारतीय संस्कृति के विरोधी ही कहे जाएँगे।

● जनसत्ता, 23 दिसंबर, 2000

मिलेनियम और हिंदुत्व

इतनी दुर्गंध, इतनी घृणा, इतना अहंकार, इतनी दयनीयता, इतनी हिंसा कि लोग रोज किसी भी धाँय-धाँय मे मारे जाते हैं। उसके ठीक पास इतनी प्रसन्नता कि अखबार 'चैटराटी' और 'ग्लिटराटी' से भरे प्रसन्न। अंध भक्त मंदिर बनाने के लिए पत्थर तराश रहे हैं। यह सन् दो हजार था। उसके बूटों की आवाजें आ रही हैं। धीरे-धीरे इस साल कृष्णराधा की जमीन पर सुंदरता से ऐसी नफरत पैदा की गई कि लडकियों का शृंगार मुश्किल हुआ। सुंदरता की पूजा की जगह हर बदसूरती की पूजा का भाव चढा। कोई भी कह उठता कि 'सौंदर्य' नहीं होने देंगे और सरकारें मुस्कुराती रहतीं। विधवाएँ होती रहीं। रोती रहीं। लडकियाँ को दहेज के लिए रोज मारा जाता रहा। सरकारें दहेज मुकदमों को वापस लेने लगीं। यह हिंदुत्व का सन् दो हजार था। फिर एक दिन एक मुखौटा जोश में गिर पडा। असल स्वयंसेवक सामने आया। उस के नाखून दिखे और देखते। एक मंदिर राष्ट्रीय भावना का पर्याय कर दिया गया। संसद चौंकती रही। मुखौटा उतरता देख अरे मुखौटे को तो उतरना ही था। अब आप हम सब एक हिंदुत्ववादी राष्ट्र को बनता देखें। पंद्रह फीसदी मुसलमान दो फीसदी ईसाई आदि सावधान रहें। उनकी नागरिकता ली जा सकती है। ऐलान हो गया है। बिस्तर गोल करें कब जाना पडे?

यह सन् दो हजार था। हिंदुत्ववादी युग का, एक दुर्दमनीय जिघांसा का वर्ष। हर दिन हिंदुत्व के पक्षधर दहाडे। हर दिन मीडिया की सारी-सारी जगह उनकी बनीं। इस तरह सन् दो हजार कट्टर हिंदू का दो हजार बना। उदारता तुम कहाँ छिपी हो? सहनशीलता तुम कब तक टिकोगी? ईमानदारी तुम कहाँ जाओगी? झूठ इतना मनोहर कब था? दुष्टता एक प्यारा उलाहना भर रह गई। शक-संदेह बोध के नए तरीके। सिर्फ वे सच रहे। शेष सब असहमत, गलत रहे, राष्ट्रद्रोही रहे। केरल मे कोई बेवकूफ औरत प्रधानमंत्री की यात्रा के सुरक्षा इंतजामों पर उँगली उठाती है और गिरफ्तार होती है। जरूर आई.एस.आई. रही होगी। चर्चों को तोडने वाली आई.एस.आई निकली। यहाँ तक जैन टीवी वाले तक आई.एस.आई. निकले। सिर्फ हुर्रियत वाले पाक साफ निकले। सत्ता का ऐसा खेल कब था? सत्ता कहे सो सच बाकी झूठ।

यह इतिहास को पलटता हुआ दो हजार था। इस साल हर घटना के पीछे आई एस आई नजर आने लगी। रितिक के कथित बयान के विरोध में नेपाल में जो हुआ वह सारा 'आई.एस.आई.' का रहा। हुर्रियत के नेता परम देशभक्त नजर आए। संघ ने बार-बार कहा कि कश्मीर के धर्म के आधार पर तीन टुकडे कर डाले जाने चाहिए। वे कर देंगे क्योंकि देशभक्ति का ठेका उनका है वे लाइन ऑफ कंट्रोल को सीमारेखा मान लेंगे तो भी कुछ न होगा। देशभक्ति होगी। यही कांग्रेस कम्युनिस्ट करते तो गद्दार कहलाते, देशद्रोही कहलाते। यह दो हजार था गद्दारी को देश भक्ति में बदलता हुआ। कुर्सी से चिपके अपने-अपने महकमों की मलाई बनाते दल मित्र दल रहे। ममता कांड ड्रामा फ्लॉप हुआ। तेदेपा का रूठना-मटकना जारी रहा। इस तरह हिंदुत्व का शासन अखंड रहा। तरह-तरह के समाजवादी क्लासिकल ढंग 'फासिस्ट' सत्ता की सेवा करते रहे। समाजवादिनी एक आरोपित क्रिकेटर को बचाने के जतन करती दिखी। यह समाजवाद का सीन था मनोहर गैर कांग्रेसवाद था।

सोनिया पूरे साल में सिर्फ एक बार मुस्कुराई वे नानी बनीं। कांग्रेस जहाँ की तहाँ शांत अवसर की तलाश में छीजती रही। जितेन्द्र ने लड़कर कांग्रेस के जनतंत्र की गवाही दी। मनमोहनी अर्थशास्त्र से पल्ला छुड़ाकर वह रैडीकल होने की असंभव कोशिश करती रही। पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी नायक ज्योति बसु ने स्वतः गद्दी छोडी। बुद्धदेव भट्टाचार्य आए। ममता का गणित बिखरा। मार्क्सवादी पार्टी ने अपना कार्यक्रम किंचित बदला और भूमंडलीकरण के दौर में नई समझ की खोज में निकली बिहार लालू व्याधि से नहीं बच पाया। जनता ने भाजपा व्याधि से लालू व्याधि को बेहतर पाया। निजी सेनाएँ लडती रहीं। बिहार 'हत्यारों का खेत' बना रहा। गुजरात फासिस्ट हिंदुत्व की प्रयोगशाला बना। भाजपा को पटकनी लगी। अब गुजरात अंग्रेजी सीख रहा है और गजगामिनी के विरोधियों को ढूँढ़ रहा है। यूपी फासिस्ट हिंदुत्व की दूसरी प्रयोगशाला बना। विश्वसुंदरी प्रियंका चोपडा को सुंदरता के दुश्मनों ने धमकियाँ दीं। लेकिन सुंदरता थी कि बरसती रही। तीनों खिताब भारत को मिले। प्रियंका मिस वर्ल्ड बनी। लारा दत्ता मिस यूनीवर्स बनी। दीया मिर्जा मिस एशिया पेसिफिक बनी। बदसूरत लोगों को इतनी सुंदरता नहीं भाई। वे सुंदरता की नाक काटने लगे। बदसूरती के पुजारियों ने खोलकर खेला। अपराधी माफिया हिंदू-मुसलमान बना। देशभक्त-देशद्रोही बना गृहमंत्रालय के सूत्रों के हवाले से ऐसी खबरें आती रहीं कि छोटा राजन ने आई.एस.आई के खिलाफ एक्शन किया है और उसका सदुपयोग हो रहा है। देश धन्य भाग हुआ। देशभक्त छोटा राजन पर जानलेवा हमला हुआ और वह फिर फिल्मी अंदाज में अस्पताल से भाग निकला। यह दो हजार का सीन था। आने वाले दिनों में कभी वह गृहमंत्री भी हो सकता है।

अमेरिकी जनतंत्र की महानता की पोल इस साल बुरी तरह खुली। ग्लोबलाइजेशन की गिरफ्त स्वयं अमेरिकी समाज और उसकी अर्थ व्यवस्था पर कसी और उसका

असर चुनाव मे दिखा। अमरीका की ढलान शुरू हुई। क्लिंटन देश के हीरो बने। भारत की तारीफ हुई। सूचना क्राति की सराहना की गई। उधर प्रधानमत्री ने अमेरिकी ससद मे भाषण दिया। फिर संघ के एक कार्यक्रम मे स्वयसेवक कहा। बड़ा वावेला मचा। विपक्ष अपने यहाँ एक आदमी को स्वयंसेवक भी नहीं होने देना चाहता। यह गलत है। अतत वे शाखा के ही आदमी रहे। स्वयसेवक हमेशा स्वयसेवक रहता है। प्रधानमत्री का घुटना हिदुत्व का घुटना बन गया। स्वदेशी अस्पताल में विदेशी डॉक्टर आए। तीन-चार दिन तक एक एक मत्री पद का आदमी घुटना की स्वास्थ्य बुलेटिन देता रहा। घुटना राष्ट्र की भावना का रूपक ही हो गया। बाजार बैठा रहा पूरे साल उत्पादन की दर मे गिरावट रही. लक्षित दर से दो-ढाई फीसदी नीचे होना ही था। चीनी माल ने बाजार फतह कर लिया। जब हिदुत्व का एजेंडा चलेगा तो असल भाव 'मदिर कॉरपोरेशन' के बढने है। उत्पादन होना है तो मदिर का होना है भक्ति के बाजार का होना है। दगाई वातावरण किस उत्पादन को बढा सकता है। साप्रदायिक भावनाओ का विकास कब उत्पादक रहा है? उस ओर का इस्लामिकतत्ववाद इस ओर हिदुत्ववाद को बढाता है। दोनों पाटो के बीच विकास पिसता रहा है।

परमादरणीय अदालत ने जनता का साथ फिर नहीं दिया। अदालतो ने व्यर्थ हो चुके विकास को जरूरी समझा। मेधापाटकर निराश हुई। आदिवासी लोग उजड़ने को तैयार रहे यह सदेश गया। यह व्यवस्था कमजोर की नहीं है। इस साल पूरी तरह से सिद्ध हुआ। दिल्ली के प्रदूषण को लेकर जनहित याचिका के फैसले का जोर हुआ। लाखा मजदूर बर्बाद हुए। छोटे उत्पादक तक सरकार से भिड गए लेकिन प्रदूषण विरोधी वर्ग हावी रहा। जनता के दिलों मे अदालतो के इन फैसलो ने गहरे भाव किए है। दो हजार का साल इस तरह एक जनद्रोही साल रहा। कमजोर के विरुद्ध ताकतवर का हथियार रहा। अयोध्या प्रकरण ने देश को एक बार फिर विभक्त किया। सुदर्शन की झूठी बम थियरी को उनके ही चेलो ने नकारा और वे झूठे साबित हुए। हिदुत्ववादी पहली बार कायर नजर आए तो अपने किए की सजा लेने के लिए तैयार नहीं लगे। देश भर उन पर हँसा और खूब हँसा। संघ ने एक 'आदर्श हिदू घर' का निर्माण करने की कोशिश की और देश भर को बताया कि वर वधुओ को हनीमून पर न जाने देना और अगर वे एक बिस्तर पर सोएँ तो कडी नजर रखना। वे हनीमून पर जाते है तो स्वार्थी हो जाते हैं और माता-पिता को भूल जाते है। सघ संजय गॉधी की तरह ही लोगो के काम-भावना के क्षेत्र में नितांत गोपन प्राइवेट क्षेत्र मे दखल करने की कोशिश करता रहा। संघ के इस जबर्दस्त सांस्कृतिक हस्तक्षेप के बाद सतयुग आने-आने को हुआ। कलियुगी प्रेम लीला पर मॉ-बाप ने पाबदियॉ लगाई। सेक्स से संस्कृति इतनी डरी कि स्वर्ग में बैठे महाराज शातनु भी भीष्म पर तरस खाने लगे।

इस साल के अतिम दिनों मे प्रधानमंत्री ने उदारता दिखाई और पुराना अन्न

जो गोदामों में लगभग सड़ रहा था गरीबों में बाँटकर अपने को गरीबनवाज कहलाने की कोशिश करने लगे। ज्ञानपीठ सम्मान राजनीति के कारण विभक्त हुआ निर्मल वर्मा को अधूरा मिला और अधूरा मिला पंजाबी के गुरदयाल को। साहित्य अकादमी पुरस्कार मंगलेश डबराल को पूरा मिला। साहित्य संस्कृति के ऐलीट जगत् में सन्नाटा व्याप्त रहा। मुरली मनोहर जोशी पाठ्यक्रम बदलते रहे। हिंदुत्व का इंजेक्शन लगाते रहे। लोग चिल्लाते रहे। विश्वविद्यालय के अध्यापक वर्ग का अपमान किया गया। लेकिन हुआ वही जो मुरली रचि राखा। मीडिया के क्षेत्र ने अमिताभ और उनका करोड़पति वर्ष की सबसे बड़ी मीडिया घटना रही। पक्के स्वयंसेवक जैन साहब आई एस आई के एजेंट कहलाए। सुषमा स्वराज सूचना प्रसारण में लौटीं लेकिन इस बार लो प्रोफाइल ही रखा। दूरदर्शन पर सबसे ज्यादा समय प्रधानमंत्री दिखते रहे। नंबर दो पर आडवाणीजी रहे। तीसरे पर प्रमोद महाजन रहे। सूचना प्रौद्योगिकी कानून इस साल आया। कन्वर्जेंस कानून की भूमिका बनी।

ग्लोबल डॉट कॉम कंपनियों की हवा निकल गई। विनिवेशीकरण का दौर चला। संचार निगम लिमिटेड बना। डाक कर्मचारियों की हड़ताल। ई-कॉमर्स के इस युग में कमजोर पड़ी। रितिक रौशन की 'कहो ना प्यार' है इस साल की सबसे हिट फिल्म रही। 'मोहब्बतें' ने दूसरा दरजा हासिल किया। 'मिशन कश्मीर' टैक्स फ्री हुई माफिया और फिल्म जगत् के संबंधों का नए सिरे से उद्घाटन हुआ पकड़ा-धकड़ी हुई। फिल्म को उद्योग का दरजा देने की बात चली। क्रिकेट फिक्सिंग की राजनीति में अजहर, अजय जडेजा खेत रहे बाकी के बच गए। यह सन् दो हजार रहा। बड़ी-बड़ी बातें पचा गया। अपराधी मोटे हुए। निरपराध बरबाद हुए। कोई बड़ी कविता, कोई बड़ी कहानी नहीं आई। इस साल लेखकों की शामें निकडमों में और बोतलों में गुजरीं। फासिस्ट बूटों की आहटें आती रहीं। बुद्धिजीवी आई.आई.सी. में मिलते रहे, लड़ते झगड़ते रहे। बहस की भाषा गाली-गलौज की हो गई। दो हजार एक के पहले दिनों में दो हजार का कचरा फैला पड़ा है। सब फँसे हैं और रास्ता नहीं सूझता। हिंदुवादी हिंदू समाज को मध्यकाल के टूटे-खूँटे से बाँध देने की कोशिश में हैं। उदार प्रगतिशील हिंदू-जनता बचने की कोशिश में है। दो हजार एक इस 'बाँधने' और 'बचने की कोशिश के संघर्ष का इतिहास होगा।

स राष्ट्रीय सहारा, 1 जनवरी, 2001

ग्लोबल में 'आदर्श हिंदू घर'

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के राष्ट्र जागरण अभियान के तहत जो सात पर्चे जारी किए गए हैं उनमें से शायद सबसे रोचक पर्चा 'आदर्श हिंदू घर' है। बाईस पेज के इस पर्चे की विशेषता यह है कि यह अंततः संघ-परिवार को उसका उत्तराधिकारी बनाकर उसकी आप्त श्रेष्ठता सिद्ध करने की कोशिश करता है। वह छोटे परिवार के विरुद्ध है और संयुक्त बड़े परिवार के पक्ष में है। वह मानकर चलता है कि संसार में सिर्फ हिंदू धर्म में ही परिवार 'ईश्वर-दत्त' है। जो ईश्वर-दत्त है वह सनातन है। वह ईश्वर के 'एकोहम बहुस्याम' के स्फुरण से पैदा हुआ बताया गया है। यह परिवार अनेक आक्रमण सह चुका है लेकिन यह व्यवस्था हजारों साल से अक्षुण्ण चली आ रही है और इन दिनों पाश्चात्य भौतिक सभ्यता का धक्का जो इसे लग रहा है वह भी यह सहन कर जाएगा क्योंकि इतिहास का पाठ यही कहता है। पाश्चात्य भोगवृत्ति का असर हुआ है और लोग 'कलियुग आया' कहकर 'सब नाश हो जाएगा' कहते हैं, लेकिन 'आदर्श हिंदू घर' सब कुछ बचा लेगा।

पर्चे के अनाम लेखक के मन में इन दिनों भारी उत्साह नजर आता है क्योंकि उसे मालूम हुआ है कि पश्चिम के लोग अब अपने परिवार के विघटन के दुष्परिणाम देख रहे हैं और भारतीय परिवार की माँग कर रहे हैं। परिवारों में परिवार 'नंबर वन' तो हिंदू परिवार ही है क्योंकि यही सनातन रहा है और सब कहीं परिवार या तो नहीं रहा है या देर से बना है। मार्गरेट थैचर हिंदू संयुक्त परिवार की भूरि-भूरि प्रशंसा कर चुकी हैं। घटिया पश्चिम हमला करता है तो थू है, प्रशंसा कर दे तो पर्चा-लेखक बुलबुल हो जाता है। इंग्लैंड में विवाह-विच्छेद होते हैं, परिवार टूटता है। मार्गरेट थैचर हिंदू परिवार की तारीफ करती हैं। संघ का यह पर्चा उसे प्रमाण की तरह रखता है—बिना यह जाने कि थैचर ने ही पूँजीवाद का वह चरण स्थापित किया था जो शुद्ध निजीकरण पर आधारित था और उनके समय में यदि परिवार टूटे तो इसलिए नहीं कि भोग ज्यादा था, बल्कि इसलिए कि बेरोजगारी ज्यादा थी। थैचराइजेशन में रोजगार के अवसर कम हुए। लेकिन थैचर अंग्रेज बहादुर ठहरीं।

यूरोप का पुराना साहित्य इस बात का प्रमाण है कि वहाँ औद्योगिक क्रांति

के दौरान काफी बडे परिवार रहे। 'एड संस' वहीं से आया। पूँजीवाद का वह चरण पारिवारिक ही था। पूँजीवाद मे परिवार बदले है, लेकिन खत्म कहीं नहीं हुए हैं और भारतीय परिवार को वे अगर कभी उल्लेख के योग्य समझते है तो नसीहत के लिए, यानी वे स्वय परिवार चाहते है। लेकिन संघ का काम्य परिवार अपने जैसा 'सयुक्त परिवार' है। उसमें सातत्य है। इतने अधिक सबधवाची अन्य किसी सभ्यता में नहीं हे जितने हिंदू परिवार में होते है। इस परिवार मे राम-भरत जैसे भाई होते हैं, लेकिन पर्चा कैकेयी जैसी माता को और दशरथ जैसे बहुविवाही पिता को भूल जाता ह। पर्चा मानता है कि भारतीयो के दीर्घजीवन का राज भारतीय परिवार व्यवस्था हे। भारतीय परिवार के लाभ इस प्रकार बताए गए हैं परिवार मे मेलजोल होता हे जड-चेतन से सबंध होता है, अह का विलय होता है, मै की जगह हम आता ह, स्वार्थ-भावना की जगह परमार्थ आता है, स्नेह-सहकार-विश्वास बढ़ता है, सहनशीलता दूसरों की भलाई, सबके हित की सोचने की बात आती है।

इस आदर्श हिंदू घर में तुलसी का बिरवा है क्योंकि तुलसी प्राणवायु का भडार है, रोग का इलाज है। नारियल या केले का वृक्ष है। वह प्रकृति के पास रहना है। बागीचा होता है, उसमे चबूतरा होता है। घर मे गोमाता अनिवार्य ह, उसका 'पचगव्य' देह शुद्ध करता है, उसकी सेवा मे पुण्य फ्री मे मिलता हे। गो पाले और निरोग रहे। हिदू घर में ब्रह्म मुहूर्त में उठने का विधान है। घर निर्मल होना है यानी मलरहित घर मे ही कण-कण मे रहने वाले प्रभु बिराजते है। उदय काल में प्रार्थना आदि होती है, श्लोक होते है, अब तो टेपरिकॉर्डिंग से भी भजनादि सुने जा सकते है। घर मे देवता का घर भी होता है, जप-तप करने के लिए। घर मे व्रत-तीज-त्योहार होते रहने हैं। घर मे जब यह सब हो तो घर घर है, अन्यथा होटल या हॉस्टल है। घर के पॉच दीपक होने है—देवता, कुटुब प्रमुख की दक्षता, गृहस्वामिनी की प्रसन्नता, बालको का उल्लास, अतिथि का सतोष। पॉच प्रकार के यज्ञ होते ह।

लेकिन पश्चिमी भोगवादी सभ्यता ने बिगाड़ किया है। लोग घरो मे फिल्मी गाने गुनगुनाते है। अगर कुछ बातो पर ध्यान दिया जाए तो ये दुर्प्रवृत्तियों दूर हो सकती है। घर मे सुबह-शाम प्रार्थना करें, सामूहिक भोजन करें, एक बार सप्ताह मे परिवारी गोष्ठी हो, सादगी का जीवन रहे। परिवार को लेकर ये सारी समस्याहीन लगने वाली पौराणिक किस्म की बातें गीताप्रेस गोरखपुर की किताबों से लेकर तुलसी के 'मानस' में और 'स्त्री सुबोधिनी' तक मे मिलती है। पर्चा कुछ भी नया नही कहता। जरूरत हो तो 'निर्णय सिंधु' देखे। 'धर्म सिंधु' देखे। उधर ऐसी बातो से पन्ने रंगे पडे हैं।

यह एक समस्याहीन, सुखी परिवार का सपना है। ज्यादातर भारतीय परिवार इसी प्रकार के यथार्थ और मिथक के भीतर रहते हैं। लेकिन वे चाहकर भी ऐसे आदर्श परिवार को नहीं बना पाते। वह टूटता रहता है और पता नही कब से टूटता

जा रहा है। धन या खेत को लेकर युद्धों की कहानियाँ अंग्रेजों के पहले की है। आल्हा-ऊदल की कुनबे की लडाइयाँ उनसे पहले की हैं। पृथ्वीराज रासो पहले का है। पर्चे को पढकर लगता है कि हम पुराण काल के किसी कल्पित परिवार में रहते हैं। यह एक मिथ है जिसमें कुछ देर रहना आसान है, लेकिन जीना असभव है। मिथ अगर इतना ही सपूर्ण होता तो बिगडता क्यो?

इस परिवार का आदर्श मॉडल है शिवजी का परिवार। पति, पत्नी और दो बेटे। लेकिन यह तो वही छोटा परिवार है जिसको पर्चा पश्चिमी मानता है। शिव का परिवार तो एकदम आधुनिक किस्म का छोटा परिवार है। सयुक्त परिवार मे शिव नही रहते। उधर भगवान् राम का परिवार भी छोटा परिवार है, यानी कुल चार जनो का है। ये परिवार अग्रेजो की दुष्ट पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण से पहले के ही समझे जाने चाहिए। तब पर्चा किस सनातन सयुक्त परिवार की बात करता है? राम के परिवार का आदर्श यही था कि सौतेली माता कैकेयी ने राम को वनवास और अपने बेटे के लिए गद्दी माँगी। कैकेयी की स्वार्थबुद्धि या मंथरा की कुबुद्धि अंग्रेजों ने नहीं बनाई होगी। पारिवारिक सत्ता की लड़ाई ठहरी। दुष्यत का परिवार तो और भी छोटा परिवार है जिसमे सिर्फ भरत होता है। तो, अपने यहाँ तो 'छोटा परिवार सुख का आधार' का नारा अपनी परपरा का ही हुआ। जिस सयुक्त परिवार की बात की जाती है वह कम-से-कम उक्त देवी-देवताओं मे नजर नही आता जो हमारे आराध्य है। हनुमान तो विवाह ही नही करते। पांडव पॉच ही होते है। हॉ कौरव जरूर रिकॉर्ड तोडते हैं। लेकिन जरा संयुक्त परिवार की महान् मर्यादा तो देखिए कि सिर्फ पॉच गॉवो के लिएसगे भाइयो मे खून-खच्चर हो गया। द्रौपदी को महान् सयुक्त परिवारी जनो के सामने देवर जेठो द्वारा नगा करने की कोशिश की गई। सयुक्त परिवार में ही महाभारत हुआ। बाल-बच्चे तक नहीं बचे।

यदि हम सघ के प्रस्तावित परिवार का घर बनाएँ तो भारत की भूमि कम पड़ जाएगी और समस्या गभीर हो उठेगी। अगर हम मान ले कि उनके आदर्श सयुक्त परिवार मे पर्याप्त संख्या मे बच्चे होगे, ऐसे बड़े परिवारों के अगर एक घर की कल्पना करे तो वह बीस-पच्चीस-पचास गज का मकान या फ्लैट तो होगा नही। फिर उसमे गाय होगी, बछडे होगे, बैल होंगे और उन्हें हम इसलिए मरने-मारने नही देगे कि हम गोभक्त होगे। उन्हे खाने के लिए चारा चाहिए तो उनके लिए ऐसी खेती और जमीन चाहिए होगी कि वे रह सके। इस तरह यदि हम फिलहाल भारत मे कुल बीस करोड छोटे-बड़े परिवार मान ले तो बीस करोड़ गाय और उनका चारा चाहिए, उनके लिए जमीन चाहिए। अगर संघ के पर्चाकार बताएँ कि यह कैसे होगा और कब तक होगा तो हम भी एक गाय की सेवा शुरू कर दे। यदि मौजूदा हालात में गाय पाली गई तो फ्लैट में चढाने के लिए लिफ्ट चाहिए जो कि एक घोर पश्चिमी यत्र है। और इतने लोग घर से बाहर 'मल त्याग' करने

कहा जाए, बनाया जाए.

परिवार के व्यवसाय मे जाना हिंदू घर का आदर्श बताया गया है। यह शुद्ध मध्यकालीन वर्णवाद है। इस आदर्श हिंदू घर मे 'शूद्रो' को तो मल-मूत्र ही उठाते रहना है। दलित आदोलन कुछ और ही कहता है तो ऐसे में यह बनेगा कैसे? अंतत पर्चा वृद्धों के पक्ष में किंतु वृद्धाश्रमों के विरुद्ध और परिवार के युवा दंपतियो के हनीमून का दुश्मन हो उठता है। पर्चा कहता है कि हनीमून पश्चिमी कल्पना है। पद्रहवी-सोलहवी सदी में ईसाई लोगों ने भोगवाद अपनाया, तबसे उनके मन मे पाप-पुण्य की कल्पनाएँ समाप्त हो गई। यह समय पश्चिम मे औद्योगिक क्राति का है जिसके बाद उसने दुनिया पर साम्राज्य स्थापित किया। इस नजर से उद्योगवाद अच्छा नजर आता है, लेकिन पर्चा उसे भोगवाद कहता है। उसकी निगाह मे उद्योगवाद भोगवाद है। स्पष्ट ही पर्चा आदर्श हिंदू परिवार को किसी पूर्व-औद्योगिक समय मे बनाता है। अब आपको अगर आदर्श हिंदू परिवार चाहिए तो पहले औद्योगिक सभ्यता के निशान मिटा दीजिए और अपने आदर्श मे निवास कीजिए।

हिंदू समाज कोई सन्यासियों का समाज नहीं रहा है। यहाँ लक्ष्मी की पूजा होती है, जो ऐश्वर्य की देवी है। ऐश्वर्य भोग का दूसरा नाम कहा जा सकता है। भगवान् विष्णु स्वय क्षीर सागर में लक्ष्मी के साथ रमण करते हैं। रूपक मे लक्ष्मी यानी सपदा उनके पैर दबाती है। भोग का ऐसा अद्भुत रूपक है। अब यह न कहिए कि भगवान् विष्णु का 'भोग' पश्चिमी साजिश है। लेकिन हम उस भोग की बात करे जिससे परिवार टूटते है और युवा दपति आजाद होते हैं। यह भोग है . हनीमून। सूत्रीकरण अद्भुत है : विवाह होते ही मधु चद्र, यानी शेष परिवार को छोडकर दोनो का जैसा लगे वैसा आपसी व्यवहार करने की छूट। इससे इस विचार का बीजारोपण हुआ कि शेष परिवार आपकी स्वतत्रता मे बाधा है। विशाल परिवार की जिम्मेदारी से व्यक्ति छुट्टी लेने लगा है। मेरे माता-पिता की भोगेच्छा के कारण मेरा जन्म हुआ है, इसलिए उनकी मुझ पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी नहीं है, पर विचार प्रबल होकर अनेक 'ओल्ड एज होम्स' यानी वृद्धाश्रम बनने लगे। गजब का तर्क है। भारतीय परपरा मे ही वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम की व्यवस्था बताती है कि एक उम्र के बाद माता-पिता को घर छोड़ना ही होता था। पुरखे स्वार्थी नहीं थे, वे युवा के लिए जीवन भोगने की जगह बनाते थे और स्वय वनगमन करते थे। यह भारतीय आश्रम व्यवस्था कहलाती रही है। क्या किसी पश्चिमी हमले ने ऐसा किया कि आश्रम बना दिए? धन-सपत्ति के लिए किसने क्या-क्या नही किया? पर्चा दरअसल पूँजी के सबधो को पश्चिमी प्रभाव-भर मानता है। पूँजी को, उसके बाद को वह वास्तविक नहीं मानता। नतीजा कि वह एक सपने मे रहता है और उसी मे सबको ले जाना चाहता है। अगर यह सपना इतना पूर्ण होता तो गिरता ही क्यो? पर्चे का शत्रु दरअसल सेक्स है। यह अमेरिका के एक स्कूल में बिनब्याही छात्रा-माँओ के बच्चो को देखकर चकित

रहता है। ऐसा लगता है कि बिनब्याही माँएँ पश्चिम में ही होती हैं
बिनब्याही माँ थी कि नहीं? और भी अनेक चरित्र मिल जाएँगे। और
बिनब्याही माँओं का है?

पर्चा मनोरंजक है। वह समय के विपरीत अतीत में दौड़ लग
नई बात से डरता है। उसके पास नया कुछ नहीं है।

• जनसत्ता, 16 जनवरी, 2001

धर्म का अखाड़ा और सैकूलरवाद

वह डुबकी अगर कांग्रेसी तमाशा थी तो भी वह संघ और विश्व हिंदू परिषद की चमक को फीकी करने वाली रही। वह डुबकी अगर राजनीति थी तो वह भाजपा को निरुत्तर कर गई। परम धार्मिक आडवाणी-अटल दिल्ली मे ही रहे और एक विदेशी ईसाइन ने स्वय को हिंदू-दृश्य में स्थापित कर दिया। संघ के लिए यह एक झटके की तरह है जिससे उसे उबरना है। यह बताता है कि संघ की हिंदू चिह्नों की चैंपियनशिप बड़े सरल तरीको से गिराई जा सकती है। सोनिया की डुबकी का अर्थ पूरे संदर्भ मे पढा जाना चाहिए। हिंदू समाज की पॉपूलर कल्चर के प्रतीक महाकुंभ ने ऐसा अवसर दिया है। मौका पाकर सोनिया ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके तमाम अनुषगों को यह चुनौती दी है कि हिंदू समाज और हिंदू धर्म हिंदुत्ववादी राजनीति का 'विवादित क्षेत्र' है और हिंदू वोट-बैंक एक स्पर्धा का क्षेत्र है और कांग्रेस और सोनिया गांधी उसके लिए तैयार हैं।

सोनिया ने हिंदू चिह्नों के सबसे बड़े उत्सव में जाकर बीच धार में गंगाजल का आचमन करके और घुटनों तक जल में प्रवेश करके यह तो बताया ही है कि संघ उन्हें लाख ईसाई और विदेशी कहे, वे हिंदू समाज की एक अंग हो सकती हैं, उसके चिह्नो को अपना सकती हैं। उन्होंने यह भी संकेत दिया है कि हिंदू धर्म के भीतर रहने वाले लोगो को पुराने, लगभग स्वतःसिद्ध मान लिये गए सेकुलरवाद के जरिए अब संबोधित नही किया जा सकता। उन्हे संबोधित करने के लिए हिंदू चिह्नों को नए सिरे से जगाना और उनको कट्टरता रहित करके अपनाना होगा। यह कांग्रेस का 'सेकुलर राउंड नंबर दो' है जो लंबी हिचक और दुविधा के साथ आया है। सोनिया गांधी की डुबकी की दूसरी उपलब्धि शंकराचार्य स्वरूपानंद का वह बयान है जो न केवल विश्व हिंदू परिषद के हिंदू समाज को अपना पिछलग्गू बनाने के अहंकार को चुनोती देता है, बल्कि हिंदू समाज के बहुलतावादी भाव को प्रमाणित करता है कि वह अभी जीवित है। वह बताता है कि हिंदुत्व विवाद-रहित विचार न होकर अब एक 'विवादित विचार' (कंटेस्टेड) है और उसकी व्याख्या वही नहीं है जो संघ देता है, बल्कि वह भी है जो शंकराचार्य ने दी है या कोई सेकुलर दे सकता है। शंकराचार्य

ने विश्व हिंदू परिषद को एक दुकान भी कहा है जो कि सच है। ग्लोबल मीडिया के इस समय मे विश्व हिंदू परिषद को दी गई यह चुनौती किसी नास्तिक सेकुलर ने नही दी है, बल्कि शंकराचार्य ने दी है। यह सेकुलर विमर्श के लिए महत्त्वपूर्ण है।

यहाँ से हम नए सेकुलर हिंदू विमर्श के कुछ नए चिह्नो को एक क्षण के लिए बनता देख सकते है। यह सभव है कि सोनिया इस विमर्श को आगे तक ले जान मे असमर्थ रहे और शकराचार्य भी उसे आगे न ले जा पाएँ लेकिन यह हस्तक्षेप इतना जरूर बताता है कि हिंदू समाज मनचाहे ढग से हॉकी जाने वाली भेडो का झुड नहीं है और उसे एक मकान मे बद वोट बैंक बनाने वाले जान ले कि हिंदू समाज उनकी तमाम कोशिशे के बावजूद मूलत एक आजाद-खयाल समाज है जिसमे विश्व हिंदू परिषद को सरे आम चुनौती दी जा सकती है। सोनिया गाँधी की यात्रा ने उस 'एकात्मता' की दरारें खोल दी हैं। कुभ ऐसा अवसर बन गया है जिसम संघ और विश्व हिंदू परिषद को उन्हीं के खेल मे अचानक पकड लिया गया है। वह अपनी प्रतिक्रियाओ में बौखलाया हुआ लगता है। अधिकतम उसे यह कह कर संतोष करना पड सकता है कि उसके दबाव मे सोनिया कुभ गई। लेकिन इससे उसे चैन न मिलेगा।

उत्तर प्रदेश मे भाजपा सरकार के चलते सघ और विश्व हिंदू परिषद ने इस बार यह अहकार पाला था कि अब हमे चुनौती देने वाला कोई नही है। सगम का पूरा फैलाव सिर्फ उन्ही का है, लेकिन नागा बाबाओ ने और शकराचार्य ने उनकी नही मानी। यह एक बडी खबर है जिसे मीडिया ने पर्याप्त चर्चा दी है। सोनिया की यात्रा इसी पृष्ठभूमि मे परिषद से बाहर का हिंदू—यथार्थ बनाती है जो परिषद के नियत्रण से बाहर है। हम कह सकते है कि विश्व हिंदू परिषद जहाँ पहुँच गइ वहाँ से उसे नीचे ही उतरना है। उसकी ढलान शुरू है क्योकि उसे हिंदू जमीन पर ही चुनौती मिल रही है। चुनौती का मिलना एक क्षीण किंतु महत्त्वपूर्ण सेकुलर क्षण है क्योंकि वह कट्टरता को कमजोर करता है। इस क्षण को कोई महान् क्षण नहीं कहा जा सकता, लेकिन महानता के अभाव में उसका महत्त्व भी नही भुलाया जा सकता। इस क्षण को हम संघ और उसके अनुषङ्गो की परेशानियों का पुरस्कर्ता भी कह सकते है। हो सकता है कि हिंदू जमीन से ही परिषद का जो विरोध शुरू हुआ है वह एक लगातार का सत्य बन जाए।

नास्तिक किस्म के सेकुलर कह सकते है कि यह एक तमाशा है। कुछ यह भी कह सकते हैं कि यह भाजपा की नकल की तरह है और आप भाजपा की नकल करके दूसरी भाजपा ही हो सकते है। ऐसी आलोचनाएँ उस पुराने और हार गए सेकुलरवाद की प्रतीक हैं जो हिंदू समाज को उसकी गति में और उत्तर-बाबरी मस्जिद दौर मे हिंदुत्ववादी शक्तियों द्वारा 'अगवा कर लिये गए' समूह के रूप मे ठीक ठीक नहीं देख पाता और जो इस धर्म-स्पर्धी समय मे धर्म के चिह्नों से भी कोई मतलब

नहा रखता। वह राजनीति म धर्म की वहाली क द्वारा किए गए विराट प्रस्थापना-परिवतन की शिनाख्त नही कर पाता और नतीजतन रोज धर्म की बढ़ती कट्टरता की माग के आगे पीछे हटता जाता है।

संघ हिंदू जनता के एक अल्पमत हिस्से को यह समझाने मे कामयाव हुआ हे कि हिंदू जनता के साथ उसी के देश मे 'अन्याय' होता है। वह धर्म के विमर्श को सस्ता और सतही सभ्यता-विमर्श वनाकर हिंदू समाज को यह समझाने मे कामयाव रहा है कि यदि वे उसके झडे तले एकजुट एक कमान मे आ जाएँ तो सारी समस्याएँ हल हो सकती हैं। इस क्रम मे संघ ज्यो-ज्यो हिंदू जनक्षेत्र और विमर्श के वीच आया हे, उसकी शक्ति ज्यों-ज्यो बढी है, उसके अतर्विरोध भी सामने आने लगे है। कुंभ ने इसे प्रमाणित किया है। उससे परेशान हिंदू लोग अब वोलने लगे हैं। हम देख सकते है कि अगर हिंदुत्व की अपनी सीमा में संघ को चुनौती दी जाए तो वह अवाक् रह जाता है।

यह विश्व हिंदू परिषद ही थी जिसने इस मेले मे ठसके से कहा कि राम मदिर का निर्माण कोई रोक नही सकता और जो भी दल मंदिर के पक्ष की राजनीति नही करेंगे वे राजनीति से बाहर हो जाएँगे। परिषद को नहीं मालूम था कि चिह्नों की ऊपरी लडाई मे उनकी चुनौती कमजोर भी रह सकती है। अगर आज धर्म का चिह्न-युद्ध कुछ व्यापक हो जाए और सेकुलर उसमे हस्तक्षेप करने लगे तो सघ की समस्या वस्तुत: वढ जाएगी। आज ज्योति वसु, मुलायम सिंह यादव और ए.वी. वर्धन सास्कृतिक खेल मे ही डुवकी लगा दें और साथ ही कहें कि हमारा हिंदू संघ के हिंदू से अलग उदार और जनतांत्रिक है तो सघ की दुकान का क्या बनेगा, यह सोचा जा सकता हे। सोनिया की डुबकी ने यह विमर्श वनाया है कि हिंदुत्ववाद को पीटने के लिए हिंदू अखाडे मे ही लडना होगा।

सोनिया गाँधी का नेतृत्व जिस तरह की लवी खामोशियों से गुजरता रहा हे ओर जिस प्रकार वे एक कम बोलने वाली और चमत्कार-विहीन महिला हैं उससे बार-बार लगता है कि उनकी डुबकी के सदेश काग्रेस के लिए वहुत जल्दी भुला देने वाले होंगे जवकि हिंदुत्ववादी ताकतो से हिंदू समाज को छुडाने के लिए एक अथक दैनिक विमर्श चाहिए। काग्रेस का संगठन जिस हालत मे है, उससे यह उम्मीद करना कठिन ही है। यही अन्य सेकुलरो की भूमिका आती है। यहीं धर्म, सस्कृति ओर राजनीति की संघ द्वारा बदल दी गई प्रस्थापनाओं के बरक्स नई प्रस्थापनाओं के निर्माण की वात आती है।

सेकुलरो को समझना होगा कि सघ के द्वारा उग्रता के साथ सक्रिय किए गए धार्मिक चिह्न भाजपा के सत्ता से वाहर जाने के वाद भी सक्रिय रहेंगे क्योंकि जिस सलत स्पर्धी धर्मोन्माद मे वे बनाए गए है, वह एक दिन मे जाने वाला नहीं है। सेकुलर और विकासमूलक प्रस्थापना की जगह सघ द्वारा लाई जा रही धर्म-केंद्रित

अनीत मूलक प्रस्थापना सिर्फ हिंदू समाज का ही पिछडपन मे नहा बाध रही, अन्य धम समूहो को भी पीछे हटने की स्पर्धा में डालकर समूचे समाज को एक मध्यकालीन गुफा मे ले जाना चाहती है। यह विराट साम्कृतिक विमर्श स्वयं हिदू समाज की प्रगतिशीलता के विरुद्ध है। वह उसमें आकर परेशान ही होता है। धर्माधता के चिह्नो का यह ऐसा वनीकरण है कि मदिर या मस्जिद की खातिर सडकों का निर्माण तक रुक जाता है। धर्म और उसका व्यापार अब एक गौरव की बात है जिसे धर्म-सहिष्णु हिदू ठीक नहीं समझता। धर्म का राजनीति और अर्थ से यह जुडाव एक नया जटिल तत्त्व है जो धर्म के सत्ता-विमर्श को दुगुनी ताकत देता है। धर्म के पवित्रता के भाव को हिसक या धन की लोलुपता का औजार बनाया जा रहा है। धर्म की जगह बढती है तो उतना ही वह मैला होता जाता है। जितना वह मैला होता है उतना ही उसे मेला करने वाले शुद्धतावादी कहते है कि उसे खतरा है। दरअसल उसे सबसे बडा खतरा उन्ही से है जो उसे दुकान बनाए हुए है। साधु समाज को, जो व्यापक समाज के दैनिक गृहस्थ जीवन से बाहर आश्रमों मे रहने का आदी था, सघ ने समाज की दैनिकी तय करने के लिए सन्नद्ध-सा कर दिया है। धर्म के चिह्न बाजारी स्पर्धा मे कुछ इस कदर सक्रिय किए गए है कि हिदू-मुसलमान आदि समूहों में वह उदार सोच वाला व्यक्ति बेहद अकेला और खामोश है जो कभी आजादी की लड़ाई के दौरान अपने-अपने समूहो के बीच सुधार और विकासमूलक कार्यभार तय किया करता था। सघ का हिंदुत्व विकासमूलक न होकर ह्रासमूलक है। उसमे समाज सुधार की कोई चेतना नही है। दहेज प्रथा, सती प्रथा उसकी परपरा मे है।

ऐसे में अपने सेकुलरवाद को स्वत: सिद्ध मानने वालों को सोचना होगा कि इतना अच्छा विचार होते हुए भी विशाल हिंदू जनता सेकुलर विचार को क्यों नहीं अपनाती और क्यो इस समाज को एक विकासमूलक श्रमशील उदार समाज नही बना रही? इसका कारण यह है कि सेकुलरवादी विचार ने कहीं यह मान लिया था और है कि हिदू समाज का सेकुलर व्यवहार करना उसकी अपनी सहज जिम्मेदारी और उसका स्वभाव है। वे यह भूल गए कि सेकुलर विचार सर्वत्र रोज अर्जित करना होता है। धर्म मे रहने वाले आम लोग जब धर्म और अपने रोज के काम में भेद करते हैं तो उन्हें रोज उस विचार को बनाना होता है जहॉ धर्म और काम अलग-अलग होने लगे है। इसे करना पडता है। सेकुलर सोच ने जिस तरह पिछले सघर्षो मे अपने को पेश किया उसमें और नास्तिक किस्म के आचरण में कोई भेद नही नजर आता। सेकुलर विमर्श इस सबोधन क्षेत्र के बाहर हो गया क्योंकि वह धार्मिक चिह्नों से स्वय को बाहर पाता था और है। संघ की ताकत इसी शून्य में बढ़ी है। सोनिया गॉधी की डुबकी ऐसा ही एक प्रतीक है जिससे सेकुलरवादियों द्वारा अपने आप ही किया बद द्वार खुलता है!

लगे हाथ शकराचार्य स्वरूपानंद ने एक और द्वार खोल दिया है। विश्व हिदू

परिषद को हिंदुत्व की एक 'दुकान' कहकर उन्होंने हिंदुत्ववादियो द्वारा की जा रही हिंदुत्व की व्याख्या को समस्याहीन नही रहने दिया है। इसमे हिंदुत्ववादियो के धर्म के अनुभव को ही चुनौती दी गई है। कहने की जरूरत नही कि शकराचार्य का यह कथन परिषद के विश्वविजयी होने के दुरभिमान को तोडता है, उसकी भव्यता का तोडता है। सोनिया गाधी की डुबकी से जुडा शकराचार्य का बयान यह भी कहता है कि विश्व हिंदू परिषद हिंदू समाज की प्रतिनिधि सस्था नही है। वह कहना है कि यह एक प्रतिनिधित्व-रहित संस्था द्वारा धर्म मे राजनीति को लाना है। वह कहना है कि यह पवित्र धर्म-भाव मे धन और लालच और स्पर्धा को लाना है। सच्चा सेकुलर विमर्श धर्म का दुश्मन नहीं हो सकता। शायद वही धर्म की पवित्रता को अक्षुण्ण रख सकता है क्योकि वही धर्म के तमाम अ-धार्मिक उपयोगों को समझ सकता है। कुभ की इस अर्ध-डुबकी ने यह भी बताया है कि अगर सघ को हिंदू अखाड मे ही चुनौती दी जाए तो उसके पास कोई नए तर्क नही बचते।

• जनसत्ता, 31 जनवरी, 2001

भूकंप के विमर्श

भूकप की भी एक राजनीति हो सकती है क्योंकि भूकप हमेशा एक राजनीति मे ही गिरता है और उसे गिराता है या उठाता है। प्राकृतिक आपदा को इस समय मे किसी गोलमटोल मानवीय आपदा की तरह पढना उस भेद को छिपाना है जो ऐसे मौकों पर भावुकतावादी राजनीति मे अक्सर ही छिपाया जाता है। ऐसे मौको पर सत्ता की आलोचना को देशद्रोह कहना या विघ्न कहना भी ऐसा ही छिपाव है, लेकिन भूकप अपनी राजनीति की तरह अपनी समीक्षा भी लाता है। इस भूकप ने गुजरात की बहुमंजिला इमारते ही नहीं गिराई है, गुजरात की सरकार के हिंदुत्ववादी गुमान को भी धज्जियॉ उडा दी है। निश्चय ही भूकंप ईश्वर ने नही भेजा, लेकिन उसके आने के बाद वह अभिमान गिरा है जो कहता था कि सध आपदा में सबसे आगे होता है। गुजरात के प्रशासन ने बताया है कि वह कही नही होता। यदि वह कही है तो उस जनआलोचना का जवाब देना है जो कहती है कि प्रशासन ने सुध नही ली।

इस भूकप ने जहॉ सहज मनुष्य की सच्ची करुणा और हिम्मत के नमूने दिखाए है, वही उसने प्रशासन की करुणा को विदाई दे दी है। जा चुकी करुणा और आ चुके हिसाब के बीच कुछ हिम्मतो के किस्से बिलखते है कि निर्लज्ज आदमी फिर अपने को तैयार करता है अगली बार मर जाने वाले के लिए। पहला सबक यह है कि उसे अपना खोजने-खोदने वाला अपने साथ एडवांस मे तैयार रखना होगा कि जब वह दबे तो उसे उसके आदमी खोज निकाले। यकीन करे 'डिजास्टर मैनेजमेट कक्ष' आदि के बावजूद भारत मे हर कहीं ऐसी स्थितियो मे वही होगा जो गुजरात मे पूरे सप्ताह होता रहा। प्रशासन सोएगा या ऊँघेगा और लोग जब मर-खप जाऍगे तो कहेगा कि मनोदल तोडने की बात मत करो। फिर एक प्रधानमत्री कहेंगे कि गुजरात के सदर्भ में लोगो को करो के बोझ के लिए तैयार रहना चाहिए। आगे से हर आपदा एक टैक्स में बदल जाएगी। करुणा का सहज भाव जो देश-विदेश मे व्यापा, वह अचानक छला हुआ महसूस करेगा। सहज भाव की करुणा प्रधानमत्री के वक्तव्य के बाद एक हिसाब मे बदल जाएगी। जो दे रहा होगा वह कहेगा कि

जब टैक्स ही देना है तो क्यों दे। यह वही मिडिल क्लास है जिसे तत्त्ववादी धिक्कारते नही अघाते। वही टैक्स देगा। सेठ-साहूकार कब टैक्स देते है? उनके दान पर तो टैक्स की छूट मिलती है।

प्रधानमत्री के वक्तव्य का समय बताता है कि जनता के बीच उपजी सहजात करुणा के भाव का उनके लिए कोई मोल नही था। जब लोग स्वयमेव दे रहे हे तब लोगो को टैक्स के लिए तैयार करना आपदा को राष्ट्रीय मानने जैसा ही ह। तब उन्हे उसे राष्ट्रीय आपदा ही कह देना था। वे तुरत ससद की सर्वदलीय बैठक बुला सकते थे और प्रस्ताव कर सकते थे। वे फालतू और अनत सरकारी खर्च मे कटोती का प्रस्ताव भी कर सकते थे। लेकिन नही। कहने की जरूरत नहीं कि इस वक्तव्य मे राहत की राजनीति निहित है। प्राकृतिक आपदा को बजट से जोड कर क्या बजट की कठोरता को सहने योग्य बनाया जा रहा है? बजट को आपदा मे जिस तरह जोडा गया उससे राहत की करुणा का क्षेत्र कमजोर ही हुआ। उसमे एक चतुराई भी पढी जा सकती है। प्रधानमत्री ने कहा कि ये टैक्स पिछले दिनों की सरकारी नीतियों के फलस्वरूप नहीं लगेगे, बल्कि गुजरात के भूकप की राहत के लिए लगेगे।

टैक्स को राज्य की नीतियो की हिफाजत के लिए क्यो खड़ा किया गया? सकट मे भी यह क्रूर सवाल पूछा जाना चाहिए क्योंकि प्रधानमत्री के वक्तव्य आपदा के बोझ को सरकार के बोझ से मिला देने की अनीति कर रहे हैं। बडे लोग जब बोलते हैं तो उनके देशकाल का भी हिसाब होता है और उनके मानी दूर तक जाते है। ऐसा लगता है कि सकटमोचको यानी सकट-प्रबंधको आदि ने यह पहले दिन से मान लिया कि सकट को टैक्स से ही निपटाना है, स्वयसेवी प्रयत्नो से वह नहीं निपट सकता। कहने की जरूरत नही कि प्रधानमत्री का वक्तव्य जिस तरह आया उसमे टैक्स से ज्यादा कुछ कहा गया था। उसमे समझाया गया था कि बजट कुछ अधिक कठोर हो तो लोग गुजरात के नाम पर सह ले। यह अर्थ इस देश की चतुर-सुजान जनता से छिपा नहीं रह सका है। इस वक्तव्य से सरकार की कार्यनीतियो के सकट का पता जरूर चलता है। इससे मालूम होता है कि हर संकटमूलक मुद्दे पर भाजपा की गठबधन सरकार के पास हर बात का एक ही इलाज है प्रधानमत्री। पिछले दिनो जब मदिर का मामला प्रधानमत्री ने अचानक उठाया तो मालूम हुआ कि वे मदिर निर्माण के पक्ष में अपनी छवि के बल पर एक पूर्वपीठिका बनाने का काम कर रहे हैं।

भूकप ने जो सवेदना जगाई, उसका वध सिर्फ इसी तरह नहीं किया गया। वह गुजरात के प्रशासन के निकम्मेपन ने भी किया है। यह स्वाभाविक ही था। हिंदुत्ववाद के हिंसक प्रयोगो के लिए कुख्यात गुजरात की सरकार आपदा के वक्त लोगो के साथ नहीं दिखी। प्रशासन को कोसती जनता अपने आप ही अपनी रक्षक

रही। प्रशासन राहत देने में सही समन्वय तक नहीं कर सका। जनता के निजी क्षेत्र के लोगों ने ही राहत ली और दी। ऐसे में कैसे माना जाए कि जो राहत टैक्स के रूप में ली जाएगी वह सही हाथों में पहुँचेगी? प्रशासन ने लोगों के विश्वास को तोड़ा है। जो प्रशासन संघ की शाखा बना हो और अतीत की डुबकी लगाता हो उसके लिए आपदा भगवतलीला ही है। कलजुगी रामभक्तों का यह परम विचार ही उनके आचरण का प्रेरक रहा होगा। वे भगवान् की लीला में हस्तक्षेप नहीं करते।

प्राकृतिक हादसों और आपदाओं के ऐसे भीषण अवसरों पर सबसे पहले वही जनक्षेत्र और उसमें सक्रिय संगठन ही काम आते हैं जो जनता के बीच होते हैं। उनकी बची सामर्थ्य ही करुणा का भाव बनकर रक्षक हो उठती है। उसके लिए प्रशासन का आदेश बेकार होता है। इसमें छोटी-सी करुणा का निर्माण हुआ है जिस पर गर्व किया जा सकता है। वे सैनिक, औद्योगिक सुरक्षा बल के लोग, देशी-विदेशी लोग यदि सक्रिय हुए तो इसका एक कारण उनकी नीति और आदेश रहे और दूसरा पक्ष उनकी संवेदनशीलता रही। ऐसे मौकों पर प्रशासन का तंत्र भी उचित संवेदनशीलता के बिना काम नहीं कर सकता। प्रशासन ने जो कुछ किया उसमें यह संवेदनशीलता नहीं दिखी। बाढ़ को लेकर जो किंकर्तव्यविमूढ़ता उड़ीसा में दिखी वही गुजरात में भी थी। इसे मीडिया की बनाई आलोचना नहीं कहा जा सकता।

भूकंप ने निष्ठुरता के उन खेलों को भी खेल दिया जो करुणा की विदाई के बाद खेले ही जा सकते हैं। कहते हैं कि सांसदों का एक समूह एक बैठक में इस बात पर झुँझलाने लगता है कि अब उसे विदेश भ्रमण का मौका नहीं मिल पाएगा। कोई कहता है कि अगर एक बार निकल गए होते तो किसे मालूम पड़ता? दिल्ली भाजपा की नेत्री कहती है कि अहमदाबाद के प्रभावित लोगों को नए कपड़े चाहिए, वे पुराने नहीं लेंगे क्योंकि वे संपन्न हैं। यह भूकंप का 'वर्ग तत्त्व' है जिसके लिए भाजपा नए कपड़े चाहती है। नरेंद्र मोदी एक चैनल पर आकर कहते हैं कि गुजरात के लोगों को खाना नहीं चाहिए, वे खुद कर लेंगे, लेकिन उन्हें धन चाहिए, आप धन दें। यह जनता के दान-भाव को शर्त में बाँधना है। यह जनता से यथाक्षम दान की अपील नहीं है। जिस जनता के पास पैसा नहीं है वह इस राहत से बाहर की जा रही है। राहत कार्य में कैसी उदात्त निष्ठुरता है? आप आलोचना करेंगे तो देशद्रोही होंगे। एक पटेल परिवार के लोग एक आपदाग्रस्त याचक को ट्रक से बाँधकर और घसीटकर सिर्फ इसलिए मार डालते हैं कि उसने वहाँ भुज क्षेत्र में आई राहत सामग्री को गोदामों में ले जाने से ताकतवर पटेलों को रोकने और उसे बाँटने की प्रार्थना करने की हिमाकत की थी। वह भूखा था और कोई राहत नहीं थी। प्रशासन की निष्क्रियता पटेलों की सक्रियता बन गई।

किसी सच्ची करुणा के अभाव में भी जो मानवीय संवेदनशीलता के दृश्य दिखे, उनसे बड़े वे दृश्य बने जो करुणा के नए 'ड्रामों' से ओतप्रोत रहे। प्रमोद

महाजन को वन-अप होने की उतावली हुई। वे बोले कि राज्यसभा के सदस्य अपने सासद कोष को दें। जैसा कि वे ऐलान कर रहे हैं, अन्य करें। उन्हे आशा हैं, ऐसा होगा। कुछ सरकारो ने कहा कि वे इतना देगी। यह सब करुणा का 'कैशीकरण' भी है। करुणा का कोई भी प्लावन अगर कही है तो वह किसी न किसी हेतु से जुडा है। सरकारी कर्मचारी यदि एक दिन का वेतन देगे तो प्रसन्नता से नही देग। यह यथार्थ है जो बताता है कि पिछले दिनो जो जन क्षेत्र बना है वह कट्टर और धार्मिक ज्यादा है, साप्रदायिक ज्यादा है, लेकिन उदार, सास्कृतिक और मानवीय कम है। वह एक हिसाबी-किताबी कर्म है। यह नितांत स्वदेशी तत्त्व है। उसमे किसी दानी का पागलपन नही है। मीडिया के इस युग मे करुणा भी छवि बनाने का अवसर बन जाती है।

इस जनक्षेत्र के गिरने के अनत प्रमाण मिले है। कुछ पुलिस वालो ने एक दुकान पर जाकर राहत के नाम पर अच्छे चावल की माँग की। आपदा से प्रभावित इलाको मे जब चोर घुस पडे और लूटपाट करने लगे तो इसी जनक्षेत्र की हानि के प्रमाण मिले। इस हानि के कारको को बहुत-सी मामूली घटनाओ के एक क्रम म रखकर पढा जा सकता है। हिंदुत्ववादी सास्कृतिक वातावरण एक चुटकुले की तरह भी चलता है। पाकिस्तान ने मदद भेजी। जाहिर है कि यह पाकिस्तान की 'बहती गगा में हाथ धोने' वाली बात थी। ऊपर से सहायता की मुद्रा रही होगी। यह मुद्रा यदि नीति थी तो उससे सही तरह से निपटा गया। लेकिन हिंदुत्व मे पाकिस्तान के बारे मे एक लोकप्रिय मिथ यह रहा कि वहाँ तो हर चीज मे मीट होता है। नतीजा यह कि उनका भेजा सामान खाने योग्य नहीं माना गया। यदि हम इस सूचना को नरेंद्र मोदी के इस वक्तव्य से मिलाएँ कि "गुजरात के लोग खाने का इतजाम खुद कर लेगे" तो यह स्पष्ट होता है कि गुजरात के भूकपीय यथार्थ को एक हिंदुत्ववादी यथार्थ बनाने की कोशिशे जारी है और उसे उसी तरह से पढा भी जा रहा है। चौका नष्ट हो गया है, लेकिन चौके की पहरेदारी जारी है। यह स्वाभाविक है। गुजरात हिंदुत्ववाद के आदर्श की स्थापना के लिए भाजपा और सघ के द्वारा मूलत एक प्रयोगशाला के रूप मे काम करता रहा है। भुज में राहत काम में समन्वय का अभाव, राहत और प्रशासन में निहित हिंदुत्ववादी हिचक को बताता है। यह एक हिंदुत्ववादी भूकप का होना बताता है।

यो मानवतावादी कहते हैं कि आपदा की कोई राजनीति नही होती। लेकिन आपदा के बाद जो होता है वह हमेशा ही एक राजनीति के बीच से आता है और इस तरह एक इलाके का खत्म हो जाना या पानी का बद हो जाना भी एक राजनीतिक सत्ता के वितरण का परिणाम होता है।

भूकप मृत्यु, भय और भूख के साथ एक भावुकता को भी जन्म देता है। गुजरात का भूकप एक निर्भावुक भूकप रहा है और देश के लिए भी उसे ऐसे ही बनाया

गया है। कोई आश्चर्य नहीं कि नितांत 'पश्चिमी' राहत टीमें निराश होकर लौटी हैं क्योंकि हिंदुत्ववाद में भूकंप ईश्वर का एक दंड ही तो है, जिसे सहर्ष स्वीकार किया जाना है। पाप का घड़ा भर गया है, न। गाय के सींग पर थमी धरती इसीलिए हिलती है कि विधर्मियों का बोझ बढ़ गया है। भूकंप तो इशारे हैं कि वह अवतार होना ही चाहता है जो धर्म की रक्षा करेगा। विहिप ने कह ही दिया है कि मंदिरों में जाकर दो घंटे भजन-कीर्तन करें। कहने की जरूरत नहीं कि इस भूकंप ने हिंदुत्व को भी गिरा दिया है।

• जनसत्ता 7 फरवरी, 2001

ग्लोबल वैलेंटाइन और राष्ट्रवाद

एक बार फिर वही दृश्य है। न कानपुर है। न वैलेंटाइन है। न मुज़फ्फरनगर है। न वह अधी नीली किंवाड़ों वाली कोठरी है। न वे सीटें हैं न रस्सी है। जिससे फॉसी दी गई और न लटके हुए सोनी और विशाल हैं। इस बार की कहानी के नायक-नायिका 'राष्ट्र को समर्पित' दो परम राष्ट्रवादी, संघ के कार्यकर्ता है जिनका प्रेम उनके ही आदर्श सघ को रास नहीं आया। सघ के 'आदर्श हिंदू घर' मे प्रेम की कोई जगह नही है। ये वही परचे रहे होंगे जिनको हिंदुत्व के, राष्ट्र के उन्नयन के लिए किसी गोविंदाचार्य ने, किसी उमा भारती ने ही तैयार किया गया और बॉटा होगा। यह वे कभी नही देख पाऐंगे कि उनके कोमल प्रेम के बधिक उनके भीतर ही तो बस हे।

गोविंदाचार्य के प्रेम सबंधी स्पष्टीकरण मे स्पष्टीकरण से ज्यादा उस वेदना की आवाज है जिसे पढने वाले लोग अब कमतर होते जाते है। क्या हम उन वाक्यो मे एक अनब्याहे आदमी की दस साल लंबी रुलाई को नहीं पढ सकते? क्या हम उसके साहस की दाद नहीं दे सकते? क्या हम उस प्रेमभाव की जय नहीं बोल सकते जिसने प्रेम के शत्रु 'संघ' मे पले-बढे दो प्रेमियो को अपने दिल की बात कहने को विवश किया?

गोविंदाचार्य की सहज सरल-सी प्रेमगाथा मे एक मासूमियत छिपी है। उन्होंने अपनी प्रेयसी की मान रक्षा की खातिर ही अपने को दॉव पर लगाया, लेकिन उनका संबोधन प्रेयसी से ज्यादा उनके लिए था जो प्रेम के शत्रु हैं। यानी संघ। हाय, यह कैसा प्रतिवाद है जो प्रेम को बलिदान करके भी शिकायत करता है। कौन सुनेगा? यह तो आपका चुना हुआ वधस्थल है गोविंदाचार्यजी, जहॉ सबसे पहले प्रेम का वध होता है और पता नहीं कितनों का होता होगा। आपका रोना यहॉ एक इंद्रिय सुख के अभाव मारे कामुक का प्रलाप भर कहा जाएगा। सघी जगत् ऐसा ही सोचेगा।

जहॉ शाखाओं में प्रचारक दिन-रात ब्रह्मचर्य को राष्ट्रवाद का सार बताते-बताते बूढे हो जाते हो और देह की कामाग्नि की जरूरतो को पूरा करने के लिए नाना गैर-प्राकृतिक रास्ते अपनाने के लिए झूठे-सच्चे किस्सो में नायको की तरह रहते हो,

नहीं प्रेम की इजाजत नहीं मिल सकती। प्रचारक को तो हरगिज नहीं मिल सकती।

आश्चर्य नहीं कि आजीवन घर न बसाने वालों की सबसे ज्यादा संख्या संघ मे ही है। कुछ दिन पहले जब संघ और भाजपा के एक प्रवक्ता कृष्णलाल शर्मा की मृत्यु हुई थी तो ज्ञात हुआ कि वे अपने मृत्यु के क्षणों मे शायद अकेले ही थे। तब यह बात आई थी कि संघ तक में लोग इतने अकेले हो जाते है। जो संघ अपने संगठन की ताकत पर दिन-रात इतराता फिरता है और अन्य तमाम संगठनो को अपनी कथित महानता से चिढाता है, उसके नायक इतने अकेले और बेचारे हो जाते हैं।

जो संगठन समाज को पाँच हजार साल पुराना गौरव वापस देने को कटिबद्ध बताता है उसमें अपने कार्यकर्ताओं के अकेलेपन, अजनबीपन और विद्रोह के भाव को समझने की ताब नहीं है। यही उसका अंधा अमानुषिक सांस्कृतिक विमर्श है जिसमे संस्कृति के मूलभाव प्रेम को कतई जगह नही है। जिस भारतीय संस्कृति मे कृष्ण जैसा स्थायी प्रेमी हो, जिस भारतीय पॉपूलर संस्कृति मे हिंदी फिल्में और अन्य भाषाओं की फिल्मो हर बार एक 'न खत्म होने वाली प्रेमकथा' ही कहती हो, जहाँ हर गाना किसी प्रेम के उत्कट-उन्मुक्त या खल-बाधित क्षण का आनंद-वेदनायुत बयान और बखान हो, जहाँ सूरदास, विद्यापति, घनानंद, जायसी ने मुक्त प्रेम के अनंत गीत गाए हो, उस संस्कृति से संघ की संस्कृति बेगानी ही नही है बल्कि उसकी शत्रु भी है। यदि संघ की कोई संस्कृति है तो खल की संस्कृति ही है। गोविंदाचार्य का आत्मनिवेदन इसे ही इंगित करता है।

न दस साल पहले प्रेम निवेदन अपराध था न आज है। गोविंदाचार्य के बयान मे गूँजता आर्तनाद जो पढ सकते है वे बता सकते है कि यह आर्तनाद संघ को ही संबोधित है। जो लोग संघ के सदा विपक्ष मे रहते आए है उन्हे यह बात अरसे से ज्ञात है कि संघ के कार्यकर्ता नैतिकता की, चरित्र की जितनी बात करते है उनमें असल आखेट हर बार व्यक्ति की आजादी का होता है। 'मर्यादा' उनका प्रिय पद है। 'आजादी' उनका शत्रु पद। प्रेम आजादी के स्पेस का नाम है। संघ का राष्ट्रवाद मर्यादा का नाम है। प्रेम हर दिन, हर क्षण, हर मुकाम पर इस मर्यादा को भंग करता है और हर राष्ट्रवाद, चाहे वह फासिस्ट जर्मनी के हिटलर या मुसोलिनी का रहा हो, उससे डरता और तंग होता रहता है। अफगानिस्तान मे तालिबान को असल डर प्रेम की वजह से है जहाँ लोग आजादी का पहला पाठ सीखते है। पाकिस्तान मे तो अपने कुनबे की प्रतिष्ठा के लिए, प्रेमी-प्रेमिका की हत्याएँ एक कर दी जाती है। मुजफ्फरनगर मे भी पिछले दिनो इसी प्रकार की गाँव की कथित प्रतिष्ठा-मर्यादा की खातिर प्रेमी जनो को लटका दिया गया था।

प्रेम, जो भारतीय संस्कृति का केंद्रीय सार है, राष्ट्रवाद को फिल्मो मे ही नही, जीवन मे भी तंग करता रहता है। हम जानते हैं कि अंततः प्रेम की विजय होती

है क्योंकि यही मनुष्य की कामना है। राष्ट्र उसके आगे ढीला होकर रहता है। राष्ट्र के रूपक में प्रेम हमेशा छेद करता रहता है। विचित्र बात है कि जिस रोमांटिक युग मे राष्ट्र का निर्माण हुआ है उसी युग मे राष्ट्र को परेशान करने वाले सास्कृतिक तत्त्व रोमांस का जन्म हुआ है। सस्कृति के विद्वानो को राष्ट्र के रूपको मे रोमांस के रूपको के शाश्वत भितरघात का पाठ करना चाहिए। फिल्मो मे लोग राष्ट्र के रूपक को देखते है, लेकिन पॉपूलर कल्चर में बनते-पनपते प्रेम के प्रति-रूपक को नही देखते।

सघ मूलतः उत्तर-औपनिवेशिक राष्ट्रवादी पुरानी मानसिकता का कायल है। उसके प्रेम का अर्थ है देशप्रेम, राष्ट्रप्रेम और अतत' भगवाध्वज प्रेम। उसके साहित्य मे मनुष्यों के बीच किसी भी तरह के प्रेम की बात नही है क्योंकि उसके लिए समाज जातियो मे, मर्यादाओ मे और 'हाइरार्की' मे बॅधा है। उससे बाहर जाना समाज को बिगाड़ना है। उसे बचाए रखना ही उसका काम है क्योंकि उसी मे हिदुत्व रहता है। राष्ट्रवादी भाव प्रेम को अपना शत्रु इसीलिए मानता है कि अगर नौजवान इश्क करेंगे तो राष्ट्र की सेवा कौन करेगा? राष्ट्र की रक्षा कौन करेगा? उनके लिए राष्ट्र पर खतरे का डर सबको बॉधे रखने योग्य विचार है। इसीलिए उनके राष्ट्र पर हर वक्त खतरा रहता है। और इसीलिए प्रेम और उससे जुड़ी तमाम बातें देशद्रोह जैसी बन जाती हैं।

लेकिन 'कहो ना प्यार है' और 'मोहब्बतें' के हिट दिनों में संघ अपने राष्ट्रवाद समेत फँसता है। समय की मार उस पर भी पडती है, उसके कार्यकर्ताओं के भी बाल-बच्चे होते हैं जो किशोरावस्था मे वही बनना चाहते है जिसे पॉपूलर प्रेम कल्चर बनाता है। घर का घोर मर्यादावादी आचरण उनके भीतर एक असतोष भरता रहता है जिसे संघी घरो के बच्चों मे देखा जा सकता है। सघी परिवारो के बच्चे मुख्य धारा के बच्चों की तरह सहज व्यवहार नही कर पाते। लडकी से बाकायदे सहज बात नही कर पाते। वे मर्यादा के मारे ऐंडे-बैंडे होते रहते है, इसीलिए वे वैलेंटाइनो पर हमले करते हैं क्योंकि जिस दृश्य के वे नायक बनना चाहते है उनके विचार उन्हें वैसा होने नहीं देते। वे अपने बंद और अंधे विचारो को तिलाजलि नही दे सकते क्योंकि वे बचपन से उनमें बॉधे गए होते है। दूसरे का प्रेम उन्हें खतरा नजर आता है। लेकिन उनके भी बच्चे होते हैं और वे फिर प्यार करने लगते है और फिर तग करने लगते है। उनका राष्ट्रवाद इसी तरह लगातार तग होता रहता है जिसे वे किसी फासिस्ट हमले से ही शात कर पाते है।

प्रेम का रूपक बताता है कि सघ का कोई भविष्य नहीं है। सघ प्रेमभाव के आगे ही हार सकता है क्यों वही उसका वधस्थल है। सघ के साहित्य मे प्रेम प्रसग नही आते। प्रेमीजन नहीं आते। संघ के लोगो की चिताएँ प्रायः चरित्र-मूलक हुआ करती है। वे अक्सर दूसरों के चरित्रों पर इसी तरह की उगली उठाते हैं कि देखो

तो वह प्रेम जैसा गदा काम करता है। जी. टीवी के मालिक संघ का निकर आगरा मे पहन कर दिखा चुके है उन्हीं के चैनल ने अचानक एक कार्यक्रम मे सबको बताया कि उमा भारती से गोविंदाचार्य का कुछ टॉका भिड़ा है।

यह प्रेम प्रसग आरंभ से एक सघ-बाधित प्रेम प्रसग रहा और उसी का दड उसे हर बार मिला। यह हिचक-हिचक कर कही गई प्रेम कहानी की तरह ही रहा। कुछ पहले अपने अज्ञातवास में उमा भारती ने एक पत्रिका को अपना साक्षात्कार दिया जिससे बाद में उन्होंने इनकार कर दिया। उसमें भी अपने प्रथम प्रेम के निवेदन की बात की थी। जब अखबार ने छाप दिया तो वे प्रेस काउसिल गई लेकिन जब वहाँ पेशी का वक्त आया तो वे नहीं आई। वे बचपन मे ही संन्यासिन बन गई या कहे बना दी गई। बचपन से ही वे कथावाचिका बन गई और जब सघ का राम जन्मभूमि का एजेडा चला तो उनका उपयोग हुआ। राष्ट्र की रक्षा के लिए म्लेच्छो से भारत भूमि को मुक्त कराने के लिए गुलामी के चिह्नो को उखाडने की खातिर उनका प्रेम परवान न चढ सका। यदि चढता तो राष्ट्र का क्या होता? कहने की जरूरत नहीं कि उनके प्रेम निवेदनो मे एक लुका-छिपी का खेल चलता रहा। वे उसे अतीत का पृष्ठ कहती रही। कभी हुआ था, फलीभूत नहीं हो सका। लेकिन उन्होंने खलनायक का नाम नही लिया। गोविदाचार्य ने भी यही कहा कि अब वह अतीत बन चुका है, उसे कुरेदने की जरूरत नहीं। 'कुरेदते हो जो अब राख जुस्तजू क्या है?' लेकिन सघ का प्रेम विरोधी खलनायकत्व उसे कुरेदकर हिसाब तो चुकता करेगा ही।

इसीलिए गोविदाचार्य का बयान सघ के लिए है। यह संघ की भीतरी सांस्कृतिक जग है जो चल रही है, जो फिलहाल एक कमजोर प्रेमकथा की हत्या के रूप में और गुहार के रूप मे सामने आई है। इसमे मर्यादा का ध्यान भी रखा जा रहा है। मर्यादा की वजह से प्रेम को अपराध की तरह स्वीकार किया जा रहा है कि कभी जवानी मे गलती हुई है। यही अपराध भाव है जो आजीवन ब्रह्मचर्यवाद सिखाता है और यही है जो अनुशासित करता है। अंतत मर्यादा और राष्ट्र की विजय होती है और राष्ट्र के लिए उत्सर्ग करने का नाटक शुरू होता है। यहीं उमा भारती-गोविदाचार्य के कोमल मानवीय मन का वध स्थल बनता है। वे देखकर भी भूलने के लिए अभिशप्त रहते हैं कि जिस विचार ने उन्हें प्रेम जैसा मानवीय प्रकार्य तक नही करने दिया वे उसी की गिरफ्त मे है और अब उससे निकलने की क्षमता तक उनमे नहीं बची है। उनसे अच्छे तो मामूली लोग होते है जो अपने परिवार-घर-द्वार और जाति-धर्म के बंधन तोड़ कर एक-दो प्रेम कर डालते हैं। सघ के विचार ने यह कैसा आदमी पैदा किया जो सहजभाव से प्रेम का इजहार तक नही कर पाता और जब करता है तो अपराधी की तरह करता है और अपने आततायी के हाथो फिर-फिर मारे जाने को धन्य समझता है। यह वही 'मनोव्याधि' है जो अतिचार करने वाले के प्रति

अतिचारित के अनुराग को जन्म देती है।

जितना अतिचार होगा उतना ही अतिचारकर्ता के प्रति प्यार आएगा। संघ प्रेम को निषिद्ध करके इसी व्याधि को जन्म दे रहा है जिसमें उक्त दोनों प्रेमीजन सुखी नजर आना चाहते है। यह मध्यकालीन प्रेम है जिसे आधुनिक जनतन्त्र का स्पेस नसीब नहीं हुआ। शायरी मे ऐसे व्याधिभाव बार-बार प्रकट किए जाते है, जहाँ कातिल पर अक्सर प्यार आया करता है। गोविंदाचार्य जिस राष्ट्रभाव को समर्पित है वही उनके प्रेमभाव का हत्यारा है। जाहिर है कि उनका प्रेम किसी महान् प्रेम परंपरा का नहीं है। उसमें अब एक ड्रामा घर कर गया है जो खबर बनाने के काम आता है जिसे वे स्वयं भूल जाना चाहते हैं।

प्रेम भूलने वालो के लिए नहीं होता। तो भी, जिस तरह क्रौंच मिथुन के वध को देखकर आदिकवि वाल्मीकि ने कहा था, उसी तर्ज पर यह टकियल लेखक शाप देना चाहेगा—संघ जा तुझे कभी शांति न मिले क्योंकि तूने दो मासूम दिलो को तोड़ा है।

• जनसत्ता, 25 अगस्त, 2001

भगवा का ठगवा

'राष्ट्रीयता की सास्कृतिक अवधारणा नामक' एक पुस्तक सघ के केशव कुज कार्यालय मे मिलती है। इसके लेखक नर्मदेश्वर ओझा है। सघ के केद्रीय दफ्तर मे संघ के प्रामाणिक प्रकाशन ही मिलते हैं। मान सकते हैं कि उक्त पुस्तक सघ की रीति-नीति की प्रमाणित पुस्तक है। मुखपृष्ठ पर भगवा पृष्ठभूमि मे शिवजी, विष्णुजी और श्रीराम अभयदान दे रहे दिखते हैं। नीचे एक घेरे में जटाजूटधारी कुछ मिथकीय ड्रेसवाले ऋषि लोग पद्मासन मारे योग कर रहे दिखते हैं। इस मुखपृष्ठ को भविष्य की शिक्षा नीति का एक आदर्श दृश्य समझना चाहिए।

पुस्तक का पारायण करने पर हमे एन.सी.ई आर टी के द्वारा 'जनतात्रिक तरीके से मुक्त विचार-विमर्श के द्वारा' जो नया शिक्षा ढाँचा तैयार किया गया है उसकी पूर्व झाँकी मिल जाती है। 'अध्यात्मविहीन, पिछलग्गू शिक्षा नीति' नामक एक अध्याय मे लेखक प्रवर 1985 की शिक्षा नीति पर हमला बोलते हैं : "1985 में भारत सरकार द्वारा 'नई शिक्षा' नामक एक पुस्तिका का प्रकाशन किया गया था। उस शिक्षा नीति मे नैतिकता और आध्यात्मिकता को इसलिए छोड दिया गया था क्योंकि वह धर्मनिरपेक्षता के सिद्धात से मेल नहीं खाता था। वर्तमान शिक्षा नीति पर कड़ी नजर रखी जाती थी कि कही उसमें धर्म की गंध न आ जाए। अधर्म की सारी बातें उसमे आ जाएँ। तो हमे मजूर है लेकिन चरित्र को सत्यनिष्ठ और संयमयुक्त बनाने की कोई भी कोशिश सेकुलर सिद्धांत के प्रतिकूल पड़ता है" (114)। यहाँ किताब को यथावत उद्धृत किया गया है। पाठक अगर उक्त हिदी पर अटकें तो समझे कि सघ की हिंदी अटका रही है और उसकी हिंदी ऐसी ही है। आगे लेखक विस्तार से कहता है कि किस तरह हमारी नीति पाश्चात्य है। वह हमे मौलिक रूप से सोचने नही देती। इस तरह की नीति से हम हमेशा गुलाम ही बन रहे है। धर्म ही विज्ञान है। वेद ही धर्म है। यही राष्ट्र की प्राणवायु है। वेद विज्ञान और धर्म की समष्टि है। यही भारतीय संस्कृति है। इस सबकी शिक्षा ही महान् संस्कार है, आदि, आदि।

फिर लेखक पाणिनि और संदीपन के गुरुकुलों मे घुस जाता है और ऐसे किस्से बताता चलता है जैसे अभी-अभी वहीं से डिग्री लेकर निकला हो। इस तरह यहाँ

एक एसा भारतीय शिक्षा पद्धति की कल्पना का गइ ह जा पिछल दिना टावी क कई धारावाहिकों मे दिखती थी शिष्य गुरु के लिए लकडियॉ वीन रहा है। यज्ञ हो रहा है, ज्ञान मिल रहा है और शिष्य कोपीन वॉधे हाथ जोड खड़ा हे। यदि इस किताव को नीति का या किसी फ्रेमवर्क का आधार बनाया जाता है तो हमारा विद्यार्थी लकडियॉ वटोरने वाला हाथ वॉधे खड़ा चोटीधारी-कोपीनधारी गुरुकुलिया वन जाएगा। 'पश्चिमी शिक्षा पद्धति' ने इस कौपीनधारी आज्ञाकारी वालक को विगाड दिया ह। हमारी मॉग है कि ऐसे फिल्मी सीन वाले गुरुकुलो मे आदर्श भारतीय शिक्षा-दीक्षा के लिए सवसे पहले अपने मानव संसाधन मत्री और उनके एन सी.ई.आर टी के निदेशक महोदय अपने वच्चो-नाती-पोतों को भेजें। इस शिक्षा पद्धति की श्रेष्ठता की परीक्षा हो जाएगी, आदर्श स्थापित हो जाएगा और सव उन नमूनो को देखकर अपने वच्चो को भेजने लगेगे। लेकिन यह सव जनता के लिए है। सघ के अपने चलाए स्कूलों तक मे ऐसी शिक्षा नही है। वहॉ भी वही कुख्यात 'पश्चिमी शिक्षा' दी जाती हे। आधुनिक शिक्षा के जरूरी विषय वहॉ भी पढ़ाए जाते हैं। उन्हें कोपीन-लँगोटी-चोटी-छाप ड्रेस कोड लागू करने से कौन रोकता हे? कौन उन्हें वहॉ वैदिक गणित पढाने से रोक रहा हे? लेकिन पिछले ही दिनो सघ के स्कूलो में अग्रेजी शिक्षा पर शुरू से जोर देने की वात की गई थी। वात तो वैदिक सस्कृत, सस्कृति और गणित की होती थी। तव यह नाटक क्या है?

इस तरह की एक और किताव सघ के कार्यालय मे उपलब्ध है। सघ के कार्यकर्ता लज्जाराम तोमर द्वारा लिखित यह किताव तो सीधे सुरुचि प्रकाशन से छपी है और इस तरह सघ की ऑफिशियल किताव कही जा सकती है। नाम है—'प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति'। यदि सघ चाहे तो सबसे पहले इस किताव मे वताई गई प्रक्रिया को अपना सकता है। इसमें ब्रह्मचर्य आश्रम पर जोर है। "उन्हे प्रारभ से ही पवित्रता, आचार, अग्निकार्य और सध्योपासना की शिक्षा दी जाती थी। वे शिष्य थोड़े-से वस्त्र पहनकर जितेंद्रिय होकर विद्या प्राप्त करते थे। जो ब्रह्मचारी समावर्तन तक अग्नि की सेवा, भिक्षाचरण, पृथ्वी पर शयन, गुरु की सेवा और उनका हित करता था, वही श्रेष्ठ ब्रह्मचारी माना जाता था।" (13)।

इस शिक्षा के पाठ्यक्रम मे 'षोडशसस्कार' भी कोर्स मे लगे हैं जो इन दिनो यू जी.सी. की कृपा से विश्वविद्यालयों मे पढाए जाने हैं। 'चौसठ कलाओं' को भी कोर्स मे लगाया जाता था। कोर्स में नियुद्ध और मल्ल विद्या पर जोर रहता था। घर के वर्तनो को मॉजने की कला पढाई जाती थी। टोकरी वनाना, घोडों की काठी वनाना, कुर्ता आदि कपडो को सिलना, तिल से तेल निकालना, काम कला और चौर्य कला का भी विधान होगा जिनके वारे मे विद्वान् लेखक ने सयमवश नही लिखा है। वेदो-उपनिषदो, रामायण-महाभारत की कथाएँ सवसे वडा माध्यम मानी गई हे। सव कुछ श्रुति से चलता था। ब्राह्मण सघ आज के सेमिनारो के वाप होते थे।

श्रवण-ग्रहण-मनन की प्रक्रिया रहती थी। सब विदेशी यात्रियो न इस पद्धति की प्रशसा की थी। 176 पृष्ठों की किताब मे सारे पाठ्यक्रम और पद्धतियों के संकेत है। हमारी फिर मॉग होगी कि पूरे देश पर आजमाने की जगह सबसे पहले हमारे मत्रीजी और उनके एन सी ई आर.टी. और यू.जी सी के टहलुए अपने घर से ही यह शुरू करे।

जरा इन पुस्तको के निर्देशो-आशयों को फ्रेमवर्क की भावना और आशयो से मिलाकर पढिए तो यह बात साफ हो जाती है कि एन.सी.ई आर टी. का फ्रेमवर्क ऐसी ही किताबो का निचोड है जो कि भारत की अगली पीढियों को किन्ही मिथकीय गुरुकुलों में लॅगोट पहना कर हाथ बॉधे ब्रह्मचर्य में दाखिल कर देना चाहता है। वह किसी किस्म की 'यूनिवर्सल विद्या' से जो अब तक मिलती आई है, आगामी पीढी को वंचित कर देने पर तुला है। उसकी दिशा कलयुग को वैदिक युग की कल्पित यज्ञशाला से बॉधने के लिए खुल रही है। ऐसा विद्यार्थी आज के ग्लोबल जगह के लिए एक चोटीधारी भिखारी से ज्यादा कुछ नहीं हो सकता। वे एक फिल्मी जगत् के गुरुकुल को सच समझ बैठे है और चाहते है कि सब मान ले। संघ की समूची विचारणा ऐसे ही फिल्मी अतीत के सपनो को जीना चाहती है।

अतीत मे रहने का अपना मजा है। लोगो को अतीत मे बॉधे रखने का अपना लाभ है। आप एक सतत सपना दिखा सकते है और जब वह नहीं मिले तो कह सकते हैं कि ठीक से ट्राई नही किया, एक बार फिर करो। अतीत में रहने वाला आदमी वर्तमान से घृणा करता है और भविष्य को मानता नहीं। कई बार अतीत निवासी बडे मनोरंजक सीन दे दिया करते हैं। अपने मुरली जी दे चुके हैं। अभी केशुभाई पटेल दे चुके है। दोनो अतीत निवासी है और इन दिनो देश की भावी पीढी को उक्त अतीत की यज्ञशाला मे बॉध देने को उद्यत है। एक बार अपने मुरली मनोहर जोशी दक्षिण दिशा मे निकले। एक सभा मे जोश मे आकर एक गमले के पानी को शर्बत समझ कर चढा गए। बीमार पड गए। फिर एक पश्चिमी अस्पताल मे पश्चिमी पद्धति से अपना इलाज कराके दिल्ली लौटे। यह सीन किसी चाचा चौधरी छाप कॉमिक का नही, साक्षात् जीवन का रहा। देश अतीत निवासियों की कॉमेडी पर मुग्ध हुआ। अभी हाल मे सघ के प्रिय केशुभाई पटेल शायद विज्ञान की किसी प्रदर्शनी में गए। वहॉ रखे हुए एक यंत्र को दूरबीन कह बैठे, जबकि वह सूक्ष्म दर्शक यन्त्र था जिससे लेबोरेटरी मे रक्त इत्यादि का अध्ययन होता है। पब्लिक हॅसे तो हॅसे। बच्चे सीटी मारें तो मारे। हम तो इन बिगडे बच्चो को अतीत में ले जाकर बॉधेंगे ही। एन.सी.ई.आर टी. कह रही है। उसके निदेशक कह रहे हैं।

सत्ता मे आने के बाद जिस मत्री ने सघ के एजेंडे को सबसे गंभीरता से लागू करने की कोशिश की है, उनका नाम मुरली मनोहर जोशी ही है। इसी उत्साह को देखकर पिछले दिनो सघ ने उनकी पीठ ठोकी थी कि भाई आप ही एजेंडा लागू कर रहे हो। पता नहीं किस लज्जावश वे इस आरोप से चिढ़ते हैं कि वे भगवाकरण

कर रहे हैं। कायदे से तो उन्हें खुलकर कहना चाहिए कि हाँ हम कर रहे है। शायद राष्ट्रीय जननात्रिक गठबधन के बिखरने का डर है जिसमें एक पलीता मार्क्सवादी बुद्धदेव भट्टाचार्य ने तेरह गैर भाजपा दलों के मन्त्रियों की बैठक करके लगा दिया है और नायडू तक बोले है कि भगवाकरण नहीं चलने दिया जाएगा।

भगवा शिक्षा के जो सकेत ऊपर दिए गए है उनसे पता चलता है कि ये लोग भारतीय शिक्षा को सिर्फ भगवा ही नही करना चाहते, उसके तमाम सकारात्मक पक्षो को सिरे से नष्ट कर देना चाहते हैं। विरोध यहीं उठता है। अभी तो कुछ दल ही विरोध कर रहे है। जब जनता को मालूम पड़ेगा कि ये लोग उसके बच्चों को वही फिल्मी कौपीनधारी-तिलक-चोटीधारी-आज्ञाकारी ब्रह्मचारी बनाने पर तुले है तो असल विरोध तो वह करेगी।

सघ की शिक्षा के उक्त नक्शे की एक व्याधि यही है कि वह इतनी कल्पित स्थानीयता से युक्त है जो आज की बीहड़ स्पर्धामय दुनिया के आगे खड़े होने लायक, स्पर्धा करने लायक एक भी गुण नहीं देती। पश्चिमी समाजों के लिए वह भारतीय महानता का मिथक उन्हीं का बनाया हुआ प्राच्यवादी मिथक है। इन दिनों उनके साथ बहुत-से भारतीय प्राच्यवादी भी उसी महानता के मिथक मे रहने की कोशिश करते है। इस शिक्षा ससार में एकलव्य का अगूठा काट लिया जाता है। भक्तिभाव की हाइरार्की शासन करती है। तर्क की जगह अधश्रद्धा ले लेती है। ऐसा बालक आज के जगत मे क्या करेगा? सघ ऐसे ही बालक बनाना चाहता है जो 'कल्याण' के पृष्ठों पर किसी मामूली-से चित्रकार से बनवाए जाते रहे हैं। यह गलोबल जगत है कल्याण का पृष्ठ नही है। जनता जानती है। इसीलिए चुपके से बिना राज्यो की सहमति लिये चोर दरवाजे से एक फ्रेमवर्क लाया जा रहा है। सभी तरह से आज्ञाकारी और श्रद्धावनत बना दिया गया युवा संघ का विरोध नही कर सकेगा, क्योंकि वह तर्कवान नही होगा। वह उसके आदर्श बौद्धिको मे बिना शका के श्रोता बनेगा। यही बालक उसका आदर्श है और जो बालक इस आदर्श मे नही है वे खतरनाक है, पश्चिमी है।

सघ की 'आदर्श' शिक्षा प्रणाली की दूसरी बुनियादी कमजोरी यह है कि वह शिक्षा को अतिरिक्त-मूल्य यानी पूँजी निर्माण से नही जोडती। वह कम्प्यूटर युग मे लँगोट और टोकरी बनवाती है। आज भी ऐसे गुरुकुल चलते हैं जिनमें ऐसी ही वैदिक दीक्षा दी जाती है। उनके निकले विद्यार्थी अधिक से अधिक कर्मकांडी पडित या कथावाचक होकर निकलते है जो लोगो के शादी-विवाह कराकर या दान-दक्षिणा पर पलते हैं। उनके बच्चे उनके इस पेशे से घृणा करते है।

समकालीन शिक्षा नीति इतनी सफल तो अवश्य ही रही है कि उसने भारत को तकनीकों और सूचना क्राति मे विश्व के विकसित देशों के बराबर क्षमता वाले ज्ञानी पैदा किए है, जिन्होने सूचना तकनीक के बाजार मे अपनी पहचान बनाई है,

अनत डॉलर कमाए है। भारत के भीतर डॉलर निवेश मे मदद की है। विदेशी मुद्रा भडार में इजाफा किया है। यह सब पिचासी की शिक्षानीति का नही. उससे पहले की शिक्षानीतियों का सुफल है। सघ के वित्तमत्री ऐसे प्रवासी भारतीयों की सफलता के कसीदे गाते है जो पिछली शिक्षानीतियो मे दीक्षित रहे है और जिन्होंने सिलिकॉन वैली फतह की है। उन्ही का एक मत्री अब अचानक इस नीति को बदलकर अतीतवासी नीति अपनाने को मचल रहा है। यह है अतीतनिवासी कालिदासी व्याधि। जिस डाल पर वैठे है उसे ही मजे से काट रहे है।

फिर अगर पिचासी की नई शिक्षानीति और सघ का फ्रेमवर्क एक ही है तो नए की क्या जरूरत है? दरअसल यह शिक्षा का तालिबानीकरण है। वे सीधे करते है, ये जरा जनतत्र की लाज के मारे चोरी-चुपके करते है। कश्मीर मे लश्करे जव्वार और दुख्तराने मिल्लत मिलकर इस्लाम को बुर्के में उतार रहे है। इधर केंद्र के स्तर पर एक मत्री जी शिक्षा को हिंदुत्व की लाठी पर भगवा ध्वज की तरह फहरा देना चाहते हैं। लश्करे तैयवा ने हाल ही में कहा तो था कि हिंदुत्ववादी ताकते हिंदुस्तान मे आकर उनका काम आसान कर रही है। इसीलिए इस तालिबानीकरण का विरोध है और होगा। भगवा का ठगवा नहीं चलेगा।

• जनसत्ता, 7 सितंबर, 2001

'पैरानॉयड' समाज

देश के प्यारो बच्चो, अब तैयार हो जाओ। तुम्हारे सवाल करने के, झगडने के दिन अब जाने वाले ही है। अब तुम्हे कुछ दिन बाद चोटी बढाकर कोपीन पहनकर तिलक-छापा लगाकर भक्ति भाव से भर कर गुरुजी का आदेश मानना है, श्रद्धा करनी है, भक्ति युग में जाना है। यानी जो संघ की शाखा मे सिखाया जाता है या कि इस्लाम के संदर्भ में जो पाकिस्तानी मदरसो मे तालिबान ने रटा वैसा ही कुछ रटना है। जिस तरह से नए पूँजीवाद की मार के आगे तालिबान खाली-पीली चुनौती देते रहे और बिना लडे भाग खडे हुए उसी तरह दो हजार पच्चीस के आसपास तुम्हे हिंदू तालिबान बनकर अपनी जग लगी तलवार से विश्वविजयी बनना है। तुम जो तकनीकी क्रांति को लेकर उल्लसित हो, तुम जो दुनिया मे जाकर उसे जीतने के ख्याल पाले हो, तुम अपने जिस बड़े भाई को दुनिया मे सूचना तकनीकी क्रांति पर सवारी करते देखते हो और उससे भी आगे निकलना चाहते हो, अब यह सपना देखना छोड दो! पिछले दिनो तुमने यदि बिगफाइट नामक टीवी कार्यक्रम देखा हो तो समझ जाओगे कि यह लेखक क्या कह रहा है।

जब इतिहासकार मृदुला मुखर्जी ने 'बिगफाइट' मे एन.सी.ई.आर.टी. के चेयरमन राजपूत महोदय से बार-बार पूछा कि वे महान् इतिहासकार कौन-से है जो तुम्हारी नई पाठ्यपुस्तकें लिख रहे हैं, कौन सपादक है जो संपादित कर रहे है तो राजपूत महोदय ने बार-बार एक ही जवाब दिया . वे नाम नही बताएँगे। कारण पूछने पर कहा कि मीडिया उन्हे तग करेगा। हम उन्हें डिस्टर्ब नही करना चाहते। बिगफाइट मे अंग्रेजी वाले जन थे। वे चेयरमैन साहब की व्यंजना समझ नहीं पाए। हिंदी वाले होते तो तुरत समझ जाते। दरअसल जब वे कह रहे थे कि नाम नहीं बताएँगे तो वे कह रहे थे कि हमारी किताबो के लेखक भूत है, भूत का क्या कोई नाम-पता होता है! जिन किताबो के लेखक लापता है फिर भी लिखी जा रही हैं उन्हे जरूर भूत लिखते होंगे। अब इतिहास भूत ही लिख सकते है क्योंकि मामला भूत को ही सिरजने का है, इतिहास को सिरजने का तो नही है। हमे भरोसा है कि जब कभी ये भूत प्रकट होंगे, तब तुम उनका भूत जरूर उतारोगे।

बार-बार पूछे जाने पर भी शिक्षा-दीक्षा संबंधी देश की सर्वोच्च सरकारी संस्था का निदेशक जब नाम न बताने पर अड़ा रहा तो लगा कि जरूर कहीं हिमालय की कंदराओं में महर्षि बतरा और महर्षि रावत, महर्षि विश्वमित्र और वशिष्ठ और वेशपायन की परंपरा में एकाग्र साधना में तल्लीन होंगे। उन्हें परेशान किया तो पोटा लागू हो जाएगा। लेकिन बच्चो, यह क्या? महर्षि बतरा मीडिया से बिलकुल परेशान नहीं हुए। वे कहने लगे कि उनको इतना बड़ा कवरेज मिला कि यह उपलब्धि रही। यही तो वे चाहते थे। निदेशक साहब एक बार फिर उनसे मिल सकते हैं और मशविरा कर बता सकते हैं कि कौन महानुभाव हैं जो मीडिया में आने से डर रहे हैं। स्वयं निदेशक साहब ने अपनी एकांत तपस्या पिछले कई महीनों से भंग की हुई है और वे सेकुलरों को कोसते हुए एक ही लेख बार-बार फेरबदल से छपवाते रहे हैं। ये भूत भी असली भूत नहीं, अवसरवादी भूत हैं। वही 'आहट' टाइप के कार्यक्रम वाले' रामसे ब्रदर्स वाले।

बच्चो, तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा के लिए बनी देश की सर्वोच्च संस्था को सचमुच एतिहासिक निदेशक बड़े सौभाग्य से मिला है। तुम एक ऐसे शख्स के सामने हो जो तुम्हें आने वाले दिनों में मूल्य-आधारित शिक्षा देगा क्योंकि मौजूदा शिक्षा तुम्हारे चरित्र का नाश मार रही है। इसमें मूल्य कहाँ थे? यह ऐसा इतिहास पढाना चाहेगा जो आपस में वैर-भाव न बढ़ाए। जो प्रेम बढ़ाए। जो जाति-भेद की सूचना न दे। जो धर्म-भेद की सूचना न दे। इस तरह भारत समग्र हो सकेगा। ऐसा ही समरसता का सिद्धांत सब ने दिया है। वह बताएगा कि न हमारे यहाँ कभी जाति थी न हमारे यहाँ शबूक वध हुआ। सब एकदम ठीक रहा। यह सब तो अंग्रेजों की व्याख्या है। कितना सुंदर क्षण होता है जब चेयरमैन साहब और संघ और मानव संसाधन मंत्री जी एक ही सुर-ताल में बोलते नजर आते हैं।

निदेशक साहब के नाम से शिक्षा संबंधी चिंतन को बताने वाले उक्त बयान के अलावा जो बयान छपे उनमें से एक बयान तुम्हारे सोचने की शक्ति पर ही शंका करने वाला रहा । उन्होंने एक बार कुछ ऐसा कहा जिसका अर्थ निकलता था कि पंद्रह-सत्रह साल के बच्चे सोच नहीं सकते। उधर उनके सामने बैठे तुम्हारे कई क्लासफेलोज ने कहा कि हमें हमारे हाल पर छोड़ दो भई। अगर किसी ने पुराने जमाने में गोमांस खा भी लिया तो क्या प्रलय हो गई? तुमने सही कहा। सत्रह साल का बच्चा आज अपनी जरूरतें ज्यादा बेहतर ढंग से समझता है। लेकिन वे ऐसा नहीं मानते और यही शिक्षा की सबसे विवादित जगह है कि अब तक मिलती रही तुम्हें आजाद करती सक्षम बनाती शिक्षा के पाठ्यक्रम को किस तरह तोड़-मरोड़ कर भूत के भक्ति युग में बाँधा जाए। मंत्री से लेकर, निदेशक से लेकर तमाम भूत महर्षियों का विमर्श तुम्हारे लिए यहाँ से शुरू होता है। जिस समाज में तुम इक्कीसवीं सदी के सुनहरे सपने देख रहे हो और दुनिया जीतने के लिए निकल रहे हो उस समय

और समाज के बारे में इन 'भूतों' का मत यह है कि मानव सभ्यता का निरंतर ह्रास हो रहा है, हमारे जीवन और समाज का भी ह्रास हुआ है।

इसका कारण पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा है। वही मैकाले, मार्क्स और मदरसा। इन तीन 'मक्कारों' ने अब तक सत्ता पर कब्जा करके कोमल मनों को जो पढाया वह उनमें चरित्र निर्माण, राष्ट्रप्रेम और अपनी पाँच हजार साल पुरानी परंपरा का गौरव नहीं आने देता। वे हमेशा भेदभाव, विभाजन-भाव पढ़ाते रहे हैं। इसलिए पाठ्यक्रमों में संशोधन करना है। राष्ट्रप्रेम और समरसता लानी है। अब तक इनकी सत्ता थी तो इनकी चली, अब हमारी सत्ता है हमारी चलेगी। यानी अपना राष्ट्र बनाना है और यह राष्ट्र हिंदू वर्चस्व वाला ही हो सकता है। हिंदू इतिहास को हमेशा तोड़ा-मरोड़ा गया है। हमें उसे ठीक करना है। हमारा इतिहास पाँच हजार साल पुराना है। उनमें जो दोष हैं, बाहरी आक्रांताओं ने पैदा किए हैं वरना वह मूलतः स्वतःपूर्ण और निर्दोष और ईश्वरीय है। उसे ही पढना है। उसमें किसी की भावना पर चोट नहीं की जानी। जो भावना पर चोट करे उसे नहीं पढाना है। भावना प्रमुख है, तर्क हानिकारक है। जो भावना पर चोट करे उस पर चोट करो। भावना भारतीय है, तर्क पश्चिमी है। श्रद्धा भारतीय है, तर्कवाद पश्चिमी है।

अब अगर किसी जगह लिखा हो कि बिल्ली के रास्ता काटने पर अपशकुन मानना अंधविश्वास है तो समझो तुम्हारे धर्म की भावना पर चोट हो रही है। उस अंश को निकाल देना। अगर कहीं गऊ माता को प्लास्टिक की थैली खाते देखा तो उसके गऊ भक्त कृषिजीवन के उन्नायक गोभक्त को कह मत देना कि प्लास्टिक से वह मर जाएगी, उसे घर पर बाँधकर अच्छा चारा खिलाओ। वह तुम्हें पोटा में अंदर करा देगा क्योंकि तुम उसकी गऊ माता को पूरा नहीं खिलाने की भावना का हनन करते होगे। अगर कहीं तुम सती की निंदा पढो या कि उस कानून को पढो जो सती करने को कानून में अपराध मानता है तो भइया उस कानून को संशोधित कर देना क्योंकि सती होने के लिए मना करना हमारे धर्म की भावनाओं को चोट पहुँचाता है। भारतीय परंपरा में सती होने से स्त्री को लाखों वर्ष तक स्वर्ग मिला करता है।

तुम अपने संत और भक्त कवियों को पाठ्यक्रम से निकाल देना। तुलसी कहते हैं कि **'पंडित सोइ जेहि गाल बजावा'**। यह पंडित की भावना पर सीधी चोट करता है। तुम मानस के पेजों से उसे फाडकर फेंक देना। कबीर तो ब्राह्मणों को गिन-गिनकर कोसते हैं : **जो तू बामन बमनी जाया आन राह काहे नहिं आया?** उसे तो फांसी दे देना। राममोहन राय से अंबेडकर तक सब भावनाओं पर चोट करते हैं। गाँधी ने चोट की तो गोडसे ने लुढका दिया न! जो तुम्हारी भावनाओं पर चोट करे उसे न पढना है न पढ़ाना है।

इस तरह एक मजेदार खेल शुरू हो जाएगा। तुम पुराण पढोगे। भागवत तुम्हारी

पाठ्यपुस्तक होगी, मनुस्मृति तो सबकी आधारभूत टैक्स्ट होगी। तुम श्रद्धापूर्वक पढा करना। मंत्री जी तुम्हारे बस्ते के बोझ को लकर परेशान हैं, वे इतने संवेदनशील ह कि बस्ता उठाते तुम हो और दर्द उन्हे होता है। वे हल्का करके ऐसी ही कुछ किताबें लगाएँगे। तुम तो इन दिनों भी संस्कृत से भागते हो। अब वे जबर्दस्ती पढाएँगे, बेटा! यह मत कहना कि हम से पूछो कि क्या पढ़ना चाहत है? पूछा तो पोटो मे अदर हो जाओगे। अभी तो सिर्फ पाँच फीसदी बोझ कम होगा, धीरे-धीरे सारा बोझ कम हो जाएगा। जरा सोचो, अपने प्राचीन गुरुकुलो में कोई बस्ता था?

इस तरह तुम एक दिन उन तालिबान की तरह बन जाओगे जिन्होंने किताब के नाम पर सिर्फ एक कुरान रटी। उसे उनके उस्ताद ने बताया-रटाया कि अगर तुम अल्लाह की खातिर जान दोगे, मजहब की खातिर जान दोगे तो तुम्हे जन्नत म हूरे मिलेगी और तुम्हें खुदा ठीक अपने बाजू में बिठाएगा। फिर तुम एक मानव बम में बदल जाओगे और आत्मध्वंस कर लोगे। तुम किसी दारा सिंह की तरह जीते-जागते आदमी को जिंदा फूँक दोगे तो तुम्हें राष्ट्र गर्व का अहसास होगा। तुम्हारा चरित्र बिगड गया है। तुम टीवी देखते हो नाचते-गाते हो, प्यार-व्यार करते हो। तुम्हे बहुत समझाया कि इस तरह राष्ट्र कमजोर हो जाता है। तर्क कमजोर करता है, वह सोचना सिखाता है, सपने बुनना सिखाता है और परिवर्तन करने का भरोसा पदा करता है। वह तुम्हें कर्ता का भाव देता है। अरे, इस जगत् में ईश्वरेच्छा के बिना कुछ हुआ है? **होइहैं सोइ जो राम रचि राखा। को करि तरक बढावहिं साखा।।**

तो तुम्हारे लिए यही कोर्स तैयार किया जा रहा है जिसमें सिर्फ भावना होगी श्रद्धा होगी तर्क न होगा। सब कुछ वेदो मे है। सब हमारे पास है। हम दुनिया के गुरु रहे है। एक बार फिर होना है। लेकिन ऐसे पाठ्यक्रम पढाने के लिए तुम्ह जब भी कोई आए बच्चों, उसे एक तो पचतत्र पढाना जो शुद्ध भारतीय परपरा म ही हुआ और दूसरे पेप्सी का अमिताभ वाला एक विज्ञापन जरूर दिखाना ताकि गुरुजी का तुम्हारे बारे म गलतफहमी न रहे। तुम बताना कि पचतत्र के लेखक प. विष्णु शर्मा हैं जिनके पास एक राजा अपने कई बिगड़े हुए बेटे शिक्षा के लिए भेजता है। विष्णु शर्मा उन्हे हर रोज कहानी सुनाते है। ये कहानियाँ अधश्रद्धा नही सिखाती, तर्क सिखाती है। ये अंधविश्वास और विश्वास की जगह शका और प्रश्न ही नही सिखाती, वे सिखाती है कि दुनिया में सबसे बड़ी ताकत धन की और बुद्धि की है। वे भक्तिभाव नहीं सिखाती। तुम अपने गुरुजी को अमिताभ का वह विज्ञापन भी दिखाना जिसमें एक सात-आठ साल के बच्चे से जब अमिताभ पेप्सी खीचने के चक्कर में होता है तो बालक कहता है, तुम क्या मुझे बेवकूफ समझते हो?

अफसोस कि इस वक्त मत्री से लेकर उनके संतरी तक तुम्हे बेवकूफ समझने के चक्कर मे है। यही इनकी बेवकूफी है। यह लेखक तुम्हारे हाथों उनकी होने वाली दुर्गति को अभी से देख रहा है। तुम घबराना नही। तुम्हारे माता-पिता जो तुम्हे दुनिया

का सबसे बडा तकनीकी इजीनियर, डॉक्टर, मैनेजर बनाने के लिए दिन-रा
कर रहे है वे स्वय इन लोगो की कूपमंडूकी शिक्षा नीति को नही चलने देगे।
जरूरते, तुम्हारी गरीबी, तुम्हारी तकलीफें, दुनिया मे बराबरी के तुम्हारे सपन
साथ है। तुम्हें कौन भूत डरा सकता है? उलटे, तुम्ही इस भूत को भगाअ

जनसत्ता, 11 सितबर, 2001

'पैरानॉयड' समा

बाबरी से बामियान

हमारी यह दुनिया बाबरी से बामियान तक बहुत जल्दी जा पहुँची है। भूमडलीकृत वातावरण ने धर्म के चिह्नों को आमने-सामने ला खडा किया है। कोसोवो की एथनिक सफाई और फिलस्तीन के अनर्थक खूनखराबे के बाद बाबरी और बामियान के उत्पात धार्मिक चिह्नों के नए भूमंडलीकृत समर दिखते है जिन्हे सेमुअल हंटिग्टन के 'क्लैशेज ऑफ सिविलाइजेशस' के प्रभाव के रूप मे पढा जा सकता है। लेकिन मामला सभ्यता के सघर्ष का उतना नही है, जितना बनाया और दिखाया जा सकता है यद्यपि सांस्कृतिक चिह्नों के संघर्ष मे सभ्यतामूलक चिह्न भी सक्रिय नजर आते है। जिस प्रकार कोसोवो म सर्ब और क्रोट के बीच के युद्ध अपने गली-युद्ध मे बदले और जैसे ईसाई पश्चिम ने मुसलमानों की 'सफाई' होने दी और अब आकर एक युद्ध अपराधी को सजा दी, उससे ईसाइयत और पश्चिम की आधुनिकता के मानकों को आमने-सामने खडे हात देखा जा सकता है। कोसोवो बताता है कि सभ्यता के सघर्ष अगर कोई है तो पश्चिम के भीतर ही है न कि पूरब के भीतर। उन्हे अगर कोई पूरब का बनाता ह तो पश्चिम मे ही बनाता है। कौन नही जानता कि सोवियत सघ को रोकने के लिए अमेरिका ने ही तालिबान को खडा किया और इस्लामी तत्त्ववाद को ताकतवर बनाने मे मदद दी जिसका मोहरा पाकिस्तान बना और अब बामियान में बुद्ध की प्रतिमाएँ तोडी जा रही है। क्या इसे आसानी से 'सभ्यता का समर' कहा जा सकता हे? नही, यह सब इतना आसान नही है।

यह सच है कि अनेक सास्कृतिक चिह्न इस भूमंडल में अपने लिए नई गुजाइश खोजने के लिए आमने-सामने हैं और होंगे, क्योकि सोवियत के पतन के बाद अपने लिए जगह घेरने के नियम बदल गए हैं। नियम बदलने का उदाहरण यही है कि अब धर्मयुद्ध या संघर्ष कानून से ऊपर कर दिए जाते है। कोसोवो में यही हुआ। बाबरी मे यही हुआ और हो रहा है और बामियान में भी यही हो रहा है। दुनिया मे बुद्ध को मानने वाले इतने सारे लोग और कई देश है लेकिन बुद्ध को बचाने कोइ नही आ रहा है। सबने जैसे मान लिया है कि बुद्ध को मर जाने दिया जाना चाहिए। बामियान का यह क्षण बताता है कि संस्कृति के चिह्नों के इस समर मे

एक बार फिर सभ्यताएँ अपने निर्णायक युद्ध मे जाने से कतरा रही है और हटिंग्टन के सूत्र विफल हो रहे हैं। जिस तरह कोसोवो में लंबी चुप्पी रही और दोयम दरजे के नेता को अपराधी ठहराया गया उसी तरह बाबरी मस्जिद को तोड़ने वालो के पक्ष मे कानून को मोडने के लिए उतावले लोग भी यही सिद्ध करते है कि धर्म, संस्कृति और सभ्यता स्थानीय है, कानून से ऊपर है और कानून को उसमे दखल पहले तो देना ही नही चाहिए और अगर दे भी तो चेतावनी आदि देकर अलग हो जाना चाहिए।

लेकिन बामियान मे इसके आगे की बात हुई है। यहाँ अपनी कट्टरता को अपने निकृष्ट ढग से तय करने के बाद तालिबान इस्लाम को एक ऐसे सक्रिय बिंदु के रूप मे बनाना चाहता है जिससे इस्लाम फिर अपने मिथकीय उत्स के मध्यकालीन धर्मयुद्धो में लिप्त हो जाए और कोई भी कानून उसे न पकड़ सके। इसे संघ के तत्त्ववाद से मिलाकर पढ़िए। आधुनिक सभ्य समाजो के इस्लामी विमर्शों में ईसाई समाज की आधुनिकता के उत्स और केंद्र रहे है और संघी विमर्श मे भी ऐसा माना जाता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि बुद्ध-विश्वासी आबादी के बीच ईसाइयत को इतने संदेह से देखने के प्रमाण नहीं मिलते। क्या यही कारण है कि बुद्ध एक लावारिस चिह्न है? वे सबके होते हुए भी किसी के नहीं है। और तो और, यूनेस्को की विश्व धरोहरों की छह सौ नब्बे की लिस्ट मे आश्चर्यजनक रूप से यही दो मूर्तियाँ गायब है और यूनेस्को के जिम्मेदार आदमी कह रहे हैं कि हमें लगता था कि ये शामिल है। हाय! बुद्ध तुम इसी तरह भुलाए जाने योग्य थे क्योंकि तुम पता नहीं कब से सत्ता के विमर्श से इतने बाहर और इतने अकेले न जाने क्यों खड़े थे! क्या यह वही अकेलापन नही, जो राजपाट छोड़कर वनगमन करने से लेकर ज्ञानप्राप्ति करने तक और उसके बाद सब कुछ त्यागने की प्रव्रज्या में रहना था, जिसने तुम्हारा इस रेत के पहाड़ तक पीछा न छोड़ा?

यही हमे बामियान का मानी पता चलता है जिसे कोई चाहे तो खींचकर सभ्यताओ के समर के रूप मे पढ़ सकता है, चाहे तो उसे बदलने की व्याकुल परम्परा और धर्म के चिह्नों के आधुनिक बेगानेपन के रूप मे भी पढ़ सकता है। भारतीय सभ्यता के चिह्न, जिनमे बुद्ध का चिह्न एक विराट और दुख का शायद सबसे मार्मिक चिह्न रहा है, इन दिनों लोगो के दिलों मे एक हूक की तरह रह-रहकर उठता है। आप अपने देश की धरोहरो के हतभाग्य को लेकर रोते है कि देखो यह क्या हो रहा है, कोई उन्हे रोक भी नही सकता? क्षोभ होता है कि इन दिनों भी कुछ लोग इतने बर्बर और पागल है जो ऐसा कर सकते है। इस क्रम मे अपने क्रोध को आसन्न आकार देता हुआ कोई भी व्यक्ति इस्लाम को इस सबका जिम्मेदार मानकर वैसा ही उन्माद पैदा कर पल्ला झाड लेगा जैसा इस्लाम के नाम पर तालिबान कर रहे है। तालिबान अपनी हरकत से जिस इस्लाम को 'पॉपूलर' कर रहे है उसमे उसकी छवि एक अनमनीय मध्यकालीन जिघांसाभरे धर्म की तरह उभरती है जो कला-संस्कृति

का दुश्मन है। ऐसे वक्त में कोई भी हिंदुत्ववादी एक बार खुश हो रहा होगा कि देखा, इस्लाम का घिनौना चेहरा अपने आप सामने आया, हम कहते थे न। जब अब इतना है तो मध्य काल में कितना न होगा? यहीं कहीं वह जिघांसावादी विचार भी आकर बैठ जाता है जो कहता है कि बुद्ध-विश्वासी लोगों के पास ताकत नहीं है। होती तो क्या ऐसा हो जाने देते? हिंदुत्ववादी कहेगा कि शस्त्र के साथ शास्त्र तो हमारे पास ही हैं। हमने बाबरी तोड़ी तो क्या कर लिया?

इस तरह बहुत आसानी से बामियान को इस्लाम विरोधी मुहिम में बदलकर म्यामा के विद्यार्थियों की तरह हटिंग्टनी विमर्श मे जाया जा सकता है जो कहते हे कि अगर प्रतिमाएँ ढहाई तो हम म्यामा मे कोई मस्जिद साबित नही छोड़ेगे। किसी को भी लग सकता है कि यह वक्त तो सभ्यतामूलक युद्धों का वक्त है। कोई चाहे तो बाबरी से बामियान तक की घटनाओं को एशियाई इलाके मे सभ्यताओं के सघर्ष के रूप में पढ सकता है। पढा भी जाता है। लेकिन यह हटिंग्टन साहब की थीसिस का विखडनात्मक पाठ ही है जो उसका दुश्मन हो जाता है और फिर-फिर बताता है कि सभ्यताओ के कथित आसन्न युद्ध में सभ्यताओं के चिह्नो के बहाने और उनसे ज्यादा एकध्रुवीय जगत् मे बहुध्रुवता के समर छिड़े है। तालिबान का अपने में बद होना बताता है कि वे इस्लाम को उसी तरह पवित्र, शुद्ध और अकलुष मानते हे जिस तरह हमारे हिंदुत्ववादी 'हिंदूधर्म' मानते हे और जरा-सी बात पर मारपीट कर बठते हे। दरअसल ये मिथकीय धर्मभाव को ग्लोबल और उसके बाजार मे गिरने और गिरने से बचाए रखने की व्याकुलताएँ हैं जिन्हे सभ्यता के समर का नाम दिया जाता है। जो लोग इस बाजार और ग्लोबल को पश्चिम का पर्याय मान लेते है शुद्धत हटिंग्टनी विचार के शिकार होते हैं और धर्म के नए सस्करण बनाने से मना करके हारने की ओर अग्रसर होते है और जितना वे हारते जाते है उतने ही हिंसक होते जाते है।

जिस अफगानिस्तान की अर्थव्यवस्था नशे के व्यापार और पूर्व-अमेरिकी हथियारो पर खडी है उसमे किस प्रकार का इस्लाम रहता है, यह तो इस्लामी विद्वान् बताएँ, हम तो यही कह सकते है कि यह कोई लडाई नही, एक खिसियाहट है जो अपनी जिद को ही अपना विचार बनाकर कहती है कि मै हमेशा सही हूँ। तत्त्ववाद का जादू ही ऐसा होता है कि वह तत्त्व को परम मान लेता है जबकि पूँजी का तत्त्व उसे हर बार भाप बनाता रहता है। इन दिनो ग्लोबल पूँजी का ताप जिस भाप को बना रहा है उसमे एक मरियल पिल्ला भी अपने मूल तत्त्व को पकड़कर ठोस होते रहना चाहता है और इस चक्कर मे डॉलर को पश्चिमी कहकर अपने पूरब को उससे अलग करने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। बहुत सारी लड़ाइयाँ इसीलिए हैं कि अभी पूरा भूमडलीकरण नहीं हुआ है। बहुत-सी भूमिगतता इसीलिए है कि कुछ को लगता है कि छिपा-बचा जा सकता है। यह विश्वपूँजीवाद का वक्त, जो पूरब-पश्चिम को

उजाड़ डालता है और धर्म को उसकी कथित पवित्रता से अलग कर देना चाहता है, उसे हटिंग्टन और उनके चेले सभ्यता का संघर्ष कहते हे और पूंजी के लिए संघर्ष कहने से कतराते हैं। टीवी पर कभी-कभार नजर आते तालिबान और आम गरीब फटेहाल अफगानी जन को देखकर कोई भी कह सकता है कि कुछ हैं जो सोचते है कि इस्लाम के नाम पर ही अब इस समाज को बदलने से रोका जा सकता है। यही हो रहा है। नशे और हथियारों के व्यापार को वे लोग गैर-इस्लामी नहीं मानते क्योंकि यह उन्हें सत्ता देता है और सपना देता है। वे उत्पादन को बढ़ाकर, कृषि संबंधों में सुधार लाकर, उपज बढ़ाकर अपने राष्ट्र को आधुनिक बनाकर आगे नहीं बढ़ना चाहते जबकि दुनिया आगे बढ़ी जा रही है। उन्हें भी खबर है और वे खिसियाते हैं।

खिसियाहट उत्तर-आधुनिक समय का एक प्रतिक्रियात्मक मूल्य है जो पीछे छूट जाने की गहरी वेदना के कारण पैदा हुआ है और जिसे पूँजी की मार ने पैदा किया है। अब जरा धर्म के, सभ्यता के इस कथित समर के बीच हटिंग्टन की 'क्लैशेज ऑफ सिविलाइजेशंस' के कुछ सूत्र देख लिये जाएँ। हटिंग्टन का विचार है कि पश्चिमी सभ्यता उतार पर है और गैर-पश्चिमी सभ्यता चढ़ाव पर है। गैर-पश्चिमी सभ्यताओं में इस्लाम की 'उग्रता' और चीनी 'सभ्यता' और पश्चिमी ईसाई सार्वभौमिकता के बीच सतत तनाव विद्यमान है। इन सभ्यताओं के केंद्रों के बीच अनेक दरारें हैं जो अहर्निश युद्धों और झगड़ों में नजर आती हैं। वे इस्लाम के इस नए उभार को मुसलमान आबादी के साथ जोड़कर देखते हैं और सभ्यता के नाम पर मूलतः धर्म को केंद्र में रखकर चलते है। उनकी एक मुख्य स्थापना उन दरारों को रेखांकित करने की है जिन्हें पश्चिम की सार्वभौमिकता खत्म नहीं कर सकी है। ये 'फॉल्ट लाइनें' पश्चिम में नहीं हैं। जो कुछ रही-सही थी उन्हें कोसोवो में किस तरह ठीक कर लिया गया है और पश्चिमी सभ्यता अगर बचनी है तो अमेरिका को केंद्र बनाकर ही बच सकेगी।

हम याद कर सकते हैं कि किसी वक्त यही हठ ईरान के खुमैनी के पास था और आज वही ईरान तालिबान को मूर्तियाँ तोड़ने से मना करता है और हमारे कॉलेज के भाई इदरीस साहब तक फरमाते हैं कि यह बहुत गलत बात हो रही है और कि इस्लाम यह नहीं सिखाता। लेकिन तालिबान इस्लाम का एक फंदा बनाकर सारी 'फॉल्ट लाइनों' को एक बार में ठीक करने के सपने सँजोए है। उन्हें उम्मीद है कि इस्लाम के नाम पर देर-सवेर सब मुसलमान एक साथ हो जाएँगे। विचित्र एका है कि हटिंग्टन भी ऐसे पैन-इस्लामावाद को सच की तरह पढ़ते हैं, मुसलमान आबादी को एक लगभग अभेदात्मक आबादी की तरह देखकर उनके भेदों को मिटाने को मचलते हैं और हिंदुत्ववादी भी ऐसा ही करते हैं। भेद की जगह अभेद को लाने की मुहिम नए पूँजीवाद के प्रतिक्रियात्मक अभेदवाद का मानो प्रतिबिंब ही है और यदि उसकी तात्कालिक अंधता को छोड़ दें तो वह पूँजी के नए एकमुश्त बाजार

को भी एक दिन बनाएगा। तब क्या हम कह सकते है कि कट्टरता जो केंद्र बनाती है वे अंततः किसी बड़े केंद्र मे समा जाने के लिए होते है? बामियान के बियाबान मे टूटते बुद्ध इस समय मे इसीलिए तो असहाय हैं कि वे किसी सत्ता के काम के नही है और दुनिया के सत्ता-विमर्श से इस कदर बाहर है। कही इसीलिए तो फूको की 'द आर्कियोलॉजी ऑफ नॉलेज' इतिहास की एक-लाइनी व्याख्या की दुश्मन बनती है कि इतिहास को उसके सातत्य के अलावा उसके छिन्नता के क्षण में भी पढ़ा जाए। बुद्ध की मूर्तियों को टूटते देखते हम निरीह होकर महसूस करते है कि इतिहास अपने विषय के 'पार' जाने को संभव नही बनाते। वे अमरता के आख्यान नही होते। वे मूल उत्स मे भी शायद नही होते। वे अपने एक दीप्त क्षण में होते है और एक दूसरे के विपरीत संघर्ष मे होते हैं।

बुद्ध भगवान् इतने दिन बाद भी एक दीप्त क्षण है, जो कह रहे हैं कि यह जगत् मिथ्या है, दुखमूलक है और इसके पार जाना कठिन है। यहीं वे तालिबान की चोटों से बहुत दूर चले जाते है और अमर हो जाते है। किसी कलाकृति की तरह। हम इस उत्तप्त जलते हुए क्षण को सिर्फ घृणा और निंदा से नहीं कह सकते, सिर्फ सह सकते हैं।

• जनसत्ता, 7 मार्च, 2001

बुश के आँसू

'आ यम ए लविग गाई।' कहते-कहत बुश रो दिए। उनकी बायीं ऑख मे एक ऑसू झिलमिला गया। यह दुनिया के सबसे ताकतवर राष्ट्र के नायक की ऑख का सबसे कठोर ओर अनमोल ऑसू था जो देर तक वहीं ठहरा रहा जिसे कैमरे दिखाते रहे ओर जो टपका नही। अपने ही सुख-स्वप्न मे तिर रहे अमेरिका को बहुत दिन बाद गहरी पीड़ा हुई और वह ऑसू बनकर निकली। पिछले ही वर्षों में एक रोज क्लिन्टन ने कहा था कि हिरोशिमा-नागासाकी पर अणुबम गिराने के लिए वे अमेरिका का दोषी नहीं पाते है। लेकिन जब अपने पर चोट पडी तो ऑसू आया। ओह! यह अपना पर-पीडानद नही है। यह पर-दुखकातरता है जो कल तक अमेरिका मे कम दिखती थी। इसलिए उस ऑसू की चर्चा उसकी निष्ठुरता का जिक्र किए बिना नही की जा सकती और तभी मरनेवाले निरीह जनो के परिजनो और बुश के भी ऑसू पोछ जा सकते है।

अब जहॉ मैनहटन के अभिमानी स्काईस्क्रैपरो से भरी आकाशी रेखा उजाड ओर कुछ दरिद्र हुई है, जहॉ दो-ढाई दिन तक काले-पीले धुएँ के बादल उमड़ते-घुमडते रहे हे, जहॉ-विश्व के नए पूँजीवाद के प्रतीक विश्व व्यापार केंद्र के दुर्दमनीय टॉवरो को बलुहे मकान की तरह अपनी ही धूल और आग में बैठते हुए देखा गया हे, वहीं विश्व भर में लोगो ने अमेरिका की भाग्यरेखा को भी बदलते हुए देखा है। वे ऑसू नहीं है, एक सुपर पॉवर के पहली बार सचमुच घायल होने के चिह्न हैं, विश्वविजयी महान् अमेरिका के दंभ के अचानक चूर हो उठने के दिन है। अमेरिका से हमेशा परेशान रहे लोगो के दिलो में मानो ठडक पड़ी है। दुनिया के दारोगा को उसी के घर मे जाकर किसी ने तो चुनौती दी—ऐसे वाक्य इन दिनो अमेरिका से कल ही लबे शीतयुद्ध में हारे प्रगतिशील विमर्श मे सुनाई पड़ सकते है। लेकिन दुख वहाँ भी है। अमेरिका के निरीह लोगो के मारे जाने का दुख है और शायद वहाँ उस महावृत्तांत के अचानक वेध्य हो उठने से पैदा हुई चिता भी है जो पूँजीवाद ने अपने बलबूते पर पिछले चार-पॉच सौ साल में बनाया है जिसे आजादी और जनतन्त्र के नाम से पुकारा जाता है और जिसका सर्वोच्च प्रतीक अमेरिका ही रहा है।

गिरते हुए मलबे की धूल के बवंडर के ऐन बीच बुश ने सबसे पहले जो वाक्य बोले, उनमें 'फ्रीडम-लविंग' अमेरिकी जनता और जनतंत्र के अलावा अमेरिकी जीवनशैली का जिक्र था जिसे 'ईविल' यानी शैतानी ताकतें बदल डालना चाहती है। उनका संकल्प था कि फ्रीडम जीतेगी, जनतंत्र जीतेगा और अमेरिका अपने ऊपर थोप दिए गए युद्ध को सदा की तरह जीतेगा। आखिर में बुश ने अपने शत्रु को 'छुपकर वार करने वाला', 'छाया में रहने वाला' कायर कहा। उसके थोपे युद्ध को इक्कीसवीं सदी के पहले नए युद्ध की संज्ञा दी और उसके लिए तैयार होने को कहा कि अब अमेरिका दुनिया के लिए उसे जीतेगा।

कहने की जरूरत नहीं कि दुनिया के सबसे बलशाली राष्ट्रनायक की आँख के उन आँसुओं और इस भाषा में एक विराट प्रस्थापना-परिवर्तन तैर रहा है। इस ग्यारह सितंबर के बाद अमेरिका वह अमेरिका नहीं है जिसके भ्रूकुंचन से देश काँपने लग जाते थे। जो दुनिया की एकमात्र बची हुई सुपर पॉवर था, जो नई विश्व व्यवस्था का सरगना था, जिसने हमेशा दूसरों की जमीन पर जाकर दूसरों को धूल चटाई थी और अपनी जमीन पर आज तक किसी को युद्ध नहीं लादने दिया था। वह अपनी हिफाजत के लिए अंतरिक्ष में ही मार कर गिराने वाली शस्त्र कला विकसित करने का कटिबद्ध हो रहा था, उसके स्टार वार की धमक से दुनिया के बाजार बैठ जाते थे, वह संयुक्त राष्ट्र को बेकार करके दुनिया के हर फैसले में खुद को पंच हुआ पाता था और लोग 'उसके पास दुनिया की हर समस्या का इलाज है' ऐसा मानते थे और आराम से जीते थे। यह प्रस्थापना-परिवर्तन दुनियावालों के लिए भी है। उनके सपनों की पूर्णता का एकमात्र बचा हुआ मिथ टूट गया है। यह एक भयावह शून्य है जिसे अभी कहा नहीं जाएगा, लेकिन कल कहा जाएगा।

नहीं, अब वह अमेरिका कभी नहीं जाएगा। वह अब अतीत है। जो अमेरिका होगा कुछ नया होगा। शायद इस समय से सबक सीखता हुआ या कि न सीखकर अपने अतीत की महानता पर आँसू बहाता हुआ, अपने दुश्मन को ललकारता हुआ—लेकिन अब उसका इतिहास हमेशा जयी का इतिहास नहीं रहा। और इसी बात को सबसे ज्यादा दुख उस अमेरिका को है। वह आँसू इसी दर्द को कहता है जो अब तक अपने राष्ट्र की दुर्जयता को हमेशा आँख मूँदकर मानता था और जिसे इतिहास की पुष्टि हासिल थी। और मानें न मानें, एक दर्द इधर भी होता है। आर्थिक हानि या जन की हानि से ज्यादा बड़ी चोट यही कलेजे पर लगी है। अमेरिकी अभिमान को चोट लगी है। हमें अमेरिका शायद पहली बार एक दुखी चेहरे में दिखाई दिया है जो उसे इतिहास में पहली बार सबकी किंचित-किंचित करुणा का पात्र बनाता है। विलंबित पूँजीवाद का नायक अपनी ही गति के आगे हार गया। अपनी ही पुरानी प्रस्थापना से बाहर न निकल पाने का नतीजा जिस तरह अब सामने आया है उसी तरह की समस्या तब सोवियत संघ के सामने आई थी जब वह अफगानिस्तान में

फँसा था और अमेरिका पाकिस्तान के भीतर तालिबान को अरब देशों के साथ मिलकर अपने डॉलर और हथियारों से तैयार कर रहा था, इस्लाम को कम्युनिज्म से लड़ा रहा था और अपने बाजार को इस्लाम के तत्त्ववाद से सुरक्षित समझ रहा था। ये बातें हंटिंग्टन में मिलती है, लेकिन इस समस्या का उत्तर वहाँ नही मिलता।

सोवियत संघ के गिरने के बाद दुनिया में जो प्रस्थापना-परिवर्तन हुए, उनमें से एक यह था कि दो ध्रुवीय दुनिया में बहुत दिनों तक एक ध्रुव अपने बल पर नही रह सकता। बहुध्रुवीयता का विस्तार करने वाले नए पूँजीवाद ने जिस तरह राष्ट्रों की सीमाओं को पारदर्शी और झीना बनाया, उसमें एक सुपर पॉवर का जीना किसी भी तरह से फायदे का सौदा नही है उसे सोवियत-वाद के विश्व में, बहुकेंद्रिकता वाले विश्व में नई प्रस्थापनाओं के साथ जीना सीखना होगा। यह स्वयं विलंबित पूँजीवाद की उत्तर-आधुनिक दशाओं की माँग थी जो विश्व भर में अपनी तरलता को राष्ट्रों की तरलता के समानांतर रखकर चलता था।

यह पहली बार है कि अमेरिका का राजनीतिक अर्थशास्त्र अपनी ही बदली हुई राजनीतिक प्रस्थापनाओं के आशय नही समझ सका है। वह तकनीकी क्रांति के, सूचनाक्रांति के अर्थों को भी पूरी तरह नही समझ सका और यह भूल गया कि इस ग्लोबल चंचल तकनीक और पूँजी के समय में सिर्फ पूँजी ही नही, धर्म और पहचान के चिह्न और संस्कृति के चिह्न भी तकनीक और सूचना का सहारा लेकर उस उतनी ही मर्मांतक चोट पहुँचा सकते है जितनी कि कल्पना तक वह न कर सकता था और अब छोटे संगठन और समूह तक चोटिल कर सकते है। सारी दुनिया का नक्शा सचमुच बदल डालने वाला पूँजीवादी प्रतीक यह समझना भूल गया कि जो दुनिया आप दूसरों के लिए बनाते है वही दुनिया आपके लिए भी आफत होती है, हो सकती है। समाजवाद के महान् वृत्तांत के गिरने के बाद अकेले पूँजीवाद का महान् वृत्तांत भी भला उत्तर-आधुनिकता में क्योंकर महफूज रह सकता है?

और यही कही अमेरिकी थिंक टैंकों की नए 'प्रस्थापना परिवर्तनों' के प्रति नासमझी भी प्रकट होती है। यही कही सेमुअल, हंटिंग्टन सरीखे चिंतकों की 'सभ्यता मूलक संघर्षों' की प्रस्थापना की सीमाओं का अहसास होता है। जरा देखें : 'ईविल' आदि की पदावली का उपयोग करके बुश ने अपने संबोधनों में बिन लादेन के 'जिहाद' के बरक्स मध्यकालीन ईसाई 'क्रूसेडों' की धर्मयुद्धीय भाषा से ही काम लिया है। लगता है बुश अभी भी किन्हीं सभ्यताओं के संघर्षो की बात कर रहे हैं। यही वे फँस रहे है। हंटिंग्टन की पदावली में जिन 'कोर स्टेट और फॉल्ट लाइनों' का जिक्र बार-बार आता है वहाँ यह बात बार-बार दुहरती है कि इन दिनों विश्व राजनीति का 'सांस्कृतिक पुनर्चित्रण' हो रहा है। इन 'फाल्ट लाइन' मार्का युद्धों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

फाल्ट लाइन के युद्ध मूलतः सांप्रदायिक किस्म के होते है और कभी-कभी

वे इस तरह अपनी जनता और राज्य सत्ता के बीच भी हो सकते हैं। वे हिंसक होते है। वे दो राज्यों के बीच भी हो सकते है। राज्य मे दो समूहों के बीच भी हो सकते है। ये युद्ध सांस्कृतिक भी हो सकते है। इसके उदाहरण के रूप मे भारत, चीन और मलेशिया में मुसलमानों को खास चिह्नित किया गया है। हटिंग्टन की समूची थीसिस मे सबसे बडी फाल्ट लाइन, सीधे शब्दों में कहे तो इस्लाम है जिन्हे हटिंग्टन इस्लाम के 'खूनी सीमांत' कहते है। उन्होने इन फाल्ट लाइन युद्धों का पहला अवदान तो यह माना है कि 'समस्या रेखा' के भीतर रहने वाले धीरे-धीरे अपनी सभ्यता की ओर जाते है। फिर अपने स्वदेश और उनके डायस्पोरा के बीच संबध बनते है। फिर वे लगातार तनाव मे होते है।

हंटिंग्टन की थीसिस की समस्या यह है कि वे इसी प्रकार के धर्मयुद्धो को सार्वभौम मानते हैं और ग्लोबल पूँजी मे तिरते जनतत्र एव बहुसांस्कृतिकता के नए प्रयोगों को जगह नही देते क्योंकि उनकी नजर मे तो मामला संस्कृति नही, मूल सभ्यताओं के बीच तय होना है। अमेरिकी दिमागों मे हटिंग्टन की थीसिस कितनी लोकप्रिय है यह बात बुश साहब के 'ईविल' पद के उच्चारण से पता चलती है। यही बिन लादेन की अमेरिका के खिलाफ जिहाद शुरू करने की बात आती है तो बुश की बात का एकदम पूरक बन जाती है। यही हम उस शून्य को बनते देखते है जो हटिंग्टन टाइप की थीसिसों मे बनती है।

पूँजीवादी सभ्यता यदि धर्म के चिह्नों को बदलती है तभी तो फाल्ट लाइने बनती हैं। उपनिवेशवादी समय मे सभ्यताएँ विचलित हुई है और बडे पैमाने पर जन-विस्थापन हुए हैं। स्मृतियों-संस्कृतियों का संकुचन भी हुआ है जिसके चलते इन दिनों पश्चिम ही उत्तर-औपनिवेशिकता को ऊर्जस्वी करने पर तुला रहता है। इसी समझ के चलते अमेरिका आदि देश अभी तक राष्ट्रवाद के संदर्भ मे अपनी रणनीति बनाया करते है जिनके पीछे धर्म के चिह्नों को नहीं भुलाया जाता। हंटिंग्टन की थीसिस इस समझ से मेल खाती है लेकिन यह समझ इस बात को ध्यान मे नहीं रखती कि जिस वक्त राष्ट्रों की रेखाएँ धूमिल हो रही हों और ग्लोबल अंतर्निभरता बढ रही हो उस समय राष्ट्रवादी विमर्श बहुत कारगर नही हो सकता। जब राष्ट्रों के अपने केंद्र हिल रहे हों तब हमले का खतरा राष्ट्रों, 'नायकों', खलनायकों मे नही हो सकता। हो सकता है कि ऐसा हमला राष्ट्र मे ही मौजूद अपनी समस्या रेखाओं के लिए संघर्षरत ऐसे समूह का हो जो अपने राष्ट्र को नियत्रण मे लाने के लिए उसके रक्षक पर ही वार करे। जैसे पाकिस्तान मे लश्कर या अफगानिस्तान और अरब दुनिया में आने वाले दिनो मे अलकायदा या बिन लादेन करे। कहने का अर्थ यह कि अब लडाइयों के संघर्षो के अखाड़े जरूरी नही हैं कि राष्ट्र से राष्ट्र के हो जिनके लिए अमेरिका मिसाइल कार्यक्रम चलाने वाला था। वे एक राष्ट्र मे रह रही किसी उपराष्ट्रीयता और दूसरे की उपराष्ट्रीयता के बीच भी हो सकते हैं। हटिंग्टन

की सलाह यह है कि समस्या रेखाएँ दो तरह से खत्म होती है एक तो तब जब पहले चक्र के योद्धा थक जाते है और दूसरे कि संघर्षकारियों में समझौते की बात चलती है। लेकिन वे बार-बार कहते है कि सभ्यतामूलक संघर्ष शायद ही कभी शांति से बैठ सकते हैं। शायद यही कहीं हम बुश की 'ईविल' वाली बात को और लादेन की जिहाद की धमकी को समानांतरता में पढ सकते है। इस तरह हम मानकर चल सकते हैं कि अमेरिका के लिए बिन लादेन एक 'समस्या-रेखा' भर है जिसे अमेरिका या तो सीधे मारकर ठीक करेगा या कि अपने दबाव के बल पर उसे शरण देने वाले राष्ट्र को दबाव में लाकर सजा देगा।

लेकिन इस बार बुश उन्हें भी सजा देने की बात कर रहे है जिन्होंने बिन लादेन जैसे आतंकवादी को शरण दी है और जो अमेरिकी नजर में लगभग पक्का हमलावर है जिसने युद्ध थोप दिया है। अमेरिका ऐसा करने की हालत में है और उसे अपने राष्ट्र की खातिर ऐसा करना ही होगा लेकिन तब भी वह अपने जख्म के निशान नहीं ढँक पाएगा। और जिन फाल्ट लाइनो या 'समस्या-रेखाओं' की बात की गई, क्या इससे वह हल हो जाएँगी? यदि आप एक धर्म की भाषा को अपने धर्म की भाषा से ही काटेंगे तो क्या वह फिर सक्रिय नहीं होगी? हटिंग्टन जैसे गुरु होंगे तो वे इसी तरह एक सतत धर्म संघर्ष कराएँगे और कमजोर के थक जाने की राह देखेंगे।

जाहिर है कि बुश साहब की भाषा में आतंकवाद से भिडने की बात तो है लेकिन चोट खाने के बाद भी नए आतंकवाद को समझने की बात नहीं आई है। यदि यह इक्कीसवी सदी का पहला युद्ध है तो वह इसीलिए है कि उसमें 'मरजीवडापन' ही सबसे बड़ा हथियार है। अपनी जान देकर दूसरे की जान लेने, तबाह करने की बात करना दरअसल उस जनतंत्र के फेल होने की ओर भी संकेत करना है जिसे पिछली सदी मे बनाया गया था और जिसमें अनेक समाज और समूह अब नहीं समा पा रहे। 'मरजीवड़ेपन का संकल्प' बताता है कि कई लोग जनतंत्र के संवाद से बाहर रहना-जीना चाहते है। आपका जनतंत्र उन्हे आश्वस्त नहीं करता। आपका पूँजीवाद उन्हें आश्वस्त नहीं करता। ऐसे समूह जो जनतंत्र मे वाणी नही पा सकते आत्महंतात्मक हो सकते हैं। बिन लादेन या लिट्टे अपने-अपने स्तर पर ऐसे ही मरजीवडे समूह है जो जनतंत्र की बारगेनिंग के बाहर रहना चाहते हैं। अपनी जान देकर दूसरे की जान लेना—युद्ध का यह नया तरीका बताता है कि युद्ध बदल गए है क्योंकि तकनीक बदल गई और युद्ध अब जमीनी फतह का नाम नहीं है, एक सांस्कृतिक सूचनात्मक 'इंपेक्ट' का नाम है।

यहीं अमेरिका और उन सबकी जिम्मेदारी बढ जाती है कि वे इस नए मरजीवडे विमर्श को नए स्पेस के साथ समझें। उसे अपने जनतंत्र में संवाद के लिए तैयार करे और उसके लिए उस भय को पहले दूर करें जो नया प्रचंड पूँजीवाद अपनी चंचलता

से पैदा करता है और उसे ईसाइयत या इस्लामियत से परिभाषित न करे। मरजीवडापन सेनाओं से नहीं जीता जाता। वह इस्लाम को एक करके और एक रंग में देखकर भी नहीं जीता जा सकता। उसे शांत करने के लिए नई तरकीबें चाहिए। वे तरकीबें तुरंत नहीं बन सकतीं। कम से कम अमेरिका का आहत अभिमान अभी ऐसा नहीं होने देगा। लेकिन नया युद्ध है तो नई मिसाइल से ज्यादा वह उस आँसू से ही बुझेगा जो एक क्षण के लिए सचमुच बुश की आँख में झिलमिलाया था।

• जनसत्ता, 17 सितंबर, 2001

आतंकवाद : नए ग्लोबल अंतर्विरोध

करीब तीन सप्ताह होने को आए, लेकिन अमेरिकी मीडिया उस आश्वस्त अमेरिका को नही दिखाता जो 11 सितबर के बाद की दुनिया की चुनौतियों और उनमें अपनी सही भूमिका के लिए तैयार हो। उसके नेताओं के चेहरों पर शुरुआती परेशानियों की लकीरों की जगह हेकडी ने जरूर ले ली है, लेकिन उनकी आहत उत्तेजना छिपती नही है। वे अभी भी इस युद्ध को अपनी हॉलीवुडीय भाषा में पढ-समझ रहे हैं और दुनिया को समझा रहे है। शायद यही वह 'नया युद्ध' है जिसे राष्ट्रपति बुश ने शुरू किया है। इस नए युद्ध का नक्शा दिन-ब-दिन बन रहा है। आतकवाद के प्रतीक बिन लादेन और तालिबानों के खिलाफ साक्षात् युद्ध सबधी तैयारियों के अलावा राजनीति-कूटनीति, अर्थनीति, सूचना समरनीति और सस्कृति के क्षेत्र में सर्वत्र कुछ नए किस्म के 'प्रति-उत्तर' तय किए जा रहे हैं। इन्हे पढना इसलिए भी आसान है कि नए युद्ध की तमाम तैयारी इन दिनों सूचना सजाल पर लगातार बताई जाती रहती है। इसे पढना इसलिए भी उपयोगी है कि हम जान सकते है कि इस तैयारी की सीमाएँ किस तरह इसे कमजोर भी बनाती हैं। इन्हें पढना अमेरिकी मीडिया को भी पढना है, जिस सूचना समाज को अमेरिकी मीडिया बनाता रहा है उसी में वह स्वय को किस तरह बना रहा है यह देखना एक दिलचस्प काम है। कहने की जरूरत नही कि अमेरिका जिस नए युद्ध का इस तरह निर्माण कर रहा है उसमें वह अभी तक पूरी तरह आश्वस्त नजर नही आता है। इसे आतकवाद के नए चरण और उसके नए नायको ने बनाया है। जिस शत्रु से उसका सामना होना है उसको कोसते-कोसते भी उसकी तस्वीर अभी तक यह आश्वासन नही देती कि वह एक मुकम्मिल तस्वीर है। शत्रु की ऐसी विरल-तरलता ही उसकी ताकत है जो इस शत्रु को 'नेति-नेति' की तरह बनाती है। वॉयस ऑफ अमेरिका से तालिबानो के नेता उमर अब्दुल्ला के साक्षात्कार का प्रसारण रोका जा सकता है, लेकिन पिछले 15 दिनों में बिन लादेन का अमेरिकी मीडिया में जो महाकाय बनाया गया है उसका क्या किया जा सकता है?

इस युद्ध की एक अप्रतिम और मोहक विडबना यह भी है कि बाप के बोए

का बटा अब काट रहा है। सब जानते है कि इन्ही राष्ट्रपति महोदय के पिताश्री जार्ज वाकर बुश साहब अपने उपराष्ट्रपतित्व काल मे दसेक साल पहले सोवियत सेना को हराने के लिए तालिबान के मदरसे जब पाकिस्तान मे कायम कर रहे थे तब वे इसी बिन लादेन को वहाँ एक ताकतवर नायक के रूप मे पधरा रहे थे।

सच है कि अमेरिका इस युद्ध के लिए तैयार नही था। सोवियत संघ को ठिकाने लगाने के बाद और चीनी कम्युनिस्टों मे पूँजीवाद के प्रति अनुराग पैदा करने के बाद वह अब विश्व बाजार को अपने ढग से चलाने-बनाने के खेल में मगन था तथा अपनी मदी से जूझ रहा था। उसके सिद्धांतवेत्ता सो रहे थे, क्योंकि कम्युनिज्म का शत्रु खत्म किया जा चुका था। हॉलीवुडीय जेम्स बाड की फिल्म के किसी आखिरी सीन मे मानो अमेरिका सो रहा था। यह आखिरी सीन था जब एक्शन करके आया जेम्स बाड किसी सुदरी के बिस्तर मे सोया होता है। जरा देखे कि उसके सिद्धातवेत्ता किस युद्ध की बाते कर रहे थे? वे कल तक तकनीकी, सूचना-युद्ध और ई-युद्ध की बात करते थे। वे कल्पना करते थे कि एक दिन ऐसा आ सकता है जब आप इ-युद्ध यानी कप्यूटर और इटरनेट युद्ध के जरिए किसी देश के बिजली घर को तबाह कर दे, अंधेरा फैला दे, कभी उसके अणुबमो को बेकार कर दें। अमेरिका ऐसे युद्धों को चलाने और उनसे बचने के उपायो मे ही लगा था। दरअसल अमेरिका अपनी तरह के किसी तीसरे युद्ध की तैयारी मे था जिसमें वह होगा और और आकाश होगा, जिनमे शत्रु देश की मिसाइलो को वह अपनी मिसाइलों से मार गिराएगा।

ऐसी ही हकबकाहट और बौखलाहट मे अमेरिका इस नए युद्ध का निर्माण करने मे लगा है। इस नए युद्ध मे एक कमी तभी साफ हो गई जब लगा कि अमेरिका जैसी बडी ताकत 'एक आदमी को पकडने के लिए परेशान' है। अमेरिका शायद अभी तक पूरी तरह नही समझा है कि उसका मुकाबला एक ऐसे नए शत्रु से है जिसके बारे मे उसके पास सक्षम इंटलीजेन्स तक नही है। यह विचित्र शत्रु है जिस पर जितना हमला किया जा रहा है वह और भी दुर्जेय और रहस्यमय नजर आता है। अमेरिका युद्ध की तैयारी तो कर रहा है लेकिन इस नए युद्ध का नक्शा वह अभी तक कायदे से नही बना पा रहा। वह आतकवाद की बात तो कह रहा है लेकिन आतंकवाद के नए चरण सुसाइड बॉबिंग और उससे जुडे हीरोइज्म और कुर्बानी के उन मूल्यों को नही समझ पा रहा जो आत्महता चार अमेरिकी विमानो के अप चालकों यानी हाइजैकरों का बिन लादेन की दुनिया मे मिल सकते है और जो भयानक मानवीय अंधी इच्छाशक्ति के प्रतीक हैं। तकनीक और पूँजी के आगे अंधी इच्छाशक्ति। सिस्टमों के आगे विध्वसक मध्यकालीन दिमागो का पागलपन और इसका बनता हुआ एक प्रभामंडल। यह सब मिलकर नए हमलावर को एक नए विचारधारात्मक क्षेत्र का प्रतीक बनाता है जो

शीतयुद्धीय जमाने से नितांत अलग है। एक सवाल नए अखाड़े का भी है। अब तक तमाम युद्धों के अखाड़े और नियमों को तय करने का काम आगे बढ़कर अमेरिका स्वयं करता आया है, लेकिन यह पहली बार है कि अखाड़ा और नियम किसी दूसरे ने ही तय किए है। इस बार का अखाड़ा अमेरिका की टॉवरें और अमेरिकी जन और जीवन शैली बनाई गई है। इसके साथ ही अखाड़े से ज्यादा उसके हर कहीं हो सकने का भय है। यह भय अखाड़े को मिथक में बदलता है और उसे रहस्यमय आकार देता है। अखाड़े की ऐसी नई अवधारणा इस नए युद्ध की शायद सबसे बड़ी विशेषता है जो कहती है कि यह एक अस्थिर युद्ध है, अनिश्चित युद्ध है और सर्वत्र का युद्ध है। अपनी परिणति में भी जरूरी नहीं कि यह अमेरिका को शुद्ध विजेता सिद्ध करे। इसकी व्यंग्यात्मकता इसी से प्रकट है कि अपने पहले चक्र में नए खलनायक ने दुनिया के दारोगा के गाल पर उसी के घर में जो चपत लगाई वह अभी तक सहलाई जा रही है। दुनिया इस दारोगा की पिटाई देख हमलावर की अनीति का दोषी बताती हुई भी एक बात से प्रसन्न है कि कोई तो है जो विश्व के दारोगा के साथ ऐसा कर सकता है। यानी इस युद्ध के पहले हल्ले में अमेरिका का दारोगा होने का युग समाप्त-सा कर दिया है। इसी तरह इस युद्ध की टाइमिंग भी उसी ने तय की है जिसने इसे शुरू किया है। अमेरिका के तमाम खुफिया तंत्र और सुरक्षा तंत्र और सूचना तंत्र की आँखों में धूल झोंककर उसने 'मियाँ की जूती मियाँ के सिर' वाली मिसाल कायम की है। जहाज अमेरिका के, टॉवर अमेरिका की, आदमी अमेरिका के और दे मारा। अपनी जान देकर जान लेना—यह वह नया मुहावरा है जो इस नए आतंकवाद ने दिया है। वह पुराने युद्धों की तरह किसी एक देश की सीमारेखा यानी भूगोल में लड़ा जाने वाला युद्ध नहीं है। इसीलिए बार-बार कहा जा रहा है कि आप फौज-फाटे के बल पर इसे नहीं जीत सकते। अमेरिका भी शुरुआती फूं-फाँ के बाद अब राजी होने लगा है कि मामला पेचीदा है और लंबा खिंचने वाला है। अब टक्कर आतंकवाद से है जो पूँजीवाद की तरह तकनीक संवलित है और ग्लोबल है जिसमें आत्मबलात्मकता का नया तत्त्व प्रवेश पा रहा है जो मरजीवड़ेपन की परंपराओं से ताकत ले रहा है जिसके पीछे धर्म के चिह्न सक्रिय किए जा रहे हैं जिसमें अमानुषिक ही सही, लेकिन एक प्रकार का बलिदानीपन काम करता है जो बलिदानी को एक नया प्रभामंडल देता है। उसका हठीलापन एक सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक संरचना है। अमेरिका इस उपक्रम के सामने कतई तैयार नहीं दिखता। उसका मीडिया 'लादेन बराबर तालिबान बराबर इस्लाम' करते हुए उसे उसी धार्मिक अखाड़े में ले जा रहा है जिसकी गारंटी स्वयं लादेन देता है। सोचने की बात अखाड़े के बदलने की है, मानकों के बदलने की है, युद्ध के नियमों के बदलने की है। दुनिया का पूँजीवादी सरगना होने के कारण अमेरिका का बड़ा काम यह है कि वह आतंकवाद को सबके साथ मिलकर उसकी सफलता में संबोधित करे। उसे सिर्फ 'अमेरिकी जीवन शैली और अमेरिकी आजादी

पर खतरा' कहकर न समझे। उसके नृशंस पूँजीवादी हिंसा से आतंकव
ताल्लुक है यह भी सोचें। कहीं ऐसा तो नहीं कि पूँजीवाद जहाँ आज तक
है उसके भीतरी पुराने अंतर्विरोधों के अलावा आतंकवाद नए अंतर्विरोधी र
में पैदा हो रहा हो जो स्वयं को बदले बिना खत्म नहीं किया जा सकत

• दैनिक भास्कर, 3 अक्टूबर, 2001

इस रक्ताक्त कविता को पढ़ते हुए

अमेरिकी लेखक जॉन अपडाइक से मैनहटन के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की ट्विन टॉवरों के अतर्ध्वस के बाद जब एक पत्रकार ने पूछा कि वे इस समय इस घटनाक्रम के बारे मे क्या कुछ लिख रहे है, तो उनका उत्तर था · उन्हे यही नहीं मालूम कि कहॉ से शुरू करे। अगर आप इस सबको कहना चाहेंगे तो उसे तभी पूरी तरह कहा जा सकता है जब आप आतकवादियो के नजरिए मे कहें। उनके दिमागों मे क्या चल रहा है, इसे पढ़ें। वे एक अमूर्तता से इतनी घृणा क्यों करते हैं? अमेरिका उनके लिए आखिरकार एक अमूर्तन ही तो है।

अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश द्वारा 'जिदा या मुर्दा' चाहा गया बिन लादेन कहते है कि एक कवि भी है। उसकी कविताएँ और गीत फिलस्तीनी आतकवादी और तालिबान गाते है। ऐसे आतकवादी दिमाग में प्रवेश करने की बात तालिबान द्वारा नियत्रित अफगानिस्तान में घुसने से कहीं ज्यादा खतरनाक कही जा सकती है। बिन लादेन एक ऐसे मिथक की तरह अमेरिकी मीडिया द्वारा पिछले दिनो गढा गया है कि उसे 'समझना' ही उसे 'पकडने' के बराबर हो गया है। लेकिन अब बिन लादेन का पकड़ा जाना एक प्रतीकात्मक काम ही रह गया है। सच तो यह है कि बिन लादेन ने न केवल अमेरिका को उसके घर मे और दुनिया के दिमागो मे पकड़ लिया है, वह देखते-देखते ऐसे महामिथक में तब्दील हो गया है जिसकी कल्पना उसने भी नहीं की होगी।

दुनिया की सबसे बडी ताकत और शेष तमाम ताकतवर देशों के रहनुमाओ, सैन्य विशेषज्ञों, तमाम खुफिया तंत्र और सूचनातत्रों के अजस्र और अविराम हमलो के बीच अगर वह कहीं छिपा है तो उसके स्नायुतत्र किस स्थिति में होंगे, उसका मन किन वीरगाथाओ और भयों और किस तरह के मिथकीय मरजीवड़ेपन मे रह रहा होगा, इसे कह पाना या इस अनबूझ की कल्पना करना, इस सबको एक बार सिरज पाना किसी भी रचनाकार के लिए इस उत्तर-अमेरिका काल की रचना प्रक्रिया में एक बुनियादी और चुनौती हो सकती है

बिन लादेन अनिश्चित रहते हुए भी एक 'निश्चित शत्रु' बनता है और फिर भी 'अनिश्चित' बना रहता है। उसकी संरचना 'एक अनिश्चय की संरचना' ही बनी हुई है। अनिश्चय और आतंक का चोली-दामन का साथ है। कब कहाँ किस पर कौन-सा बम गिरेगा? कब कौन मानव बम कहाँ फट पड़ेगा? यह एक विराट सार्वभौमिक अनिश्चित और अहेतुक भय है जो नया आतंकवाद बनाता है। बिन लादेन के दिमाग में जाना नए आतंकवाद के दिमाग में जाना है।

नया आतंकवाद अपने इतिहास मे कुछ नवीनताएँ लिये आया है। ये नवीनताएँ उसे और अनिश्चित, छलिया, रहस्यमय और अतिरिक्त दहशतनाक बनाती है। इनमे सबसे बड़ा और नया निर्णायक तत्त्व है - मानव बम का अचूक उपयोग। आतंकवाद का मानव बम के चरण में दाखिल होना ऐसी दुर्भेद्य कठिनाई पैदा करता है कि आप से किसी भी उपलब्ध कानून और नियम से नही समझ पाते और इसीलिए उसे प्रकटत रोक नही पाते। मनुष्य का मानव बम बनकर अपने निशानों पर फट पड़ना एक ऐसी 'उत्तर-राजनीतिक' कार्रवाई है जो अपनी विध्वंसलीला मे एक सांस्कृतिक प्रयत्न बनकर आती है और अपने प्रभाव में दहशत पैदा करके एक नए सांस्कृतिक संचार को सतत रखती है। यह एक अबूझ जगह है जहाँ आपका संज्ञान ठहर जाता है। इस अर्थ में आतंकवाद का नया संस्करण किसी भीषण कविता की तरह आता है जो आपको निस्तब्ध और अवाक् कर सकती है, आप उसके जादू मे होते है और कुछ देर ठहरने के बाद ही आप ताली पीट सकते है या गाली दे सकते है, धिक्कार सकते है। शायद जादू से भी ज्यादा सच और उतने ही शून्य बना सकने वाला। आप अचानक रचना से शून्य की ओर आते है। ऐसी कौन-सी रचना है जो अपने बाद एक शून्य बनाती है? बिन लादेन की कविता ने जिन टॉवरों को तोड़ा है उसने ऐसा ही शून्य बनाया है। यह है हमेशा ही शून्यता से लड़ते-नाचते अमेरिकी सुख के बीच एक बड़ा-सा शून्य। बिन लादेन ने मानो जाने-अनजाने साम्राज्यवाद विरोध की अंतिम भयानक कविता लिख दी है जो एक ही साथ आकर्षक और उतनी ही विकर्षक और घृणास्पद है। एक सांस्कृतिक दुरुपाय से दुनिया इस कदर भी बदली जा सकती है, यह इतिहास ने कभी नहीं बताया था।

'इतिहास का अंत' पुस्तक लिखने वाले फ्रांसिस फुकुयामा इसके बहुत करीब आए है। वे अपनी किताब मे अमेरिकी उत्तर-आधुनिक उपन्यासकार टॉम वुल्फ के उपन्यास 'द बॉनफायर ऑफ वेनिटीज' का हवाला देते हुए कहते हैं कि "जब सट्टा बाजार के 'बुल' अपनी बी.एम.डब्लूज की मुलायम सीटों में धँसे होंगे तो उन्हें अचानक होश आएगा कि सचमुच का बंदूकबाज कहीं न कहीं मौजूद है जो आधुनिक अमेरिका में अमीर और प्रसिद्ध बनने से वाकई घृणा करता है। कुछ लोग तब भी होंगे जो तब तक मनुष्य नहीं होंगे जब तक कि वे अपने मानवीय बनाने वाले तत्त्व को फिर से नहीं जिलाएँगे। वे अपने जीवन को किसी हिंसक युद्ध के जोखिम मे डालना चाहेंगे

ओर अपने समक्ष और दूसरों के लिए इस तरह सिद्ध करेंगे कि वे 'स्वतन्त्र' हैं। वे जानबूझ कर कष्ट और बलिदान चाहेंगे। इस प्रक्रिया में पैदा होने वाला दर्द ही शायद उन्हें बताएगा कि वे अभी अपने बारे में सोच सकते हैं और वे मनुष्य बचे रह गए हैं।''

फुकुयामा का 'अंतिम आदमी' इस बार अमेरिका के कारपोरेट जगत् का ईसाइयत की मारी अपराध-भावना से ग्रस्त सुख-संचयी नहीं है, बल्कि उस सुख-संचय से बाहर रह गए हाशिए के वे लोग हैं जो बंदूक ही नहीं उठाए हुए हैं, बल्कि मानव बम बने हुए हैं। अफगानिस्तान की भीषण जीवन-रेत में बंदूकों और मानव बमों की खेती का और उन दो टॉवरों का जरूर कोई संबंध बनता है जिसे टॉम वुल्फ के जरिए फुकुयामा अमेरिका की झोपड़पट्टियों में देख पाते हैं, लेकिन एशिया में नहीं देख पाते। फिर भी वे इतिहास के अंतिम आदमी के आत्मविस्फोट की बात करके उस आदमी की ओर इशारा करने में कुछ कामयाब हुए हैं जो पूँजी के नए संसार ने यत्र-तत्र पैदा किया है लेकिन पूँजी जिससे प्यार से दो बात नहीं करती। जिस 'सीना-रहित अंतिम आदमी' की बात वे करते हैं, वह आदमी अपने साथ उसे भी लेता आ रहा है जिसके सीने में बम छिपा है और वक्त पर वह खुद को ध्वस्त करता हुआ अपने लक्ष्य को ध्वस्त करता है।

मानव बम इसीलिए एक नया चरण है जिसमें आतंकवाद अपने देखने-देखते पहुँचा है, जिसकी खबर अमेरिकी चिंतकों को ज्यादा नहीं रही है। उनके कल तक के 'थिंक टैंकों' चाहे वे ब्रेजेजेंस्की हों, डेनियल बेल हों या श्लेसिंगर हों, पॉपुलर स्तर पर पढ़े जाने वाले एल्विन टॉफ्लर हों, आतंकवाद को नए पूँजीवाद के फलागमी अन्तर्विरोधों के रूप में नहीं पढ़ते। वे पढ़ते भी हैं तो 'बदमाश राष्ट्रों की सरकारी कार्रवाई' की तरह पढ़ते हैं जिन्हें 'मैनेज' किया जा सकता है। मानव बम के स्तर तक पहुँचा आतंकवाद एक ऐसी पेचीदा प्रक्रिया है जहाँ इतिहास का वाकई अंत हो जाता है, लेकिन उस तरह नहीं जिस तरह फुकुयामा कहते हैं।

मानव बम से पहले तक का आतंकवाद अपने प्रकार से एक जनतांत्रिक जगत् ही बनाया करता था। कल तक अमेरिका के लिए यही सबसे प्रकट तत्त्व था जो उसकी हॉलीवुडीय फिल्मों में बार-बार नजर आता है और इसीलिए उसके नायक ऐसे आतंकवाद को खत्म कर पाने के रास्ते भी सुझाते रहते हैं। ऐसे आतंकवादी किसी को पकड़ कर, घेर कर, बम को विस्फोटित करने की धमकी देकर सौदेबाजी की बात जरूर करते हैं। जब तक वे सौदेबाजी की बात करते हैं तब तक वे जनतंत्र की ही बात करते हैं, क्योंकि वे अपनी शर्तों पर एक प्रकार का संवाद जरूर करते हैं। इस आतंकवाद की दूसरी विशेषता 'एक चीज से दूसरी चीज के विनिमय' में नजर आती है : आपको पकड़कर-डराकर आप पर दबाव बनाया और आपको छोड़कर बदले में अपनी चीज प्राप्त की। यह भी उत्तर-आधुनिक चिंतक बौद्रीआ के 'सिंबलिक

एक्सचेंज एंड डैथ' नामक लंबे निबंध से बेहतर समझा जा सकता है जिसमें वे बताते हैं कि किस तरह यह परिचित आतंकवाद मूलतः 'बदला लेने योग्य सत्ता के साथ' अपना युग्म बनाता है और उसी में समा जाता है . एक बार सौदा कर लेने के बाद अगर आतंकवादी अपने रास्ते गए तो वे तंत्र को फिर जैसा का तैसा छोड़ गए और मजबूत कर गए। यदि वे मारे गए तो भी तंत्र मजबूत ही हुआ। इस तरह पुराना आतंकवाद इस तंत्र का पूरक आतंकवाद हुआ करता था।

नया आतंकवाद यानी मानव-बमी मरजीवड़ापन ऐसा नहीं होने देता। वह सौदेबाजी को सिरे से मना करता है। वह पूरा जीवन देता है और पूरा जीवन ही लेता है। कोई सौदेबाजी नहीं। जनतंत्र के शून्य में वह जनतंत्र को धता बताता है। जीवन के साथ किसी रकम या किसी व्यक्ति की सौदेबाजी नहीं करता। वह उत्तर-बुर्जुआ है। जान देता है, जान लेता है। अपने शत्रु से ऐसे आत्मीय घृणा और ऐसा जिदभरा अपनापा एक प्रकार का सांस्कृतिक उद्यम ही है जो भाव को भाव से तौलता है और उनमें कोई भी सौदा नहीं होने देना चाहता। सौदेबाजी का निषेध करते हुए वह बुर्जुआ जनतंत्र का भी निषेध कर देता है। इस तरह वह प्रतीकात्मक विनिमय से भी बाहर चला जाता है। यह रास्ता उसे सार्वत्रिक मृत्यु का वरण करके ही मिलता है। बहुत दूर तक बौद्रीआ का यह निबंध हमें आतंक के विनिमय की लीला को समझने में मदद करता है और कैसा आश्चर्य है कि इस निबंध में एक जगह वे मैनहटन के इन्हीं ट्रेड टॉवरों के जुड़वाँ (ट्विन) होने पर अचरज-सा करते हैं। और यह सन् चौरासी से पहले का लेख है (सलेक्टेड राइटिंग्स/ज्यां बौद्रीआ/संपादक मार्क पोस्टर/पेज 142)। कहने की जरूरत नहीं कि मानव बम के बाद नया आतंकवाद अमरिका बरक्स इस्लाम के युग्म की विलोमता में ही ठौर प्राप्त कर सका।

एक संकल्प, एक भाव और एक अधापन जिस अटूट संकल्पात्मक जुनून को पैदा करते हैं, वह तकनीक-सवलित और सुख-संचयवादी समाज में अपनी कुर्बानी के तत्त्व के कारण एक प्रभामंडल का निर्माण करता ही है, यह प्रभामंडल उसे एक ही साथ पॉपूलर और अभेद्य बनाता है। मरने की कीमत जो देने को तैयार है आप उसका क्या बिगाड़ लेंगे? कौन कानून है जो उसे मौत से बड़ी सजा देगा और वह मौत उसने स्वयं ही चुन ली है यह सजा से भी परे जाना है। इसे हम अब लिट्टे के मानव बमों में समझ सकते हैं। यह दुखद ही है कि राजीव गाँधी की मानव बम से हत्या के बाद चिंतक उसके राजनीतिक फलितार्थों तक ही महदूद रह गए और कश्मीरी आतंकवाद के इतने बरस बाद भी आतंक के नए रूपों के बारे में अपने यहाँ ज्यादा विचार नहीं किया जाता।

नया आतंकवाद एकदम नया विमर्श माँगता है जिसे समझने के लिए नव पूँजीवाद की सिर्फ उत्तर-आधुनिक सैद्धांतिकियों में ही कुछ संकेत मिलते हैं। दिलचस्पी रखने वालों के लिए फुकुयामा, बौद्रीआ और हेबरमास इन दिनों अचानक एक सार्थक पाठ

बन सकते हैं। आतंकवाद का नया रूप मानव बम दरअसल एक ऐसा सकल्पात्मक निर्माण है जो एक बार फिर तकनीक की तटस्थता, सत्ता और तंत्र की निर्ममता के मुकाबले मानवीय सकल्पशक्ति के सर्वोपरि होने की बात करता है जिस आर उत्तर-आधुनिक चितकों ने बराबर जोर दिया है और आश्चर्य नहीं कि मानवेच्छा की दृढता के बारे में उसके इतिहास बदल सकने के बारे मे स्वय मार्क्स ने काफी जार दिया था जिसे कभी पढा नहीं गया।

अमेरिका ने इस शताब्दी को अमेरिकी शताब्दी कहा था। एक घटना ने उसकी शताब्दी उससे छीन ली और वह थोडी-थोडी सबकी हो गई है। हाशिए के लोग, स्थानीयतावाद, पहचान के सघर्ष, सस्कृति के दारुण सघर्ष और उससे लगी सभ्यताओं के सघर्ष, साथ ही नई पूँजी और उसके बाजारों के सघर्ष ऐसा जटिल रसायन बनाते है जिसे कुछ पहले की किसी एकमात्र अवधारणा के बल पर नही पढा जा सकता। बिन लादेन के एक पत्र की लिखावट का और उसके हस्ताक्षरों की बनावट का अध्ययन करने वाले विशेषज्ञो ने कहा है कि उसका हस्तलेख बताता है कि वह बहुत ही अहंकारी, मूलत- असुरक्षित, हमेशा ही नाखुश रहने वाला और सरक्षण चाहने वाला है। स्वभाव से वह विद्रोही है। उसमें सुखसचयवादी वृत्ति है। सजा का डर उसे नहीं व्यापता। उसका अहकार भयानक है। लगता है, उसे बचपन मे बहुत अपमान झेलना पडा है। जाहिर है कि इनमें से अनेक बातें आधुनिक मनुष्य की ही व्याधियाँ हैं। यह गहन की बात है कि विशेषज्ञ उसे मध्यकालीन दिमाग नहीं मानते। वह है भी नहीं, ऐसे आदमी के दिमाग मे कौन कवि है जो प्रवेश करने की हिम्मत रखता है? यह एक डरावना प्रस्ताव ही है। कवि के मन मे दूसरा कवि कैसे प्रवेश करे? पाठ की अनतता उसे सदा बद करती आई है। तो भी कवियों ने ही कवियों को हमदर्दी से पढा है।

विचित्र है कि लिट्टे के मरजीवडे भी तमिल कविता की उस प्राचीन परपरा से प्रेरणा लेते रहे हैं जो कुर्बानी और जान की बाजी लगाने की वीरता को महान् उपलब्धि बताती आई है। इस्लाम मे भी कुर्बानी की महानता गाई गई है। आप इस कुर्बानी के सामने हैं। यह किसी हद तक गाँधी मे भी पढ़ी जा सकती है। उनका अनशन एक प्रकार की 'जान की बाजी' लगाना ही था, लेकिन वह दूसरे की जान न लेकर अपनी जान देकर दूसरे को बदलने के रास्ते की बात करता था।

गाँधी के इस उपक्रम को नए आतकवाद के लिए एक चुनौती की तरह भी पढा जा सकता है।

● **जनसत्ता, 4 अक्टूबर, 2001**

रैंबो रैंबो

सुपरहिट हॉलीवुडी फिल्म 'रैबो : फर्स्ट ब्लड' (तीसरा भाग) का जब अत होता हे तो पर्दे पर एक इबारत लिखी आती है जिसका हिंदी रूपातर इस प्रकार है : यह फिल्म अफगानिस्तान के उन जॉबाज देशभक्तो को समर्पित है जिन्होने अपनी मातृभूमि की हिफाजत के लिए अपने प्राणों की आहुति दी। ऐसी इबारते आम तौर पर हॉलीवुडी फिल्मो में नहीं आया करती, लेकिन यहॉ देर तक टॅगी रहती है। जाहिर है कि रैबो एक फिल्म से ज्यादा उस वक्त के सोवियत सघ की नीति के विरुद्ध एक सचेत सास्कृतिक सरचना की तरह वनाई गई और उसमें एक सुस्पष्ट सदेश भी है जो अमेरिका की भू-राजनीति को बनाता है।

इस इबारत से ऐन पहले का एक छोटा-सा सीन इस प्रकार वनता है : अपने अफसर को सोवियत कैद से छुडाकर भागता हुआ रैवो एक पहाडी मैदान मे फिर घर लिया जाता है। इस बार सोवियत सेना ने उनके भागने के सारे रास्ते बद कर दिए है। बख्तरबद गाडियॉ, टैक, मशीनगनो से लैस सैनिक और हेलीकॉप्टर, गनशिप आदि उनके चारो ओर हैं। उनका कमाडर रैबो से कहता हैं कि अब वह समपण कर दे। रैंबो को भी लगता है कि बचने के कोई आसार नही है कि तभी अफगान मुजाहिदीन की एक हमलावर टुकड़ी दूर के पहाडी इलाके से अचानक उभरती नजर आती हैं। वे घोड़ो पर सवार है और उनके हाथों मे क्लाश्निकोव और रॉकेट लाचर वेसे ही चमक रहे है जैसे कि आजकल तालिबान के हाथो मे चमकते हैं। उनके हल्ले से घबराकर सोवियत सेना अपना ध्यान उधर केंद्रित करती है। इतने मे रैबो को एक्शन का मौका मिल जाता है। वह मुजाहिदीन से मिलकर सोवियत सेना को बडी क्षति पहुँचाता है। वह सोवियत गनशिप को खत्म करने के लिए एक टैक मे घुस जाता है। आगवबूला हुआ सोवियत कमांडर अपने उन्माद में हेलीकॉप्टर को टैक से भिड़ा देता है ताकि रैंबो मर जाए लेकिन रैंबो तो रैंवो है, वह किंचित घायल अवस्था मे टैक से बाहर निकल आता है। उसे घेर कर मुजाहिदीन खड़े हो जाते हे कि एक जीप लाई जाती है जिसमें बैठकर रैंबो और उसके अफसर को वापस जाना है।

अचानक एक मुजाहिदीन बच्चा जिसकी उम्र मुश्किल से बारह-तेरह साल है, उसके पास आता है। वह रैंबो को वापस जाते नही देख सकता। रैबो ने उसे बचाया है। जब रैबो अफसर को छुडाने के लिए जाता है तो अपने साथ सिर्फ एक युवा मुजाहिदीन को ले जाना चाहता है। बच्चा जिद ठानता है कि वह भी सोवियतो से लडने चलेगा। मुजाहिदीन का नेता उस बच्चे को जाने की आज्ञा दे देता है क्योकि बच्चा वाकई जाबाज है। जब यह बच्चा अफसर को छुडाने के ऐक्शन मे घायल हो जाता है तो रैबो उसे बचाकर सुरक्षित जगह पर लाता है। इस तरह बच्चे के साथ रैबो का एक स्नेह-सबंध-सा बन चला है। यही बच्चा जब सामने आता है तो कहता है कि रैंबो उसे छोडकर न जाए। रैबो कहता है कि उसे जाना है क्योकि वह एक 'स्पेशल मिशन' के लिए ही आया था। उस बियाबान मे जहाँ कुछ देर पहले गोलियॉ चल रही थी, लोग मर रहे थे, अचानक एक भावुकता से भरा क्षण बनता है। रैबो उस बच्चे को वही ताबीज अपने स्मृति चिह्न के रूप मे देता है जो उसे कबीले ने दिया था। यह ताबीज उसकी सफलता की कामना के लिए कबीले ने दिया था। बच्चा उदास होता है। रैबो गाड़ी चलाकर धूल उडाता जाता ओझल-सा होता है कि उक्त इबारत आती है और देर तक आपका ध्यान खीचती है।

ऐन इन दिनो जब अफगानिस्तान दुनिया की खबरो में छाया हुआ है और अनत पत्रकार अनंत कैमरों और कलमों से तालिबान, उत्तरी गठबधन और वहॉ हो रहे युद्ध के रिपोर्ताज दे रहे हैं, तब यह फिल्म अचानक एक भीषण अन्योक्ति बन उठती है। हमे लगता है कि दस-पंद्रह साल पहले का वह बच्चा अब बिन लादेन बन गया है और रैबो बूढा और लाचार हो गया है। उसने उसके टॉवर गिरा दिए है और उसी गुफा में छिपा बैठा कह रहा है कि यह सचमुच का सीन है, हॉलीवुडी सीन नही। रैंबो अचानक कल के मुजाहिदीन और आज के तालिबानी यथार्थ-सिद्धात के आगे हतप्रभ है और डरा हुआ है।

जरा एंथ्रेक्स का हौवा देखे, मीडिया का ग्लोबल एंथ्रेक्सीकरण देखे और उसके आलोक में आम अमेरिकी आदमी के डर की तस्वीरें देखें या रिपोर्टे पढ़े तो लगेगा कि अमेरिकी साम्राज्यवाद की कुल बहादुरी और सुपर ऐक्शन के दुर्दमनीय बनाए गए प्रतीक रैबो के सहारे और उसके घर के पिछवाडे रहने वाला आम अमेरिकी आदमी इस कदर डरपोक है कि एंथ्रेक्स की कुछ घटनाओ और उससे हजार गुना ज्यादा अफवाहों ने उसकी नीद हराम कर दी है। जरा-सा पाउडर सचमुच का डर बन उठा है। टेल्कम पाउडर उनके विमानों को धरा पर लाने के लिए काफी रहा। लिफाफे आतंक का प्रतीक बन उठे है। डाकघर के कर्मचारी डर गए, अस्पताल के डॉक्टर भी डर गए और कई दिनो तक सचमुच लगा कि आतकवादी लोगो ने जरूर जैविक युद्ध शुरू कर दिया हैं। यह बात दुनिया भर मे फैली और देखादेखी दुनिया के हर नगर से ऐसी खबरें आने लगीं कि एंथ्रेक्स का लिफाफा वहाँ भी आया है

जहाँ लोग यो ही नकली शराब या हैजे या भुखमरी से हजारो की सख्या मे दैनिक मरते रहते है। अमेरिका का एंथ्रेक्सीकरण डर भी हमे 'शोले' के उस कॉमिक दृश्य की याद दिलाता है जिसमें अंग्रेजो के जमाने का जेलर जब परेड करता हुआ आता हे और कहता है कि जेल तोडने की साजिश का उसे पता है और उसका मुँहलगा नाई उसे इशारा करता है कि जेल तोडने के औजार वहाँ टोकरी के नीचे हैं ओर जब वह हाथ लगाता है तो उसका हाथ जल जाता है क्योकि जय-वीरू ने जानबूझ कर एक जलती हुई गर्म सलाख उसके नीचे रख छोड़ी थी। इस सीन को देखकर दर्शक मजे से हँसते है। ऐसी जगहँसाई एंथ्रेक्सीकरण ने कर दी है।

इस हास्यास्पद डर मे अमेरिकी समाज की संस्कृति के वे चिह्न सक्रिय है जो इन दिनो पहली वार एक दूसरी सस्कृति के ठीक सामने और विरोधाभास मे आए है। ग्यारह सितबर के दर्दनाक ध्वस के बाद और इन दिनो उपहासप्रद एंथ्रेक्सीकरण के बाद पहली वार अमेरिकी लोगो को लगा है कि हमारे सुखी समाज से बाहर भी कोई दुनिया है जिसके बारे मे हमे जानकारी नही है, और जानकारी चाहिए। पहली बार अमेरिकी समाज उन किताबो और सूचनाओं को खोजने मे जुटा, जिनसे वह इस्लाम या कुरान आदि को जान सके। सूचना तकनीक के अति विकसित क्षेत्र मे अपने से बाहर के जगत् के बारे मे इस कदर कम जानकारी है कि इसे देख दया आती है और क्षोभ भी होता है। वहाँ का शासक वर्ग वहाँ की जनता को किस तरह से अनाड़ी बनाए रखता है, यह उसका एक उदाहरण है। यह शायद सबसे कमजोर जगह है जहाँ अमेरिकी समाज अचानक पकड लिया गया है। उसके डर से सहानुभूति होने की जगह हँसी आती है कि चलो अंग्रेजो के जमाने के जेलर को कोई तो तंग करने वाला मिला। इससे यह भी जाहिर होता है कि अति सुख ओर सुरक्षा के बुल्ले में अमेरिकी समाज ने अपने को महफूज कर रखा था, वह इस कदर वेध्य है कि तीसरी दुनिया के आगे असहाय-सा लगता है। तीसरी दुनिया की गदगी और चलती-फिरती बीमारियाँ, जिनमे तीसरी दुनिया का आदमी रहने का आदी हो चला है, अमेरिकी मनुष्य को दुःस्वरूप दिखाने के लिए काफी है जबकि इस दुनिया को गदा और बीमार बनाने में उसके उपनिवेशवाद का पूरा हाथ रहा है। दुनिया का कोतवाल रैबो इस जैविक वातावरण के सामने इतना दयनीय है कि उसे किसी बम से ठिकाने लगाने की जरूरत नहीं, सिर्फ अपने मेहतनकश हाथ मिलाने की जरूरत है। वह छूत से यो ही बर्बाद हो जाएगा।

ग्यारह सितबर के बाद अमेरिकी साम्राज्यवाद अपनी समस्त बर्बरता के बावजूद एक कमजोर और हास्यास्पद संरचना है। अफगानिस्तान में हजारो पाउड वजन के असख्य बम गिराता हुआ अपने बेडों से सुरक्षित आता-जाता हुआ वह अति बलवान और दुर्जेय दिखता है और उधर घर में उसके बाशिंदो को जरा से पाउडर ने, बल्कि उसकी अफवाह ने हिला कर रख दिया है। ऐसा समाज अब दुनिया का दारोगा नहीं

हो सकता, न नायक हो सकता है न एकल ध्रुव हो सकता है। सारी धरती के सचों को सँभालने की उसमे न तो पहले ताकत थी न अब है। पहले वह भ्रम देता था कि शायद है। अब दिखता है कि वह अपना सुथन्ना तक नही सँभाल सकता। जब दुनिया इक्कीसवी सदी मे जा रही थी तो क्लिटन महोदय ने कहा कि इक्कीसवी सदी अमेरिका की सदी है। ग्यारह सितबर के बाद एकछत्र सत्ता केंद्र के रूप मे अमेरिका सदा के लिए विदा ले चुका है। जिस समाज को एंथ्रेक्स जैसा पाउडर रुला दे वह दुनिया का दादा तो नही हो सकता।

इसके मुकाबले वह दुनिया है जो गदी है, गरीब है और अनत किस्म के एंथ्रेक्सो से भरी है। अमेरिका इससे बच नहीं सकता। लेकिन वह भरम में रहता है कि बच सकता है। इस राजनीतिक-सास्कृतिक युद्ध मे हम इस दृश्य को याद कर सकते है कि इधर अमेरिकी बमवर्षक आ रहे हैं उधर विदेशी पत्रकारो को नागरिक बस्तियो पर बम गिराने को दिखाने लाए कैमरो के आगे तालिबान नाच रहे है। अल कायदा के प्रवक्ता ने जब अल जजीरा पर यही कहा कि जिस तरह अमेरिकी आदमी जिदगी जीना पसद करता है हम मरना पसंद करते है। यह अस्तित्व का एक निर्णायक-वैचारिक सास्कृतिक विमर्श था जो तालिबान ने अपनी कदराओ से अमेरिका और दुनिया से किया और आज भी कर रहे है और अमेरिकी समाज अपने सुरक्षित बुल्ले मे महफूज होना चाहता है और जरा-सी बात से डरता है।

अमेरिका समाज की असुरक्षा-ग्रथि वह कमजोरी है जिसे उसका दुश्मन जानता है जबकि अमेरिका अपने दुश्मन के मरजीवडेपन में निहित विमर्श को पूरी तरह नहीं जानता। वह नहीं जानता कि उत्तर-औपनिवेशिक समाजो में ऐसे कोने और हाशिए और ऐसे पूर्व-आधुनिक विचार बचे है जो इस दुनिया की लडाई लडने के लिए किसी दूसरी दुनिया के सपने मे सचमुच यकीन करे। अमेरिकी आदमी हैबर्गर और लास वेगास के किसी पोर्न-शो मे जीती-जागती हूरो के लिए जीवित रहना चाहता है तो दूसरा आदमी अपनी किताब मे बताई जन्नत और शहादत के बाद मिलने वाली स्वर्ग की हूरो के सपने मे रह सकता है और उसके लिए इस जीवन को त्यागने का निर्णय ले सकता है। यहाँ दो सस्कृतियो और उनके विमर्श ऐन भिड़े हुए नजर आते है। एक ओर 'डरपोक बहादुर' है दूसरी ओर मरजीवडे और उन्मादी है। एक हैबर्गर का उपभोक्ता है दूसरा किसी जन्नत का, जो किसी ने न देखी है न जानी है। एक भौतिक जीवन में रहता है, दूसरा भौतिक में रहते हुए भी लोगो से कहता है कि खुदा की राह में जान देना सबसे बड़ी शहादत है, तुम्हें अल्लाह की निकटता मिलेगी। एक-दो डॉलर का मिथ है दूसरा 'अनमोल' मिथ। एक नरक के लिए लड रहा है, दूसरा स्वर्ग के नरक के लिए। एक ओर पूँजी का जनतंत्र है दूसरी ओर धार्मिक फासिज्म है। कहने की जरूरत नही कि अपने समाज में भी ऐसे तालिबान है जो सचमुच किसी स्वर्ग मे जाने के सपने देखा करते है। अमेरिका के सपने से यह सपना

टकरा गया है।

फिरंगी आधुनिकता ने इन सपनो का प्रायः मजाक ही उड़ाया है। वह नही जान पाई कि एक सांस्कृतिक सपना और तिस पर भी एक कौम का सपना उसकी जहालत और गरीबी मे ही सबसे आकर्षक और लुभावना होता है। उस सपने मे लोग जा सकते है और इसीलिए सपने मे निकालने के रास्ते भी होने चाहिए। यह काम उनका ही है जो इस सपने को अपने से बाहर नितान्त अलग मानते हैं और सोचते है कि सपने कभी विचार नहीं बन सकते और उन्हे कभी परेशान नही कर सकते। दूसरो के सपने उनके घर नहीं आ सकते। अमेरिका एक ऐसा समाज बना दिया गया है जो अपने सपने के अलावा किसी भी दूसरे सपने को सभव नहीं रहने देना चाहता। जनतत्र की बात करते हुए भी उसके सपने में दूसरे के सपने शामिल नही होते। रैबो के सपने मे उस बच्चे के सपने नहीं रहे। वह जब बिन लादेन बन गया तो उसने अपने सपने से रैबो का सपना ध्वस्त कर दिया। उसे भी क्या मालूम था कि सुपर एक्शन हीरो रैबो मामूली पाउडर देखकर मर जाता है।

क्यूबा के मिसाइली तनाव के वक्त खुश्चेव ने अमेरिका को कागजी शेर कहा था। ग्यारह सितंबर के बाद हर दिन सिद्ध हो रहा है कि वह सचमुच कागजी है।

• जनसत्ता, 27 अक्टूबर, 2001

लोकल दीवाली ग्लोबल दीवाली

सर जी!

इस बार की दीवाली ग्लोबल हो रही है। दियो में पता नही किस पश्चिमी मुल्क का घृत है और बाती में संदिग्ध बीटी कॉटन है। पूजा के लिए रोली भी इम्पोर्टेड है और अक्षत के लिए पेटेंट का झगडा पडा है। गणेश-लक्ष्मी की मूर्तियाँ भी मुई प्लास्टिक की है। बच्चों के पटाखे जो शिवकाशी में बना करते थे, इन दिनो पेंटागन और अफगानिस्तान की कंदराओं में बनते है। इस बार तो उन ग्लोबल बालकों ने उन्हे दीवाली से बहुत एडवास में ही छोड दिया है और छोडे जा रहे है।

आप जी की माया आप ही जानो जी! आपका यह कलजुगी भगत तो इस दीवाली पर आपको पाती लिख कर मन की भडास निकाल रहा है। आपने बहुत से खलों को माफी दी है। मेरे जैसे को तो आपको देनी ही पडेगी। नहीं टंगे तो लादेन या बुश में से किसी को कह दूँगा तो आप क्षीरसागर से भी भगते फिरोगे। सो हेकडी में मत रहना जी! आप सबसे बडे है जी, सो आपको रपट कर रहे है जी! भूल-चूक माफ जी!

तो देखते-देखते आपकी लोकल दीवाली जी ग्लोबल हो गई है जी। उस नादान लादेन ने अमेरिका मे जाकर न्यूयार्क के ट्रेड टॉवरों पर मानवजहाजी फोडकर दीवाली मनाई है तो जवाब में अमेरिका कहीं क्रूज मिसाइल तो कही क्लस्टर बम फोडकर हर रोज दो हजार करोड रुपये के पटाखे फूँक रहा है। हर रोज शाम होते ही सचमुच के बडे पटाखे चलते है। रात भर चलते है। आपने पटाखा कला ज्यादा ही विकसित कर दी है कि अब 'न्यूक पटाखो' की चर्चा आपके भक्त करने लगे हैं। काबुल-कधार मे पटाखों से लोग घायल होते हैं और बिना इलाज मरते हैं। मकान ढहते हैं, गर्द-धूल उडती है और यहाँ दिल्ली तक आकर खॉसी-खुर्रा करती है। जगत् नेता, जगत् सेठ-साहूकार, जगत् पत्रकार लोग हर रोज टीवी पर ऐसी जीवित ग्लोबल दीवाली देखते-दिखाते है, लेकिन किसी को मजा नहीं आ रहा। वे भी एक दूसरे से पूछते है—यार कब तक, आखिर कब तक यह ग्लोबल दीवाली चलेगी? कहीं कोई न्यूक दीवाली मनाने के फेर में तो नही है?

सर जी! आपकी शिवकाशी के पटाखे सचमुच बच्चों के पटाखे साबित हो रहे हैं। दिल्ली सरकार खामखाँ उनके पीछे पड़ रही है। उसके पीछे प्रदूषण पडा है। उसके पीछे न्यायालय पडा है। सरकार कहती है कि बच्चो! दीवाली पर पटाखे न छुडाना, इससे प्रदूषण होता है, धुआँ फैलता है, शोर होता है। टोपाज बम, हाइड्रोजन बम बुलेट बम, मोटा बम, पेरेट बम, हॉर्स जॉइंट क्रेकर, केक बम, इलेक्ट्रिक क्रेकर, क्लासिक किंग साइज बम, सब पर बैन लगा है। इसीलिए बच्चे रोज टीवी पर अमेरिकी दीवाली देखते हैं और दीवाली के पटाखों का आनंद लेते है। वे सोचते है कि असल बम तो अमेरिका के पास है। जब फोडता है तो धुएँ का यह बडा बादल उठता है। काश, हमारे पास भी होता ऐसा बम! बच्चे सोचते है शिवकाशी मे अब बम नहीं बनते, उन्हे अब सरकारें बनानी है। अमेरिका डरता है कि अगर यह सरकार गिर गई तो बम कही मुल्ला लोगों के हाथों में न पड जाए। कहीं कोई उसकी 'न्यूक दीवाली' न मना दे। बुश से कोई नही कहता कि मत फोड बम! उन्हें रोटी दे! लादेन से कोई नही कहता कि तू व्यतीत 'इस्लामी तलवार' को मत भाँज! जो थोडे लोग कहते है तो ये पागल लोग उनकी सुनते नही, उल्टे उन्हे डराते है। कोई क्रुसेड करता है। कोई जेहाद करता है। कोई पोटो लगाता है तो कोई गोली मारता है। हे प्रभोजी! हे लक्ष्मी जी! आप ही इनकी मति फेर दो! सवा रुपये का परसाद चढाऊँगा! सच्ची!

लादेन और अमेरिका की दीवाली के चक्कर में विश्वबाजार और अपना गरीबबाजार बेठ गया हैगा जी! सबके वहीखाने बद हैगेजी! दुकानों पर ताले लगे हेजी। मजदूर सड़कों पर आवारागर्दी करते है। जी। बेरोजगारी भयानक हेंगे जी। सब पैसा दॉत से पकड रहे है। जी। जब दीवाली कहानी से निकल कर सचमुच के जीवन मे आ जाती है और बडी बन जाती है तो जेब सिकुडती ही है। कधो पर बदूक हों तो जेबों में कारतूस ही हो सकते है। कैश नहीं। लक्ष्मी नहीं।

अमेरिका ने अपने पेट की पट्टी कस ली है। उसका क्या है, एक बर्गर कम बेच लेगा। उसे देख सबकी पट्टी कस गई है। विश्व बैंक, विश्व व्यापार सगठन कह रहे हैं कि यह विश्वव्यापी मदी का वक्त है और कई साल चलना है। अपना बाजार तो पहले ही बैठा हुआ था जी। अब तो पेंदी से लग जाएगा। उससे तो लक्ष्मी जी पहले से रूठी थी। सट्टा बाजार में होशियार लोग उनको अपने घर किडनैप करके ले गए थे। सरकार अब तक नही छुडा सकी है जी!

बुरा न मानना जी! लक्ष्मी जी भी राजनीति करती रही हैं जी! वे उन्ही पर कृपालु हुई, जो लक्ष्मी से लक्ष्मी बना सकते थे। वे सब स्विस बैंकों में उन्हे लॉकर्स मे रखते हे। यहाँ हर ओर मदी है। ब्याज कम है। बाजार मे पैसा फिर भी कम है। बाजार ठडा तो दीवाली ठडी। बाजार गरम तो दीवाली गरम। बाजार नरम क्योंकि युद्ध गरम। युद्ध गरम तो खरच नरम! और आपका भोग मिठाई आदि भी चढ गई है जी!

कभी भगवान् रामचद्र जी रावण पर विजय प्राप्त करके अयोध्या आए होंगे

तो वहाँ के बाजार मे 'बूम' आया होगा। सेठों के पास लक्ष्मी आइ होगी, तभी उन्होंने घी क दिए जलाए होगे। उनके बच्चों ने पटाखे चलाए होगे। वे पटाखे शिवकाशी मे बनाए गए होगे। शिवकाशी शिवजी का ब्राड रहा होगा। जो अब तक चला आ रहा हे। भगवान् की विजय का सेलिब्रेशन इसी तरह दीवाली बना होगा। इस बार दीवाली जरा एडवांस हो गई है। लादेन और अमेरिका ने हाइजैक कर डाली है। इनमे से कोई राम नहीं है, दोनो रावण ही नजर आते है। अपनी दीवाली बँट गई है। आप सोचिए अगर दो-दो रावण दीवाली-दीवाली खेलेंगे तो नतीजा क्या होगा। दीवाली भारत का अनपेटेंट ब्राड था। उसे लादेन और अमेरिका ले उड़े हैं। आपके कई भक्तजन सोचते है कि चलो अमेरिका मना रहा है, मनाने दो। अपनी सस्कृति फैल रही है। फैलने दो। इधर बाजार बैठ रहा है, उधर वे खुश है कि अमेरिका इस्लाम से दीवाली खेल रहा हे। कल को जब वह कश्मीर मे पटाखे चलाएगा तो भक्तजन क्या करेगे?

मोहल्ले का बढई बदरुद्दीन कहता है कि जी! धंधा ठडा है। पिछली दीवाली तक इतना काम होता था कि मरने की फुर्सत नही मिलती थी। इस बार हफ्ते भर से बेकार हैं लडाई कब बद होगी जी।

मोहल्ले का सलाउद्दीन पूछता है कि जी! इस बार धधा बिल्कुल नही है। लोग कबाड-रद्दी तक नही बेच रहे। कब तक चलेगी लडाई?

दुकानदार रामप्रकाश पूछता है कि दुकानदारी ठप पडी है। बाजार मे ग्राहक नही है। कब तक चलेगी लडाई?

सफेदी करने वाला गोपाल कहता है जी कि बरबाद हो गए। पहले महीनो एडवांस मे काम मिलता था। शौक से रंग-रोगन करवाते थे लोग। दस-दस आदमी काम करते थे मेरे। अब मुझे ही काम नही है, क्यों बाबू जी! लडाई कब तक चलेगी?

मै कहता हूँ कि दोस्त यह लडाई नही है। ग्लोबल दीवाली है जिसे दुनिया के कुछ बडे सेठ और देश मना रहे हैं। अफगानिस्तान मे रोज दो हजार करोड रुपए के पटाखे बरसते है। तू कहाँ हे? बड़े लोगो की दीवाली ऐसी ही होती है। जरा देख कि तालिबानी बाशिंदो के कधो पर हर वक्त क्लाशनिकोव रहती है और उधर एंटरप्राइज से रोज बाबर उडते है। उनके गोले ऐसे निकलते हैं जैसे कि शिवकाशी की सुर्री निकला करती है। अब दीवाली बच्चों का खेल नही है रे! बड़ों का ग्लोबल खेल है। दिल्ली सरकार दिल्ली के वाल बमों पर रोक लगा सकती है लेकिन कश्मीरी आतकवादी बमो पर कौन रोक लगाए? अमेरिका पर कौन रोक लगाए? और जब वे छूटते हैं तो आधा किलोमीटर का गड्ढा हो जाता है जी। आप अपनी सेटेलाइट से देख सकते हैं। कुछ नही बचता। सचमुच का आदमी जलती हुई लाश बन जाता है। उधर छह हजार को लादेन ने जला दिया। इधर हजारों का पता नहीं चलना

अब हर जगह लंका ही लका है जी। आपकी अयोध्या को भी लका बनाय

जा चुका है। आपके पति के नाम पर आज के रामजी जब रामलीला में काम करके लौटते हैं तो अपने पच्चीस गज के मकान में लौटते हैं जहाँ बत्ती नहीं आती। वहाँ पूरे साल अमावस रहती है जी। हे लक्ष्मीजी! आप ने हमेशा पक्षपात किया है। जहाँ-जहाँ आपकी अति कृपा है वहाँ-वहाँ ज्यादा रोशनी रहती है। देखिए अमेरिका पर आपकी कृपा कुछ ज्यादा ही रही है। वहाँ कभी अमावस नहीं होती। ज्यादा बड़े लड्डू और महँगे बम-पटाखे रहते हैं। वंचित लोगों ने आपकी इस पक्षधरता से परेशान होकर मानव बम बनाना शुरू कर दिया है और वे अपने जीवन दान से ही दीवाली मनाने लगे हैं। लेकिन तब आपकी पूजा कितने लोग करेंगे जी!

अभी-अभी सी.एन.एन., बी.बी.सी. और फाक्स न्यूज ने खबर दी है। हे लक्ष्मी जी। आप आज उदास हैं। आपकी चाल मंद है। आपके पतिदेव आपका उदास चेहरा देख चिंतित हैं।

क्षीरसागर में शेष शैया पर अधलेटे हे भगवान् विष्णु! आपके पास विश्वबैंक का नोट पहुँचा है कि मय ब्याज इतना पेमेंट करो। इतने दिन का किराया नहीं दिया है। इतना युद्ध-टैक्स दो। तब रहना। वरना क्षीरसागर खाली करो। उसे मनहटन की जैसी नई टॉवरों के लिए नई सुरक्षित जगह चाहिए। उधर कंदराओं में बैठे लादेन ताव फरमा रहे हैं कि उधर बनाया तो तुम्हारी पनडुब्बी से तुम्हें मारूँगा। मैं तो आदमी को ही पटाखा बना कर चला देता हूँ।

ग्लोबल दीवाली ऐसी ही है। भगवन्! आज आप सचमुच परेशान होंगे। अब लोग अपनी तिजोरियों पर 'श्री लक्ष्मी नमो नमः' की जगह 'ॐ लक्ष्मी बनो बम' लिखते हैं। कोई दिए नहीं जलाता। सब मोमबत्ती या लट्टू जलाते हैं। और जो ये नहीं करते वे एक-दूसरे को जलाकर रोशनी करते हैं। वे स्वयं को बम बना डालते हैं और दूसरे को अपने साथ उड़ा डालते हैं। अगर यही चीज फैशन बन गई तो आगे हरेक के पेट पर बम बँधा होगा। बात-बात पर आदमी खुद को और सामने वाले को उड़ा देगा। आपके भक्त आपके पास आएँगे और लादेन की आवाज में कहेंगे—यह लक्ष्मी मुझे दे दे। और जब आप नहीं देंगे तो मानव बम बन जाएँगे और आपको ही उड़ा देंगे।

टीवी-अखबार देख रहा हूँ। विज्ञापन प्रसारित हैं। छपे हैं। हर जगह दीवाली सेल की बात है। लेकिन पिछले जैसा जोर-शोर नहीं है। यूँ आप संतोष कर सकते हैं कि इस बार भी अमीर भक्तों के लिए डायमंड के गणेश-लक्ष्मीजी हैं। सोने और डायमंड की घड़ियाँ हैं। सोने-चाँदी के बर्तन हैं। सिक्के हैं। कपड़े हैं। क्या नहीं है जिन पर आप जगत्धात्री प्रसन्न होंगी। ये तमाम उनके घरों की शोभा बनेंगे ही। लेकिन इन दिनों दीवाली-गिफ्ट में बम है कि एंथ्रेक्स है, कुछ पता नहीं चलता। आतंक इस दीवाली का दूसरा नाम है। मंदी उसका पहला नाम है। आतंक के साए में दीवाली नहीं मना करती जी! ये बम आपकी दीवाली पर गिरे हैं, सर जी!

आप यकीन करें. टीवी वाले इसे जरूर मनाएँगे। क्योंकि जब तक टीवी है तब तक 'लाइव' रामलीला-करवा चौथ है। तो दीवाली लाइव क्यों नहीं हो सकती? हम उनकी लाइव दीवाली से अपनी लाइफ बना लेंगे जी। वे कहेंगे कि इधर बम गिरे हैं और इतने मरे हैं, फिर कहेंगे अब दीवाली-पूजन शुरू हो रहा है, करो पूजन तो कर लेंगे जी। एकता कपूर अपने ढेर सारे सीरियलों की सासों और बहुओं को एक जैसे कपड़े पहनाकर कई रोज तक दीवाली कराएँगी, लक्ष्मी पूजन कराएँगी, और सास बहू को जुआ भी खिला देंगी।

लेकिन हमारा बदरुद्दीन, हमारा रामप्रकाश पूछ रहा है कि लादेनी और अमेरिकी दीवाली कब बंद होगी? कब उनको काम मिलेगा? कब उनके घर खील-बताशे आएँगे? कब वे अगले साल की चिंता से निश्चिंत होकर आपकी पूजा कर सकेंगे?

● जनसत्ता, 11 नवंबर, 2001

पोटो और आतंकवाद

'पोटो' कानून 'पोटा' बन गया तो कुछ बरस बाद का सीन इस प्रकार भी हो सकना है अगले चुनाव मे भाजपा और उसका गठबंधन हार गया है। सत्ता दूसरे मोर्चे, तीसरे मोर्चे के पास पहुँच गई है। पोटो का नाम लेकर देश की सुरक्षा के नाम पर नई सत्ता वाले सघ और उसके अनुषंगों के नेताओ को अंदर किए दे रहे हैं क्योकि उनकी नजर में पोटो के संदर्भ देश की एकता-अखंडता को उनसे खतरा है। पोटो मे सुधारित प्रमाण-व्यवस्था इसके लिए बडे काम की है क्योंकि पुलिस अपनी थर्ड डिग्री के जरिए जो हलफनामे भरवाएगी वे पलटे नही जा सकेंगे। पुलिस और राज्य सत्ता पोटो के आधार पर किसी भी नागरिक का फोन टेप कर सकेगी और शक के आधार पर ही बिना जमानत अदर कर दिया करेगी। हमे यकीन है कि दृश्य इससे भी बुरा हो सकता है। यह भविष्य स्वय के लिए भाजपा और सघ ने नही सोचा तो न सोचा होगा लेकिन अरुण शौरी साहब ने जरूर सोच लिया है जो कह रह हे कि कानूनो का 'दुरुपयोग' तो होता ही है तो क्या 'पोटो' न बनाया जाए? वे कह रहे है कि आतंकवादी मूलत 'दीक्षित हत्यारी मशीनें' होती हैं। उनके खिलाफ प्रमाण लेने के वर्तमान तरीके अधूरे है और वे उसका लाभ लेकर छूट जाते हैं, उन्हे तो इसी तरह निपटना होगा। उनका आशय भयावह ढग से यह तक है कि अगर इस प्रक्रिया मे किसी कानून का दुरुपयोग होता है तो क्या कानून नही होने चाहिए? एक अर्ध फासिस्ट तर्क जैसा लगता है यह। एक दिन ऐसा आ सकता है कि उसका सचमुच ऐसा 'दुरुपयोग' हो कि उन्हीं के चहेते नेता उसके शिकार बने। तब पोटा का क्या होगा? वे पोटो के बारे में क्या कहेगे?

यदि मालेगाँव की घटनाओं को याद करे तो हम कह सकते है कि आतकवाद से निपटने के लिए एक प्रकार का पोटो लागू हो ही चका है। देखे कि उसने आतकवाद को रोकने, कमजोर करने में कैसी गजब भूमिका अदा की है। जब मालेगॉव में कुछ मुसलमान दुकानदार अपनी दुकानों में अमेरिकी सामान को न बेचने की बात करने लगे और कुछ लडके अफगानिस्तान में अमेरिकी सैन्य कार्रवाई के विरुद्ध और लादेन के पक्ष मे परचा बॉटने लगे तो उन्हें पकडा गया। बाद मे जमकर दंगा हुआ और

कस्बा दो भागों में बाकायदे बँट गया। यह पोटोवाद की एक मामूली-सी उपलब्धि ही कही जाएगी कि आधा दर्जन जान लेकर उसने समाज को दो फाड कर एकता की नींव डाली। अब हमें मान लेना चाहिए कि मालेगाँव में कोई लादेन का पोस्टर दिखाने वाला नहीं बचा होगा। ओम शांति, शांतिः, हमने आतकवाद पर पहली विजय पाई। बधाई।

दो मंत्री और एक गृहमंत्री बार-बार कह रहे हैं कि पोटो तो जी बस सारी समस्याओं का इलाज है। एक चुटकी पोटो मारो और देश को एक कर लो। आतकवाद को निपटा दो। विपक्ष को ठीक कर दो। ये तो 'हड्ड इन वन' है जी। जो शेष पत्रकार-वकील टिप्पणी कर रहे हैं कि पहले से कई कानून है जिनके सहारे किसी भी ऐसी गतिविधि से निपटा जा सकता है, कि पोटो अततः देश में पुलिस राज कायम करेगा, वे सब आतकवाद के मददगार हैं।

सब जानते हैं कि अगर कानून लागू नहीं किए जाते, यदि आतकवादी पकड से छूट जाते हैं तो उसमें पुलिस तंत्र के भ्रष्टाचार, उसमें राजनेताओं के दखल का हाथ है वरना इतने कानून तो पहले से ही हैं कि आप आतकवाद आदि को ठीक करते रह सकते हैं। व्यर्थ कानून का जिरह बख्तर पहनने से आतकवाद नहीं जाने का।

गृहमंत्री जी ने तो सबको इंदिरा गाँधी की आपातकालीन भाषा में आगाह कर दिया है कि जो पोटो के साथ नहीं है वह जरूर आतकवाद के साथ है, यानी कि उन्हें बढ़ावा देने वाला है। पोटो के अनुसार, 'आतकवाद को बढ़ावा देना' अपराध है। देखें कि वे अपने इस महावाक्य से क्या कर गुजरना चाहते हैं। यदि उनके इस महावाक्य को पोटो के साथ अमल में लाया जाए तो देश के तमाम अखबार और चैनल आज ही प्रतिबंधित कर दिए जाने चाहिए जो आए दिन लादेन, अलकायदा और आतंकवादियों के किसी न किसी पक्ष की जानकारी दे रहे हैं, जिसे पोटो आसानी से 'बढ़ावा' देने की कार्रवाई करार दे सकता है। बस जरूरत है तो किसी पुलिसकर्मी की मरजी की। अगर उसे लग जाए कि फलां आतकवाद को बढ़ावा दे रहा है तो वह उसे बिना कुछ कहे अदर कर सकता है और जमानत भी नसीब नहीं हो सकती। मारपीट कर जो लिखवा लिया वह अंतिम प्रमाण की तरह लिया जा सकता है। इस खेल में मामूली-सी हडताल तक, शोर-शराबा तक आतकवादी कार्रवाई कही जा सकती है क्योंकि पोटो की विशेषता यह है कि वह मामूली अपराध को भी आतकवाद बता सकता है।

एक आधे-अधूरे पत्रकार और दो-ढाई मंत्रियों ने पोटो की महानता के बारे में जो कहा है उसमें एक तर्क यह आता है कि टाडा यदि न होता तो राजीव गाँधी के हत्यारों को सजा नहीं मिलती। न्यायविद बताते हैं कि राजीव गाँधी की हत्या के मुताल्लिक जो सजाएँ दी गई वे टाडा के अंतर्गत हलफनामे के आधार पर ही

दी गई। ऐसे मे भी अलग से पहले हलफनामे को अंतिम बनाने वाले नए कानून की जरूरत क्या है, आलोचक पूछते है। जब टाडा का विस्तारित रूप और अन्य कानून अब तक काफी कारगर रहे है तो नए कानून की क्या जरूरत है जो आम नागरिक स्वतन्त्रताओं का हरण कर खुद एक आतककारी कानून की तरह नजर आता है। आलोचक कहते है कि यह कानून राज्य सत्ता के आतकवाद को वैधता देता है। मानवाधिकार के न्यूनतम धरातल का उल्लघन करता है। आतकवाद को खत्म करने के नाम पर यह अपना आतकवाद बनाता है। पोटो के पेशकार कहते है कि दुरुपयोग होगा इस डर से क्या कानून बनाना बद होता है? इस कथन से इतना तो कह ही दिया गया कि इसका दुरुपयोग भी हो सकता है।

आतकवाद से निपटने के लिए अमेरिका ने नया देशभक्ति कानून पिछले दिनो ही बनाया है जो खासकर गैर अमेरिकियो के लिए है। आतकवाद निरोधी एक कानून पिछले साल इंग्लैड मे बनाया गया है। अमेरिका मे पहले भी ऐसे अनेक कानून रहे लेकिन ट्रेड सेटर को आतकवाद का निशाना बनने से ये कानून नही रोक पाए। एंथ्रेक्स से लेकर न्यूयार्क मे पिछले दिनो गिरे विमान के बाद अमेरिकी के मन मे जो डर पैदा हुआ है वह बताता है कि आतकवाद कोई साधारण घटना नही होती जिसे आप किसी कानून के जरिए मिटा डाले। हाँ इस नए कानून ने अमेरिकी और गैर अमेरिकी में भेद उसके उस आतंक को और बढा ही दिया है। ब्रिटेन में तो आतकवाद विरोधी कानून बहुत पुराने है तो भी वे मिलकर दस डाउनिग स्ट्रीट के ऐन नाक के नीचे आत्मघाती दस्तों को बम मारने से रोक नहीं पाते। कश्मीर मे तो इस तरह के कानून के बिना ही सेना सीधी कार्रवाई करती आ रही है। हुर्रियत के जो लोग सरकारी मेहरबानी पर पल रहे हैं उन्हे छोडकर सेना और सैनिक बल आतकवाद के विरुद्ध जब कोई कार्रवाई करते है तो वे किस कानून के तहत करते है? जाहिर है कि पोटो के बिना भी ऐसा करते है तो कोई न कोई कानून है जो उनके पीछे खडा रहता है। कोई पूछे कि जब कहते है कि दो महीने में सेना ने हजार से ऊपर आतकवादी मार गिराए है तो आपको किस कानून की आवश्यकता है?

पोटो दरअसल आतकवाद के प्रतिपूरक कदम की तरह सामने आता है। मरजीवड़ों के इस समय मे आत्मघाती दस्तो मे बदल जाने वाले आतकवादी के सामने किस प्रमाण और किस 'सजा' की बात करता है यह कानून? दरअसल आतंकवाद के समाजशास्त्र के बारे मे सरकार का हाथ लगातार तग रहा है क्योकि उसके कई समर्थक अनुषंग खुद आतंकवादी जैसी कार्रवाइयो मे यकीन करते है, जिसे वे राष्ट्रवाद कहते है। सघ की शाखाओं मे दुश्मन को मार गिराने के खेल हिंसक और आतंकवादी किस्म के ही होते है। बजरग दल की बदूक की ट्रेनिग लेने की तस्वीरें अखबारो मे आ चुकी है और स्वयं सघ के लोगो ने हथियार की ट्रेनिग देने की बात की है।

य वाने सरकार की पोटो परिभाषा मे आतकवादी कार्रवाई नही है क्योंकि ये ना
'अपनो' की कार्रवाई है।

आतकवाद की जो परिभाषा अध्यादेश देता है वह बहुत व्यापक है। ''भारत की एकता, अखडता और सुरक्षा के लिए, किसी खतरनाक इरादे से या कि जनता मे डर बैठाने के लिए, किसी व्यक्ति या संगठन द्वारा बम, डायनामाइट या दूसरे विस्फोटको या कि अग्निधर्मी तत्त्वो या फायर करने वाले हथियारो या कि दूसरे घातक हथियारों या जहरो या गैसो या ऐसे ही किसी तत्त्व के जरिए किसी मनुष्य या मनुष्यो के जीवन को नुकसान पहुँचाने या खत्म करने या कि समाज की अनिवार्य सेवाओ को नुकसान पहुँचाने के इरादे से किए गए काम आतकवादी काम कहे गए है।' लेकिन इससे भी आगे अध्याय 2 धारा 3/8 तो गजब ढाती है : ''ऐसी सूचना रखने वाला कोई भी आदमी जो किसी व्यक्ति की आतकवादी हरकत को रोकने मे मददगार साबित हो सकता है या कि जो किसी ऐसे अपराधी को पकडवा सकता है और वह व्यक्ति ऐसी सूचना देने मे, बिना उचित कारण के, अगर असफल रहता है तो उसे एक साल की सजा होगी।''

जरा खड 21/1/ को पढिए जो आतकवादी सगठनो के बारे में कहता है कि 'हर ऐसा व्यक्ति अपराधी है जो किसी ऐसे सगठन के लिए कोई समर्थन जुटाता है' 21/2 कहता है कि ''यदि कोई ऐसी बैठक बुलाता है जिसमे कि कोई आतकवादी बोलने वाला है तो वह भी अपराध होगा।' इस धारा के अतर्गत दस साल की सजा की व्यवस्था है। 'बैठक' का मतलब बताया गया है कि 'तीन या उससे अधिक की सख्या की बैठक' भले ही वह जनसभा न हो।

अब सोचिए कि अगर कोई मानवाधिकारवादी या प्रतिपक्षी दल सोचता है कि सरकार ने कोई कार्रवाई अनुचित की है तो क्या वह कोई आदोलन भी कर सकता है नही, वह आदोलन नही कर सकता। उसका ऐसा करना आतकवाद का समर्थन जैसा माना जा सकता है। जो अखबारनवीस राजनीतिक रिपोर्ट करते है और आतकवादियों से बात करते है और जनता को उनके बारे मे खबर देते है वे इस कानून के तहत या तो ऐसी खबरे देना बद कर दे या फिर आतकवादी पात्र की पहली खबर पुलिस को दे और इस तरह की मुखबिरी कर आतकवादी की बदूक की गोली खाएँ या न करे और फलस्वरूप पोटो की मार खाएँ। इस तरह मीडियाकर्मी को चाहिए कि वह आतंकवाद की वही तस्वीर पेश करे जो सरकार या पोटो बनाता है। अन्यथा एक साल से तीन साल या फिर दस साल के लिए अदर होने के लिए तैयार रहे।

आतकवाद एक गहरी सामाजिक-सास्कृतिक प्रतिरोध-व्याधि भी है। इसका अर्थ हुआ कि आतकवाद और चोरी-डकैती मे बडा फर्क है। आतकवाद एक सामाजिक कार्रवाई भी हो सकता है, जैसा कि बहुत से मुक्तिकामी आदोलनो के साथ होता

रहा है। लिट्टे, लिट्टे वालों के लिए क्रांतिकारी है जबकि श्रीलंका के लिए आतंकवादी। आतंकवाद की परिभाषा चूँकि एक राजनीतिक-वैचारिक परिभाषा भी है इसलिए उसकी परिभाषा सत्ता-विमर्श में बदलती रहती है। उसे ठीक करने के लिए किसी भी जड़ कानून को हमेशा नाकाफी ही रहना है।

इस कानून के बाद आतंकवाद और ज्यादा रहना है क्योंकि यह कानून स्वयं आतंकवाद को पैदा करने की जमीन तैयार करता है। यह आतंकवाद को मिथक में बदलने की कोशिश करता है। उसके रहस्य से लड़ने की जगह, उसके विचार से लड़ने की जगह उसके किसी एक व्यक्ति से लड़ना चाहता है। वह आतंकवादी को पकड़ कर आतंकवाद को खत्म हुआ मान लेता है जबकि आतंकवाद अब आत्मघात के चरण में दाखिल हो गया है और वह तकनीक-मित्र और ग्लोबल तत्त्व है जो नए पूँजीवाद और जनतंत्र के नए अंतर्विरोधों का परिणाम है। वह इस बात का गवाह है कि उसकी कड़वी और असह्य बात को सुनने वाले कान बंद हैं और जब आतंकवाद धर्म के प्रतीकों, पहचान के प्रतीकों को सक्रिय करने लगे तो वह आतंकवाद मात्र नहीं रह जाता, एक सामाजिक समस्या बन जाता है जिसके साथ लगातार संवाद की जरूरत रहती है। आतंकवाद का अनुभव बताता है कि बंदूक से आप उस पर फौरी विजय भले पा जाएँ वह बार-बार जन्म लेता रहता है। उसे आप जनतंत्र के हवा-पानी में लाकर ही मार सकते हैं। उसे मुख्यधारा में लाकर ही खत्म कर सकते हैं।

पोटा दरअसल सत्ता को और भी अधिक बधिक बनाने का औजार है। आज आपकी सत्ता है तो आपके लिए कोई और आतंकवादी है, कल किसी और की सत्ता होगी तो उसके लिए कोई और आतंकवादी होंगे। आतंकवाद की इस राजनीतिक तरलता को समझे बिना सिर्फ कानून से उसका कुछ नहीं बिगाड़ा जा सकता।

• जनसत्ता, 20 नवंबर, 2001

ग्यारह सितम्बर की पॉपूलर कल्चर :
'रैंबो' से 'डूब्यामैन' तक

ग्यारह सितम्बर के बाद का पॉपूलर जगत

ग्यारह सितम्बर ने पॉपूलर कल्चर के सिद्धांतिकियों को दूर तक पुष्ट किया है। सितम्बर के बाद अमरीका एक पॉपूलर पाठ की तरह दुनिया भर को मिला है। तमाम चैनलों पर तमाम अखबारो मे अमरीकी स्रोतो के समाचार और छवियॉ छायी हुई है या कि फिर तालिबान और बिन लादेन की छवियॉ छायी हुई है। अचानक हम लादेन के नये 'आइकन' के सामने है जिसकी कोई भी व्याख्या अपर्याप्त नजर आती है।

अमरीका ने ग्यारह सितम्बर के बाद जो पॉपूलर मुहावरा बनाया वह अमरीकी पॉपूलर कल्चर का ही मुहावरा है और अमरीका को उसी मे समझा जा सकता है। इधर तालिबान और अफगानिस्तान और बिन लादेन और इस्लाम ने भी एक पॉपूलर मुहावरा बनाया है। अमरीका ने अपनी कल्चर के वर्चस्व को बनाये रखने के लिए ही तालिबान और लादेन की अपने सुपरिचित सांस्कृतिक पॉपूलर चिह्नो से तस्वीर खडी की है जिसमे लादेन के बनाये चिह्न पूरक की तरह काम करते है। इस तरह इस वक्त हम दो पॉपूलर आइकनो, दो पॉपूलर कल्चरो के ग्लोबल उपभोगो के बारे मे आसानी से सोच सकते है।

अमरीकी पॉपूलर कल्चर का संकट

ग्यारह सितम्बर के बाद अमरीकी पॉपूलर कल्चर सकट में आ गयीं है। हॉलीवुड की कई फिल्में रिलीज नहीं की गयी। इनमें आतकवादी हिसा के और भी ज्यादा लोमहर्षक दृश्य बनाये गये हैं। इनमे 'स्पाइडरमैन' और हिसक हीरो श्वार्जनेगर की 'कोलेटरल डेमेज' शामिल हैं। और भी कई फिल्में है जो सितम्बर में रिलीज होनी थी लेकिन ग्यारह सितम्बर के बाद अमरीकी जनजीवन मे आये बदलाव के कारण उन्हे रिलीज नहीं किया जा रहा है। स्पाइडरमैन की कहानी तो कॉमिक्स मे आती

रही है जिसे अब फिल्माया गया है। आतकी हमले और स्पाइडरमैन का बचाव इस कामिक स्ट्रिप की परिचित कथाएँ रही है। 'कोलेटरल डेमेज' में एक दक्षिण अमरीकी आतकवादी दस्ते द्वारा अमरीकी दूतावास को उड़ाया गया है। हॉलीवुड के निर्माता इन दिनों अपनी पब्लिक के मूड को ताड नही पा रहे और ऐसी फिल्में रिलीज करने से सकुचा रहे है जिनमें आतकवादी हिंसा एक केन्द्रीय विषय है। ग्यारह सितम्बर ने अमरीकी पॉपूलर कल्चर के सबसे बडे बाजार ब्रोडवे को भी ठंडा कर दिया। अमरीकी पॉप कल्चर की और विश्व की पॉप कल्चर की सबसे बडी मंडी ब्रोडवे कोई दो दिन बद रही। न नाटक हुए न गाने हुए न ओपेरा हुए न कुछ हुआ। यह ब्रोडवे के इतिहास मे पहला मोका रहा जब वह पूरे दो दिन तक मातम मे बन्द रहा। टावरे ही ध्वस्त नही हुई। उनकी कल्चर की मडी भी ध्वस्त हुई।

हॉलीवुड की अपनी बनायी समस्या

हॉलीवुड में फिल्मो में हिसा के कंटेंट को लेकर एक बहस सी छिड गयी है।

ग्यारह सितम्बर के बाद हालीवुडीय पॉपूलर कल्चर की कई अवधारणाओ म समस्या पैदा हो गयी है। इतिहास मे पहली बार हॉलीवुड के पॉपुलर कल्चर के चिंद ओर उनके निर्माताओं को सोचना पड रहा है कि क्या उनकी फिल्मो ने ही ग्यारह सितम्बर की घटना की प्रेरणा दी है? क्या उनकी कहानियो में फिल्माई जाती रही आतकवादी गतिविधियाँ और तज्जन्य हिसा और आतक लादेन के आतकवादियो के लिए प्रेरणास्पद बने? ये सवाल अमरीकी बुद्धिजीवियो और पॉप कल्चर से जुड लोगो को लगातार तग कर रहे हैं। वियतनाम पर अमरीकी हमले को सेलीब्रेट करने वाली हालीवुड की सीरिज 'मेश' के निर्माता राबर्ट आल्टमैन ने कहा है कि हमारी फिल्में एक पेटर्न बनाती रही हैं। और इन लोगो ने उनसे सीखकर काम किया है। एसी भयानक वारदात तब तक कोई नहीं कर सकता जब तक कि उसने उसे फिल्मा मे होते न देखा हो। हम क्यो अपनी फिल्मो मे इस कदर विनाशलीलाएँ दिखाते रहते है? हमी ने ऐसा वातावरण बनाया और हमी ने यह सिखाया कि कैसे किया जाये (हिन्दुस्तान टाइम्स /11/10/2001)। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों मे : देखो भयकर भेडिए भी आज आँसू डालते।

इस खबर के साथ एक खबर ऐसी भी आयी कि हॉलीवुड के फिल्म निर्माताओ और निर्देशको से अमरीकी सुरक्षा विभाग के लोग आतकवादी दृश्यो को समझना चाहते है, जानना चाहते हैं कि आतकवादी हमले के सीनो की कल्पना करते हुए निदेशक और पटकथाकारो ने उन्हें किस तरह बनाया किस तरह संभव किया। उन्हें उम्मीद है कि इस तरह वे आतकवादी दिमाग में घुस सकेगे और आसन्न आतंकवाद से निपटने मे मदद मिल सकेगी।

उक्त दोनो प्रकार की प्रतिक्रिया पॉपूलर कल्चर की अन्तर्विरोधी भूमिका को

अच्छी तरह स्पष्ट करने वाली है। एक ओर कहा जा रहा है कि हिंसा को हमीं ने बनाया है और हमीं ने सिखाया है और इस तरह हम अब हिंसा से बाज आना चाहिए। दूसरी ओर यह भी कहा जा रहा है कि जिसने हिंसा रची है वह सत्य के काफी नजदीक था और उससे सीखा जा सकता है। राजनीति और समर नीति पॉपूलर कल्चर से सीखने लगी।

इससे यह बात भी पता चलती है कि जिन फिल्मों का निर्माण अमरीका दिन-रात करता रहा उनका सबका खराब दर्शक वहाँ का राजनीतिक और प्रशासक वर्ग रहा। उसने उसे दूसरे के लिए बनने दिया। इसीलिए उसे अब आकर हॉलीवुड वालों से कहना पड रहा है कि वह आतंकवादी हिंसा के दृश्यों की पुनर्रचना करके उन्हें बताये कि खेल क्या है?

इससे यह भी सिद्ध होता है कि हॉलीवुड की पॉपूलर कल्चर हॉलीवुड को भी पूरी तरह ज्ञात नहीं होती। उसका क्या असर होगा और उस के सीन उसी पर चला दिये जा सकते हैं। ऐसा उसने नहीं सोचा। पॉपूलर कल्चर एक राजनीतिक भाषा भी देती है यह आज पहले से कहीं ज्यादा साफ नजर आता है। बच्चे फिल्मों को देखकर ढिशुम-टिशुम किया ही करते हैं। लेकिन अब यह शोध का विषय हो सकता है कि हमारे व्यवहार में आने वाले प्रच्छन्न बदलावों और फिल्मों के बीच कैसा सम्बन्ध बना करता है।

हम कह सकते हैं कि ग्यारह सितम्बर की घटनाओं के बाद पॉपूलर कल्चर अचानक एक राजनीतिक पाठ्यक्रम सा बनने लगी है। अगर आप समाज को समझना चाहते हैं तो उसके पॉपूलर कल्चर के चिह्नों को लगातार समझना होगा। आप उन्हें समाज निरपेक्ष और निःसन्दर्भ मनोरंजन की तरह नहीं ले सकते।

हमारे यहाँ भी ऐसी खबर आयी कि आमीर खान की 'लगान' को बंगलूर की क्रिकेट एकेडमी अपने पाठ्यक्रम में लगाएगी ताकि वह अपने प्रशिक्षुओं को क्रिकेट की बारीकियों के बारे में समझा सके।

रैंबो की जगह फायरमैन

ग्यारह सितम्बर के बाद पॉपूलर कल्चर के परिचित चिह्नों में भारी उलट फेर हुए हैं। यह यहाँ तक है कि पॉपूलर कल्चर के गडबडाने से बाजार तक गडबडा गया है। इसका असर अमरीका के खिलौना उद्योग पर देखा जा सकता है। अब उनके नायक रैंबो स्पाइडरमैन और बैट मैन नहीं हैं। वे स्टॉलों से हटा दिये गये हैं। अब वहाँ फायर बुझाने वाले प्रतीकों के चुनाव में देखा जा सकता है वे टावरें जो ध्वस्त कर दी गयी अब खिलौनों के रूप में पहले से ज्यादा बिकती हैं। अमरीकी समाज का जीवन इसी तरह के पॉपूलर आइकनों से बनता रहा है। जब समाज में बदलाव आता है तो वहाँ भी बदलाव आता है। यह पहली बार है कि किसी घटना ने उनके

प्रतीको को बदल डाला है। उनके खिलौना उद्योग में हिंसा का जो प्रवेश रहा था वह अचानक किनारे हो गया है और अब समाज की सेवा करने वाले फायर मेन उसकी जगह लेने लगे है। टॉवरो मे फँसे लोगो को बचाने के पहले हल्ले मे कोई दो ढाई सौ फायर मेन मर गये। उन्होने अपनी जान की परवाह नही की। वे नये हीरो हो गये। अमरीका मे नये हीरो ऐसे ही बन रहे है। वे फायर मेनो को सामने रखकर आतंकवाद से लड़ सकते है।

सेक्स बढ़ा आतंक घटा

ग्यारह सितम्बर के बाद अमरीकी पॉपूलर कल्चर मे कुछ चिह्नो ने जगह बदली है उनमे से एक चिह्न सेक्स का चिह्न है। ग्यारह सितम्बर के बाद अनेक मनोवैज्ञानिको ने पाया है कि अमरीकी लोग सैक्स मे ज्यादा तल्लीन हुए हैं। उनमे असुरक्षा का भाव बढा है आतंकवादी घटनाओं ने उसे बढाया है। हवाई जहाज मे उडना, ऊँची बिल्डिंगो मे जाना उनके अनुभव मे एक असुरक्षित काम हो गया है। अब एंथ्रेक्स का डर तो डर की ऐसी पॉपूलर कल्चर ही बना गया है कि लगता है कि अमरीकी आदमी दुनिया का शायद सबसे कमजोर और डरपोक आदमी है। इसी सबको देखकर डॉक्टरो ने पाया है कि अमरीकियों मे सैक्स करने की आदत अचानक बढ़ गयी। डॉक्टरो का कहना है कि सैक्स के बढने का मतलब है कि वे अब एक-दूसरे से जुडने के लिए लालायित है। सैक्स और देह से सम्पर्क करने के जरिये वे एक प्रकार से अपने समाज से जुडते है। घनिष्ठता में आते हैं। ग्यारह सितम्बर के बाद हालात यहाँ तक पहुँचे है कि एक शोध ने बताया कि आम अमरीकी किसी अजनबी तक के साथ सोने के लिए लालायित हो सकता है/हो सकती है।

सैक्स अमरीकी पॉप कल्चर का संचालक तत्व रहा है। सैक्स शायद सब तरह के पॉपूलर मनोरंजन का सुचालक तत्व रहा है। लेकिन जिस पैमाने पर अमरीका ने इसे साधा है उस पैमाने पर पॉपूलर कल्चर के अन्य तत्वों तक का खतरा पैदा करने वाला बन रहा है। फिल्म उद्योग और सैक्स उद्योग बहुत दूर तक एक-दूसरे के पूरक बन गये है। पॉपूलर कल्चर के अन्य तत्त्वो मे देश प्रेम का तत्त्व आता है जिसे फिर इन्ही दिनो मे सैक्स की तरह एक बार फिर जबर्दस्त ढग से बनते हुए देखा जा सकता है। अमरीकी पॉपूलर कल्चर का एक बडा सुचालक और संचालक तत्व हिंसा का निर्माण रहा है। ग्यारह सितम्बर के बाद अमरीकी पॉपूलर कल्चर का चौथा तत्त्व 'हास्य' अचानक कमजोर हुआ है और उसकी जगह सैक्स या देशप्रेम के भाव ने ले ली है। जाहिर है कि हिंसा के निर्माण के तत्वो को पहली बार दोयम दर्जा मिला है और वह अचानक देशप्रेम की ओर मुडता हुआ अन्ध देश प्रेम की ओर मुड गया है।

समाज मे अमरीकी मूल्यो और अमरीकी जीवनशैली का जयजयकार अनिवार्य

सा होने लगा है और उससे विरत रहने वालों को, अन्यों को 'संदिग्ध' कहा जाने लगा है। देश किसका है? उसका मालिक कौन है? और कौन है जो अन्ततः उसके साथ विश्वासघात नहीं करेगा? ऐसे सवाल उठने लगे हैं। हिंसा का तत्त्व इधर मुड़ गया है और उसने अन्धराष्ट्रवाद का रूप धारण कर लिया है। दाढ़ी, पगड़ी अब दो ईथनिक चिह्न, पूरब के मनोहर चिह्न नहीं रह गये हैं बल्कि आतंकवाद के प्रतीक हो गये हैं जिन्हें निकाल बाहर करना है। लोगों को प्रताड़ित किया जाने लगा है।

आतंक का जवाब मिस अमरीका

ग्यारह सितम्बर के बाद अमरीकी जीवन ने जब सामान्य होना शुरू किया तो सबसे पहले मिस अमरीका प्रतियोगिता को उसी तरह से किया गया जिस तरह से वह पहले से योजित थी। यह उसका अपनी परिचित पॉपूलर कल्चर में लौटकर आना था ताकि लगे कि कुछ नहीं हुआ है और सब सामान्य सा है। उसमें अमरीकी माडल फेशन डिजाइनिंग और हालीवुडीय दुनिया के तमाम लोगों ने भाग लिया। जिन दिनों हम अपने टीवी चैनलों पर अफगानिस्तान के फटेहाल लोगों और धूल धूसरित तालिबान को देखते थे उन्हीं दिनों रैंप पर इठलाकर चलती हुई मिस अमरीका को देखते थे। यह अमरीकी पहचान के चिह्न का मानो आहत होने के बाद दावे के साथ अपने दुश्मन बिन लादेन को कहना था कि हम अपनी पॉपूलर कल्चर नहीं छोड़ने जा रहे। लादेन ने अमरीकी जीवनशैली और कल्चर को बराबर अपनी घृणा का निशाना बनाया है। यह मानो उसका जवाब था। पॉपूलर कल्चर इस तरह अमरीकी युद्ध का हिस्सा बन उठी। उसमें तमाम नर्तकों और गायकों ने भाग लिया और अपने उसी सहज अमरीकी ढंग से किया जिसमें स्विम सूटों की भरमार रही और उसी तरह के ग्लेमर और तमाशे को जानबूझकर ज्यादा रंगीन बनाकर पेश किया गया। वरना अमरीकी इतिहास में मिस अमरीका की प्रतियोगिता पिछले दिनों अखबारों के कोने में जरा सी जगह ही पाया करती थी। अमरीका के पॉपूलर कल्चर के सरगने मानो अपनी पब्लिक को, दुनिया को और तालिबान को एक सन्देश देना चाहते थे कि ट्रेड टावर तोड़ दी तो क्या अमरीकी जीवन शैली अटूट है और वह अपने सैक्स सुख में जीती रह सकती है और गम का अमरीकी जीवन में कोई स्थान नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति तो एकदम गैर जरूरी है। इसे उनके नायक बुश उर्फ अमरीकी पॉपूलर कल्चर के 'डूब्यामैन' ने बराबर आगे बढ़ाया। वे उसी पॉपूलर भाषा में बोले कि अमरीकी जीवनशैली, अमरीकी संस्कृति पर हमला हुआ है और इसका जवाब दिया जायेगा।

अमरीकी झंडा

ग्यारह सितम्बर के बाद अमरीकी पॉप कल्चर में दूसरी बड़ी घटना अमरीकी झंडे का अचानक पॉपूलर चिह्न बन उठना रहा। अमरीकी कल्चर और अमरीकी जीवन

शैली और अमरीकी राष्ट्र तीनों तत्त्व एक-दूसरे में गुथ गये। हर आदमी के हाथ मे झडे आ गये। कपडे और झडो के डिजाइन एकमेक हो उठे। यों अमरीकी अपने झडे को पहले भी पहनते- ओढ़ते रहते थे। वह अमरीकी शक्ति और सामर्थ्य का सबसे बडा चिह्न माना जाता था। लेकिन जितना वह ग्यारह सितम्बर के बाद नजर आया और जिस तरह से नजर आया उतना पहले कभी नजर नहीं आया। बाजार मे झडों की कमी पड गयी इतनी मॉग पैदा हुई।

इससे अमरीकी अन्ध राष्ट्रवाद बुरी तरह लौटा जिसे पिछले बरसो में मानो भुला दिया गया था। गैर अमरीकी तत्त्वो के खिलाफ घृणा का तत्त्व उभरा। स्कूलों तक मे बच्चो से कहा गया कि अमरीकी देशभक्ति के गाने गाएँ और जो नही गाएँ उन्हे सताया जाये।

अमरीकी पॉपूलर कल्चर अचानक राजनीति करने लगी और वह सताने वाली भी हो उठी। अमरीकी कल्चर विभक्त हो उठी और चौथे दशक के मैकार्थीवाद के जमाने मे लौट गयी जब कम्युनिज्म के कथित खतरे से निपटने के लिए हॉलीवुड मे काम करने वाले उदारवादी कलाकारो को सताया गया था और काम से हटाया गया था। उन्हे अमरीकी कल्चर का विरोधी बताया गया था।

अमरीकी जीवनशैली को सारे ससार मे पॉपूलर बनाने में हॉलीवुड का स्थान अमरीकी सेना से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण रहा है। आज यदि हम दुनिया भर मे अमरीकी फिल्मो का बाजार देखते हैं और अमरीकी जीवन मूल्यो की 'श्रेष्ठता' के प्रति स्वीकार का भाव देखते है या कि उससे झगडे ओर गहरी घृणा का भाव देखते है तो इसीलिए कि अमरीकी पॉपूलर कल्चर अपने अमरीकी हितो का वर्चस्व कायम करने में हिरावल की भूमिका निभाती रही है।

सभ्यता का टकराव या दो पॉपूलर संस्कृतियों का टकराव?

इस तरह ग्यारह सितम्बर की घटना का पॉपूलर पाठ यह भी है कि उसमे दो सस्कृतियो क टकराव के भीषण क्षण उपस्थित हुए है जिन्हे सैमुअल हटिंग्टनवादी लोग सभ्यताओ का संघर्ष कहते है। 'क्लैश ऑफ सिविलाइजेशनस एड रिमेकिंग ऑफ वर्ल्ड ऑर्डर' नामक किताब मे सेमुअल पी. हटिंग्टन ने अपने पहले अध्याय का नाम रखा है *'न्यू इरा ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स'* और इसक पहले उप शीर्षक मे वे कल्चरल आइडेटिटीज यानी सास्कृतिक अस्मिताओं और उनमे सक्रिय राजनीति की बात करते हुए कहते ह कि अमरीकी अपनी पश्चिमी पहचान को कायम रखना चाहते हें जबकि यह दुनिया बहु सास्कृतिक है। शीतयुद्ध के दिनो में सारी संस्कृति दो ध्रुवीय थी अब एक ध्रुवीय और बहु ध्रुवीय है। अब लोग राजनीति के जरिये अपनी पहचान का दावा भी करते हे।

इस सन्दर्भ मे लादेन के आतकवादी एक्शन को एक विराट सांस्कृतिक

राजनीतिक दृश्य की तरह समझा जा सकता है। लादेन जिस तरह के इस्लाम में यकीन करता है अमरीकी संस्कृति उसकी दुश्मन नजर आती है। अमरीकी संस्कृति का उपभोक्तावाद हर तत्त्ववादी संस्कृति को अपने लिए चैलेंज नजर आता है। अपने समाज में भी हिन्दू तत्त्ववादी इसे पश्चिमी अपसंस्कृति कहते हैं और उसके खिलाफ रहते हैं।

बिन लादेन : पॉपूलर सांस्कृतिक एवं स्थापत्य का भीषण विमर्श

आतंकवादी लादेन अमरीका का दीक्षित सिविल इंजीनियर है। उसका चेला मोहम्मद अत्ता जिसने एक टावर से विमान को टकराया स्वयं सिविल इंजीनियर था और उसने एक शोध में अमरीकी ऊँची बिल्डिंगों को गैर सांस्कृतिक पाया था। क्या वह अपने 'इसलामी स्थापत्य' से अमरीकी स्थापत्य को टकराना चाहता था और उसे ध्वस्त करके दृश्य बदलना चाहता था? कहने की जरूरत नहीं कि वह बहुत दूर तक इसमें कामयाब हुआ। लोगों ने हवाई जहाजों में यात्रा करना छोड़ दिया। ऊँची बिल्डिंगों में जाने से लोग डरने लगे। उधर अफगानिस्तान के पहाड़ी मैदान भी रेशमी मार्ग की संस्कृति को सामने लाते हैं। एक ओर सम्पन्नता दूसरी ओर धूल गरीबी। एक ओर नग्नता और सैक्स दूसरी ओर औरतों को गठरी की तरह बुर्कों में बंद कर देना।

इन दोनों में कितना कंट्रास्ट है कि इंच-इंच पर दो विपरीत कल्चरों के आमने-सामने होने का अहसास होता है।

कहने की जरूरत नहीं कि हम इन दिनों अमरीकी पॉपूलर कल्चर में एक नया खलनायक देख रहे हैं। यह है बिन लादेन जिसके चित्र दुनिया भर में बिक रहे हैं। उसके समर्थकों की इस्लामी दुनिया में वह एक समूह के बीच इस्लाम की पहचान का एक बड़ा आइकन बन गया है और अमरीका में वह खलनायक बन उठा है। अमरीका में लोग उसके चित्रों को टायलेट पेपरों पर, कॉफी के कपों पर अपनी घृणा के प्रतीक के रूप में इस्तेमाल करने लगे हैं। इन्टरनेट से लेकर हर जगह बिन लादेन अमरीकी निशानेबाजों की आखेट का सुलभ शिकार बनाया जा रहा है।

अमरीकी पॉपूलर कल्चर अगर बिन लादेन की अपनी पॉपूलर कल्चर के आगे अभी तक परेशान नजर आती है तो इसीलिए कि वह इस नये चिह्न बिन लादेन और आतंकवाद को अब तक एक कहानी की तरह ही बनाती रही है जबकि वह अब यथार्थ जीवन में सामने नजर आ रहा है।

रैंबो की थकान और डूब्यामैन की मसखरी

लगता है रैंबो थक गया है और उन्हीं अफगानों ने उसे चपेट में ले लिया है जिन्हें उसने सोवियत संघ की फौज से निजात दिलाने में मदद की थी। जिन लोगों ने रैंबो फर्स्ट ब्लड पार्ट थ्री देखी है वे समझ सकते हैं कि जिस पॉपूलर कल्चर में हॉलीवुड

आज से दस साल पहले तक एक आतकवाद बना रहा था वही उसे तोडकर पटक गया है। रैंबो के अन्त मे ये लाइने आती हैं ये फिल्म उन महान् अफगानी योद्धाओ को समर्पित है जिन्होंने अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए कुर्वानी दी है। उसमें अन्त मे एक अफगानी बच्चे को रैबो अपने स्मृति चिह्न को देकर विदा होता है लगता है कि वही वच्चा अव विन लादेन बन गया है और उसने रैबो की ही टावरे उड़ा दी है। रैबो बूढा हो गया है। उसकी जगह डूब्यामैन आ गया है। जो पगलेट किस्म का हीरो है। यह डूब्यामैन इन दिनो अमरीकी राष्ट्रपति बुश की तरह बनाया जा रहा है। बिन लादेन और बुश को लेकर इन्टरनेट पर चुटकुलो को भरमार है जो वताती हे कि टावरों के गिरने के वाद अमरीकी शेखचिल्लीपने को समझने के लिए लोगो ने पॉपूलर कल्चर के एक वडे उपक्रम 'चुटकुलेवाजी' का खासा सहारा लिया है। 'टाइम्स ऑफ इडिया' के जुग सरैया ने तो वुश को डूब्यामैन वनाकर एक कॉमिक पट्टी ही वना डाली है जो खूब पढी जाती है। इसमे डूब्यामैन बने बुश एक शेखचिल्ली की तरह नजर आते हैं।

यह भी अमरीकी शेखचिल्लीपने को पॉपूलर कॉमिक में उतारने का एक पॉपूलर कल्चरल तरीका है।

मिलेनियम और आतंकवाद

हर लम्हा हादसा। हर पल आतंक और ध्वंस! हवा में बारूद और उड़ती अस्थि-मज्जा की चिरायँध। छब्बीस जनवरी की सुबह गुजरात मे धरती फटती है। नेता सांसद शोक करते हे और राहतें लुटती हे। ठेकेदारों के मुनाफे भूकंप मे भी अकंप है। दब जाते है प्रार्थना मे झुके राष्ट्रगीत गाते प्रभातफेरी निकालते भोले बच्चे, अध्यापक। सोते हुए लोग-बाग हजारों की संख्या मे। जाबाज सुरक्षाकर्मी ही काम आते हैं। फिर बहस होने लगती है। कफन पर राजनीति होती है। गाँव गायब हो गए है। लाखा तबाह हैं, लेकिन तिलक छाप कुछ लोग सरस्वती नदी की खोज मे नाचने लगते है। कहते है भूकंप को प्रणाम कि उसने आकर हमारी सभ्यता का परचम लहरा दिया दुनिया पर। सरस्वती डर के मारे चुपचाप सूखी पड़ी रहती है। उसे मालूम है जो हाल दिसंबर मे इन गंगापुत्रों ने गंगा का किया है उसका भी वही करेंगे! बरस के अंत मे यह रहा तेरह दिसंबर का सीन। साल के आखिरी महीने के दूसरे सप्ताह का काँपता चिथड़ा-चिथड़ा होता हुआ एक दिन :

पत्थर चौखट पर फट चुका एक मानव-बम डराता खामोशी के साथ लेटा है। उसका हाथ उड़ गया है। उसके पेट में बारूदी गड्ढा है। भुनी हुई आँतें निकली पड़ी है। उसकी चिरायँध कारों की छतों पर से अभी-अभी नीली लपट में गुजरी है और हम सबके टीवी से होती हुई सारी दुनिया के नथुनों मे घुसी है। किस कविता, किस कहानी, किस सिद्धांतिकी का रुमाल खरीदूँ कि वह चिथड़ा न दिखे और हम सबकी प्रिय जैसी-तैसी सेक्युलर जनतान्त्रिक संसद बची रहे और दो हजार एक के वर्ष को भोगने के लिए आपके साथ मैं बचा रहूँ। एक हकबकाया, डरा-डरा सा जीवन जीता, टीवी देखता, अखबार पढ़ता, लिखता. साहित्य का धंधा करता, लादेनी-ग्लोबलीय-इस्लामी-आतंक और जार्ज बुशीय-बहुराष्ट्रीय पूँजी संचालित ग्लोबल उत्तर आधुनिक गाँव मे शांति का एक पल खोजता हुआ। ओह! दो हजार एक के तीन सौ पैंसठ दिन। तीन करोड़ पंद्रह लाख छत्तीस हजार सैकंड। और इसमें शामिल जीते-मरते सात अरब लोग। जिनमें एक अरब अपने। जिनमें कहीं एक गिनी की तरह मैं। एक आप एक विकट जलते-पिघलते-बिखरते समय मे कहाँ से लाऊँ वह कलम-दवात और कागज

कि लिख दें इन तमाम क्षणों का इतिहास, जो कि बनने से पहले ही भाप बनकर हर बार उडता जा रहा है। जो बीते हुए तीन करोड़ पंद्रह लाख छत्तीस हजार चिथडा-चिथडा होते हुए सैकडा। कहाँ से बीनूँ तुम्हारे एक-एक तिनके को कि एक बार फिर इस भुला देने योग्य समय को याद किया जा सके।

दर्दीला घुटना

बुश के आते ही आईटी उद्योग बैठ गया है। डायस्पोरा रो दिया। करोड पाने वाले भारतीय अमेरिका की सडकों पर थाली साफ करते दिखते है। स्टॉक मार्केट को ऊपरी मिलीभगत से केतन पारिख खा जाता हे और कुछ नहीं होता। कल तक मस्त मध्य वर्ग को यू टी.आई भिखारी बना देती है। पैसा कहीं भाप की तरह गायब हो जाता है। देशी बाजार बैठा है। चीनी माल ने ढेर कर दिया है। हर तीन महीने पर अपनी मॉद से निकलकर स्वदेशी वाले विरोध का स्वॉग रचाते हैं।

मत-महत चीखते है मदिर बनाऍगे! आयोग के पास हिंदुत्व के लादेनी छाप नेता जाते हे कहते हैं कि वह महान् आदोलन था। मदिर बनाऍगे, मदिर बन गया तो रोटी मिलेगी, नही तो नही। फिर इतिहास का मदरसाई सस्करण लिखने के लिए पॉच हजार साल पुरानी जर्जर गुफाओं से कुछ कथित ऋषि-मुनि टाइप के लोग निकल पडते है और मत्री कहते है कि सेक्युलर बौद्धिक आतकवाद असली खतरा हे। अरुधती पर मुकदमा है, नर्मदा दच नही पा रही हैं। ज्यादा बोलोगे तो आगे पोटो है। विपक्ष सरकार को रोकता है। कहा कि आगे पोटो है। बिन लादेन और मुल्ला उमर कधार म बुद्ध की सदियों से शात मूर्तियो को उडा देते है। हमेशा वीररस की कविता मे डबती-उतरती सरकार हमारी ही तरह लाचार टीवी पर देखती है। ऐसे वीररस की ज हो। अचानक अपनी सरकार मुशर्रफ के साथ दो गाना गाने को मचल जाती ह। आगरा में गाना होता है, लेकिन किसी फिल्मी सीन की तरह गाने के बाद गाली चलने लगती है। गाल पर मुशर्रफ थप्पड़ मारता है, लेकिन सरकार मीडिया को पीटती ह कि पिटते दिखाया क्यों कमबख्त।

प्रधानमंत्री का दर्दीला घुटना उन्हे चिंतन की शक्ति देने लगता है। स्वदेशी की जगह अमेरिकी डॉक्टर को इनाम मिलता है। यहॉ सबकी बुद्धि घुटनो मे रहती हे। तहलका आता है। पर, गाजे-बाजे के साथ धमकी देते हुए लौटे मत्री कि बहाना ह कि देश बचाना है। देख लूँगा सबको । चरित्र और नैतिकता की हैवी डोज देने के लिए एक मत्री, एक निदेशक पाठ्यक्रम बदलने पर उतारू है और तहलका वाला अपने जीवन की खैर मनाता है। नैतिकता इस साल इसी तरह लॅगडी-भिन्न की तरह चली।

ध्वस्त टॉवर, रोटी के पैकिट और वम

तव सबको दहलाता, सिहराता आतंकवाद एक दिन अचानक दिव्य ग्लोवल हो जाता है। अमेरिकी चेहरा सदा के लिए वदल जाता है। आतंकवाद का वहुराष्ट्रीय इस्लामी कॉरपोरेशन चलाने वाला लादेन एक दिन अमेरिकी टॉवरों को सिर्फ इसलिए उडाता है कि उसे इस्लाम का परचम दुनियाभर में फहराना है। वह इस्लाम के लोगो की गरीवी मिटाने में दिलचस्पी नही रखता। दुनिया अब तक के इतिहास के अवट और अमर दृश्य देखती है दो जहाज एक के वाद एक बारूदी चाकू की तरह टॉवरों के पेट में घुसते है और टॉवर जल-पिघलकर विखर जाते है। एक ओर इस्लाम के नाम पर हडप लिया गया एक पत्थरयुगीन जीवन, दूसरी ओर दुनियाभर की सपदा सचित करने वाला तकनीक सपन्न अमेरिका। यह अक्टूवर है। अफगान युद्ध है। अमेरिकी वम है और कच्चे, टूटे मकानो में रहते वडे-बूढे अपग वेशुमार लोग भूख ओर ठंड से मरते हुए और डॉलर के लिए वफादारी चाट की तरह वेचते हुए पठान। यह इस्लाम के नाम पर वनाया गया लादेनी, उमरी स्वर्ग है जहाँ दुनिया के सवसे ज्यादा अपग लोग रहते है। इस्लामी कानून की देन है वे, जहाँ हाथ-पैर काटना जरूरी है। जहाँ औरते बुर्को मे रहती है और कनपटी पर बदूक रखकर सवके सामने मार दी जाती है। हाय! दो हजार एक, तूने किस अफगानिस्तान को बनाया और दिखाया। एक ओर रोटी के पैकिट, दूसरी ओर वम के। रोटी और मौत दोनो आसमान से गिरता है। गरीव, भूखा बच्चा रोटी का पैकेट उठाता है और उड जाता है। यह अमेरिकी बदला है। मानव-अधिकार की ऐसी की तैसी। आजादी एक बीता हुआ शब्द है अमेरिका मे नोम चोम्स्की दुनियाभर को वताते फिरते है। शौकीन बुद्धिजीवी उन्हे सुनने के लिए निकलते है गाडियो मे। अमेरिका पिटा है, इसका अपना क्रातिकारी सुख है।

अमेरिका गिरा तो दुनिया का वाजार गिरा। करोडों लोग सडको पर है मदी का दौर तेज हुआ है। नेताओं का एक तहलके से दूसरे में नोटों की गड्डियां को लेते हुए हसना है और फिर निर्लज्ज सत्ता मे लौटना है। तहलका देखना है सी.एन.एन., बी.वी.सी., अल जजीरा और करोड़पति या 'सास भी कभी बहू थी' देखना है, 'स्वयंवर' करते, देखते मस्त रहना है या 'कमजोर कडी' के घटियापन में उतरना है। वरस के आखिरी दिनों में इफ्तार के कवाव सबके लिए सुस्वाद हो गए है। दलगत भेद मिट गए हैं।

अफवाह वनी बंदर

पूरे साल देश युद्ध की मनोदशा मे रहा है। लोग वदहवासी में रहते हैं। एक अफवाह वदर बनकर लोगों की नीद हराम कर देती है, दिल्ली के लोगों के स्नायु कमजोर होने लगे हैं।

छब्वीस जनवरी, ग्यारह सितंबर और तेरह दिसंबर सिर्फ तीन तारीखें नहीं है, वे इस गए साल के भीतर गुजरे तीन युग हैं। हादसे, आतंक, हिंसा और युद्ध के तीन युग। जो एक साथ जिए गए हैं। हम में से हर आदमी उनमें से गुजर कर थोड़ा अधिक बूढ़ा और थका हुआ है। दो हजार एक का साल आतंक और जनतंत्र के बीच भयानक टकराव का साल रहा है। यही आने वाले दिनों का एजेंडा है।

ओ लादेनो, ओ मुल्ला उमरो, मुशर्रफो! ओ बिन लादेनों को दिन-रात बनाने वाले अमेरिकी राष्ट्रपतियों, अरबी शेखो! वह दिन कैसा होगा जब हर शांतिप्रिय अमरिकी-भारतीय-अरबी के पेट पर बम बँधा होगा और वह तुम्हें लेकर अचानक फट जाएगा। तुम इस साल से आगे इस धरती को कहाँ ले जाओगे—इस्लाम के नाम पर ईसाइयत या फिर हिंदुत्व के नाम पर? रावणी अट्टहास करता है। इस्लाम का नाम लेकर, कसम लेकर, मुँह छिपाता कायर मुल्ला उमर। बगुला भगत बना बिन लादेन। दुनिया का एजेंडा बदलने को आतुर। ग्यारह सितंबर की टॉवरों को गिराने के बाद दस्तरखान पर बैठा लंच लेता हुआ बेतहाशा हँसता हुआ लादेन, कि उसे मालूम था कि कितने मरेंगे। आतंक का बहुराष्ट्रीय कॉरपोरेशन अपना कारोबार इसी तरह करता है, इक्कीसवीं सदी के पहले बरस में उसने अपने विध्वंसी ब्रांड का मार्केट करता एक पागल आदमी इस्लामी संत का बाना धर कर अब आतंक बेचता है, आतंक चखता है, आतंक ओढ़ता है, बिछाता है और उसी के साथ सोता है। इक्कीसवीं सदी के पहले बरस का सबसे बड़ा हीरो है वह, जिसे 'टाइम' अपना वर्ष का आदमी बताती है, वर्ष का है एक सदी में कितने होंगे? सोच कर डर लगता है। एक समझदार मुसलमान कहता है—नहीं यह इस्लाम नहीं। पैगंबर कहीं स्वर्ग में सोचते डरते होंगे कि क्या इस्लाम की उनकी यही कल्पना थी? ओ मेरे कबीर, तुलसी, जायसी, सूर, प्रेमचंद, गाँधी, लोहिया, लेनिन, मार्क्स, मदर टेरेसा, ये दो हजार एक का दिसंबर है।

गुनगुनी दिल्ली की दोपहर है। सस्ती मूँगफली खाते हुए लोग अलसाए धूप खाते हैं कि गोली चलती है। अगर संसद बचती है तो किसी नेता की वजह से नहीं, कम पैसा पाने वाले सुरक्षा बलों की जाबाजी से। एक बार फिर गरीब ही बचाता है जनतंत्र। इस साल भी उसी तरह बचाता रहा वह अपना जनतंत्र, जिस तरह नब्बे के बाद बानवे के बाद बचाता रहा। लौट-फिर कर इस साल भी उसका चेहरा चमक ही जाता है, जो मेरा-आपका चेहरा ही है, जो हर बार बचा रह जाता है, हर काम की चीज को जोड़ लेता है, फटे को सिल लेता है। वही मानव बम के मन को भी मिलेगा एक दिन।

● दैनिक भास्कर, 3 दिसंबर, 2001

बिन लादेन की अंतिम कामना

तीन महीने में हंटिंगटन का सभ्यतामूलक संघर्ष खत्म हो गया। बिन लादेन छिपता घूम रहा है, शहादत का बहाना तलाश रहा है और अमेरिका अपने को दुबारा विश्व का विजेता कह रहा है। भागते हुए बिन लादेन की अंतिम इच्छा है कि वह मरे तो टीवी के सामने 'लाइव' मरे। इसके लिए उसने अल जजीरा को बुक कर लिया है। यदि वह अमेरिकी बमों से नहीं मारा जाता तो हम आने वाले दिनों में उसका वीडियो देखेंगे जिसमें उसके अल कायदा वाले लोग कैमरों के सामने उसके कहे अनुसार मार डालेंगे। वह दुश्मन के हाथ पड़ने और मरने की जगह अपने आप मरना चाहेगा। टीवी पर दिखाना चाहेगा।

यह एक टुच्ची चाहत है जो टीवी में उसके तत्त्ववादी बोध के चलते बनी है। वह समझता है कि टीवी पर मर कर वह लोगों को झकझोर देगा। उसे नहीं मालूम कि टीवी उस तकनीकी हिंसा का समतलीकरण करने वाला अचूक और अदम्य माध्यम है जिसे स्वयं बिन लादेन अपना जरिया बनाता रहा है। वहाँ वह एक क्षणिक दृश्य भर हो सकता है। उसके टीवी विमर्श की त्रासदी यही है कि वह टीवी को इस्लाम का दुश्मन और अमेरिका का षड्यंत्र मानता है। वह उसे नष्ट करना चाहेगा। जिस सजाल को वह जीवन भर नष्ट करना चाहता रहा, उसी में मरने के बाद अमर होने का सपना पाल रहा है। छलना को सच समझना इसे ही कहते हैं। अपने सकल टीवी विमर्श में बिन लादेन किसी टीवी-मोहित आदमी से कम नहीं, जो उससे घृणा करता है ताकि उस पर कब्जा कर सके। लेकिन उस पर सिर्फ बहुराष्ट्रीय ही कब्जा कर सकते हैं। वह नई पूँजी की नई तकनीक है। उत्तर-औद्योगिक पूँजी किसी उत्तर-उपनिवेशवादी विमर्श को अंतिम जलते हुए दृश्य से ज्यादा नहीं होने देती।

बिन लादेन के अर्थ में ही समझें तो मरने के बाद टीवी पर दिखने की कल्पना में उसका एक 'सपना' छिपा है। इस सपने में वह इस्लाम को सारी दुनिया में फैलता हुआ देखना चाहता है। उसे विश्वास है कि टीवी पर उसके मरने को देखकर दुनिया भर के इस्लाम मानने वाले उसे अपने महापुरुष के रूप में, शायद नए पैगंबर के रूप में मान लेंगे और उसकी कुर्बानी से सारी दुनिया में इस्लाम आ जाएगा। बिन

लादेन की यह ख्वाहिश स्वयं इस्लाम के विपरीत जाती है जिसे उसके चाहने वाले नहीं समझते।

बहरहाल, ऐसा सपना उसने अल कायदा और मदरसों में पढ़ने वाले तालिबान को दिया है कि अगर इस्लाम के लिए मरोगे तो खुदा के पास जगह मिलेगी, तुम्हें हूरें मिलेंगी। जरा सोचिए, इस जनम में हूरों को बुर्कों में बंद करने वाले जन्नत में हूरों की कामना रखते हैं। टीवी को अन्य सबके लिए प्रतिबंधित करने वाले अपने लिए चौबीस घंटे वीडियो रिकॉर्डिंग की सुविधा रखते हैं। यह नई पूँजी, नई तकनीक और धर्म के तत्त्ववाद के बीच एक अवसरवादी संवाद है जो बिन लादेन और उसके चेले कायम करते हैं। जो तत्त्ववादी लोग समझते हैं किसी मध्यकालीन सपने को साकार करने के लिए पूँजीवादी नई तकनीक को उपयोग में लाया जा सकता है वे बिन लादेन के इस अनुभव से सबक ले सकते हैं कि नई पूँजी और नई तकनीक किसी भी महान् कहानी को नहीं बनने दे सकती। बिन लादेन की वहशी कहानी इसी तरह दम तोड़ती है और इसी तरह की टुच्ची कामना करती है कि बस वह टीवी पर लाइव मरते हुए आएगा और जगत् बदल जाएगा। किसी मॉडल की कामना इससे ज्यादा व्यावहारिक हो सकती है। सभी तरह के तत्त्ववाद की हवा निकाल देने वाला टीवी किसी के तत्त्ववाद को कायम नहीं होने दे सकता। वह मौत को भी तमाशा बनाता है।

बिन लादेन के अब तक दो टेप जारी हुए हैं। एक, जिसमें वह गुफा के सामने बैठकर दुनिया को संबोधित कर रहा है और जिसे अल जजीरा चैनल शूट कर रहा है। दूसरा वह टेप जो युद्ध में गिरे एक अमेरिकी हेलीकॉप्टर के मलबे के पास लोगों के एक समूह को कुरान की आयतें गाते दिखाता है जहाँ बिन लादेन कुछ देर के लिए आता है और फिर कमरे में किसी अरबी शेख से उसकी बातचीत दिखाई गई है। जिन लोगों ने बिन लादेन के उस वीडियो नंबर दो को देखा है जिसमें वह अरब के एक शेख से बातचीत करता दिखाया गया है जिसके बारे में अमेरिकी विशेषज्ञों की राय है कि यह उन्हें अफगानिस्तान में अपने हमलों के दौरान किसी घर से मिला। इसमें दृश्यों की निरंतरता गजब की है। इसमें अल कायदा और बिन लादेन की टीवी-प्रियता सहज ही नजर आती है। अमेरिकी हेलीकॉप्टर के अवशेषों के पास अल कायदा वाले बैठकर कुरान का पाठ करते होते हैं और फिर कमरे में आकर बिन लादेन उस शेख से बात करता है जो पूरे समय चहकता हुआ बताता रहता है कि टॉवरों को गिराने से अल्लाह की किस तरह सेवा हुई, किस तरह अल्लाह करम करेगा और अल्लाह ही जीतेगा या अल्लाह के बंदे जीतेंगे।

लादेन उस बातचीत में शुरू में कम बोलता नजर आता है और बाद में जब बोलता है तब कुरान की आयतें उद्धृत करता चलता है। यह सब बाकायदे वीडियो हो रहा है। संभव है कि वीडियो में उसकी आवाज उतनी साफ न हो, लेकिन हम

जानते हैं कि अपने पहले टेप में जिसमें गुफा के सामने बैठ कर वह बोला, वैसा ही कुछ-कुछ इस वीडियो टेप में भी उसने कहा है। हम कह सकते हैं कि खराब आवाज के अंशों को छोड़कर यह टेप भी असल है। यहाँ भी बिन लादेन असल ही है। गुफा के बाहर बैठ कर बोलते वक्त उसके हाथों की जुंबिश जैसी है वैसी ही जुंबिश कमरे में बात करते हुए है। सबसे बड़ी बात उस आगन्तुक शेख के चेहरे पर बरसती खुशी है। वह अमेरिका पर हमले से बेहद खुश है और बिन लादेन को बात-बात पर किसी चमचे की तरह बधाई देता है। बिन लादेन बताता है कि किस तरह उसने पहले से ही अंदाजा लगा रखा था कितने लोग मारे जाएँगे, कि उसके लोगों को आखिर तक नहीं मालूम था कि क्या करना है, कि इसमें दुनिया में इस्लाम की ताकत बढ़ी है और लोग इस्लाम की ओर आए हैं। इस पूरे टेप में दो बातें अनुपस्थित हैं। एक ईसाइयत के प्रति बिन लादेन की नफरत, दूसरी फिलस्तीनी लोगों के लिए कथित बिन लादेन की चिंता जो उसके पिछले बयानों में नजर आती है।

हेलीकॉप्टर के पास और फिर कहीं एक कमरे में लिया गया टेप यानी टेप नंबर दो युद्ध के बाद का ही लगता है। तालिबान और अल कायदा वालों का बिना किसी मुकाबले और मुठभेड़ के भागना और शहर-दर-शहर खाली करते जाना किस इस्लाम की कौन-सी 'जीत' है? इस पर बिन लादेन या वह शेख नहीं बोलता। पूरी बातचीत किसी बी ग्रेड की फिल्म के खलनायकों के बीच मसखरीभरी बातचीत का सीन देती है। इस टेप में लादेन का अब तक का कथित 'संत' और 'धार्मिक प्रवचनकार' का चेहरा नष्ट हो जाता है. वह एक अगंभीर व्यक्ति ही उभरता है। शेख अमेरिकी तबाही पर जिस उछाह से बोलता है उससे लगता है कि वह हिस्सा ग्यारह सितंबर के तुरत बाद का है और जो हिस्सा हेलीकॉप्टर के आसपास कुरान की आयतों का पाठ करने वाला है, वह लगता है कि युद्ध शुरू होने के बाद का है। शायद इसीलिए कुछ अरबी स्रोतों और पत्रकारों ने उसे 'बनाया हुआ' कहा है। यों वह असली भी होता तो क्या बिन लादेन मान लेता कि वह अपराधी है?

टेप असली हों या कि उनके कुछ अंश संदिग्ध हों, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बिन लादेन का अल कायदा और उसके लोग तकनीक चतुर हैं और सूचना तंत्र का अपने जेहाद के लिए उपयोग करना जानते हैं। उसके भागने के बारे में जिस तरह की खबरें छपती रही हैं, उनसे कहा जा सकता है कि वह हमेशा अपना प्राइवेट सूचना संचार तंत्र बनाकर चलता है। जिस समय वर्ल्ड ट्रेड सेंटर तोड़े जाने थे और जो समय उसने तय किया था, उसकी खबर लेने के लिए वह रेडियो सुनने गया था, यह बात उसने दूसरे टेप में खुशी से स्वीकार की है। इन दो टेपों के बाद हमें तीसरे टेप का इंतजार है जिसमें वह आत्मध्वंस की लीला करते हुए जेहादी की हीरोइक्स का अंतिम दृश्य देगा जिससे कि वह उम्मीद करता है कि इस्लाम आगे बढ़ेगा।

पिछले तीन महीनो में इस्लाम कितना आगे बढा, यह इस्लाम मानने वालो ने देखा ही। शुरू मे बडे जोशो-खरोश के साथ जो लोग उसकी तस्वीरे लिये नाच रहे थे, अब बिलो मे छिपे बैठे है। उसने यह भी जान लिया कि स्वय इस्लामी देश तक उसे अपना नायक मानने को राजी नही है और वहाँ की जनता भी उसे अपना रक्षक मानने को अब तैयार नही है। कहने की जरूरत नही कि पहले इस्लाम के नाम पर दुनिया को भडका देना और फिर पिटाई के डर से भाग जाने वाले बिन लादेन ने इस्लाम को मानने वाले उन कुछ कट्टर लोगो के मन मे जरूर निराशा पैदा की है जो मानने लगे होगे कि वह इस्लाम की सचमुच सेवा कर रहा है। वह कह रहा है कि वह अपनी जीवन लीला टीवी कैमरे के आगे समाप्त करेगा, जबकि आत्महत्या की इस्लाम मे कोई जगह नही है। पहले वीडियो मे वह कैमरे मे देखकर बात कर रहा है जबकि दूसरे कैसेट मे वह उसका अभिनेता होकर बात कर रहा है। कैमरे का फोकस उस अरबी शेख पर है और बिन लादेन की चेहरे का प्रोफाइल ही दिखाइ देता है। यह बताता है कि वह कैमरे के उपयोग जानता है। जिस तरह से कैमरा लबे फ्रेमो मे लगातार अनकट रहता है, उससे जाहिर होता है कि बिन लादेन अपनी हर हरकत का वीडियो बनाता है। यानी कि वह जो करता है। उसे रिकॉर्ड में सुरक्षित रखना चाहता है। ऐसा वह भविष्य में जाने के लिए करता है।

यहाँ से वह वीडियो और सूचना संचार की लीला और तमाशे में आ जाता है। वह यकीन करता है कि सूचना मे उसके मरने की वीडियो फिल्म लोगो को प्रेरणा देगी। उसका यह यकीन ही उसकी गिरह है जिसमे वह फँसता है। जिसे वह प्रेरक प्रसग समझ बैठा है, मीडिया के लिए वह एक-पाँच सेकंड के दृश्य से ज्यादा कुछ नही है जिसे किसी स्पान्सर ने दिया है। रियलिटी टीवी के इस जमाने में ऐसा कोई भी दृश्य यथार्थ मे होते हुए भी यथार्थ नही लगता है। टीवी का यही छल है कि वह यथार्थ को हमेशा आभासी (वर्चुअल) बनाता है। उसका घोर सच्चा यथार्थ भी स्वय को अपनी कृत्रिमता से अलग नहीं कर पाता। अमेरिका के आलोचक उसके द्वारा जारी वीडियो टेपो को बनावटी कह कर चलते हैं तो अमेरिकी दो सेकड मे बिन लादेन के आत्महत्या के वीडियो को जाली कह कर उडा सकते है। तकनीक और सूचना तंत्र जितनी ताकत एक को देती है उतनी ही दूसरे को भी देती है। बिन लादेन यह भूल रहा है। यही उसकी हार छिपी है कि जिस तकनीक के भरपूर प्रयोग से उसने अमेरिकी टॉवरो को गिराया, वही अमेरिकी तकनीक उसे गुफा तक मे मारने पहुँची। तकनीक की लडाई इस मानी मे तटस्थ नही होती। अततः श्रेष्ठ तकनीक ही जीतती है। अमेरिकी जीत इसी तरह की है। वह बताती है कि आप मध्यकालीन विचार और अति-आधुनिक तकनीक को मिलाकर कोई स्वर्ग नहीं बना सकते। आप ऐसा करेगे तो आप उसके दयनीय शिकार हो जाएँगे।

बिन लादेन की अतिम इच्छा मे उसकी हार और निराशा छिपी है। यह आतकवाद

की सबसे बड़ी सीमा है कि उसका अंतिम दृश्य हमेशा ही निराशाभरा होता है। यह बताता है कि आतंकवाद के पास निर्माणकारी योजना की जगह हमेशा विध्वंसकारी योजना होती है। तमाशा युग में आ चुकी इस दुनिया में उसकी आत्महत्या किसी सीरियल के किसी एक छोटे-से दृश्य से ज्यादा नहीं है। लगातार टीवी पर अत्यधिक कवरेज लेने वाले बिन लादेन को यह बात यदि समझ नहीं आ रही तो इसीलिए कि वह समझता है कि उसका तत्त्ववाद तकनीक के साथ मनमाफिक संवाद कर सकता है। वह नहीं जानता कि तकनीक में डुबकी मारने के बाद उसके तत्त्ववाद का तत्त्व हास्यास्पद ही बन सकता है। इस्लाम को दुनिया में फैलाने का ऐलान करने वाला जब भागकर आत्महत्या करता है तो वह एक बर्बर हास्य की सृष्टि ही करता है है। जिन लोगों को अपना इस्लामी ग्लोबल सपना बेचकर उसने बरबाद किया, मरवा दिया वे उसके सीन को देखने नहीं बचे हैं लेकिन जो बचे हैं वे तो उसके आतंकवादी कॉरपोरेशन के धंधे से सबक ले सकते हैं कि आतंकवाद किसी भी तरह की रचनात्मकता से रहित एक दयनीय सीन भर है।

● जनसत्ता, 19 दिसंबर, 2001

कैमरा और आतंकवाद

तेरह दिसंबर उस तरह ग्यारह सितंबर नहीं है जिस तरह से भारत अमेरिका नहीं है। तो भी जिस तरह ग्यारह सितंबर की घटनाओं ने टीवी को एक नई भूमिका दी उसी तरह तेरह दिसंबर की घटना ने अपने यहाँ भी टीवी प्रसारण और आतंकवाद के संबंध को 'रिडिफाइन' किया है। आतंकवाद टीवी और वीडियो युग का एक्शन है। सीमित और नकारात्मक अर्थ में वह एक भीषण सांस्कृतिक, राजनीतिक कार्रवाई की तरह है। वह क्षणिक अनुष्ठान की तरह है। चरम क्षणों में नितांत लोमहर्षक और जलता हुआ। उसके नायक को उसके एक्शन के बारे में ही नहीं उसके लक्षित प्रभाव के बारे में मालूम रहता है। वे मीडिया का खेल ज्यादा जानते होते हैं। हर आतंकवादी जानता होता है कि उसके एक्शन से मीडिया निर्भर इस युग में कितना कवरेज मिलेगा और उसका क्या असर होगा। यह प्रभाव ही उसका अभीष्ट होता है। वह अपने दृश्य ही नहीं अपने प्रभाव को भी तय करता है। वह अपना अभिनेता और अपना निर्देशक स्वयं होता है। किसी फिल्मी दृश्य की तरह उसमें रिटेक की गुंजाइश नहीं होती, न बाद में संपादन की। वह टीवी युग में लाइव प्रसारण की अवांछित अंतर्वस्तु की तरह है जो चैनलों को दिखाने के लिए मजबूर करता है। उसका 'रीयल' होना उसका आकर्षण है। 'रीयलिटी टीवी' के जमाने में वही असली रीयल दृश्य देता है। वह पाँच-सात मिनट के लिए खबर में अमर होना चाहता है। यही उसकी ताकत है, यही उसकी सीमा। वह अपने एक्शन सीनों में जिंदा रहता है। उसका गणित होता है, जितना बड़ा टारगेट होगा उतना ही बड़ा एक्शन होगा और उसका उतना ही बड़ा प्रभाव होगा।

आतंकवाद से लड़ने के लिए मीडिया के प्रति आतंकवादी दृष्टिकोण का विश्लेषण किया जाना चाहिए। सोचना चाहिए आतंकवाद किस तरह मीडिया की सूचना प्रक्रिया में अपना जीवन बनाता है। असल पेंच यहाँ है कि दहशतगर्द अपने एक्शन के प्रभाव को पहले देख सकता है। वह कैमरों को अचानक अपनी ओर मोड़ता है और सीन पर छा जाता है। आप उसकी पश्चात्-पटकथा ही लिख सकते हैं, पूर्व-पटकथा तो वह अपने साथ ले जाता है। इसीलिए अपने प्रभाव को कई बार

टीवी चैनलो और उनके प्रशासको से भी पहले देख लेता है। ग्यारह सितबर के बारे मे बिन लादेन ने कहा ही है कि उसने समूचे एक्शन और उसके प्रभाव की कल्पना पहले से की हुई थी। प्रसारण कला के सिद्धातो के लिए यह एक नए प्रकार की समस्या है। उसे प्रसारित किए बिना बनता नही और प्रसारित करते है तो उसके प्रभाव को नियत्रित करने मे कठिनाई आती है। इसलिए आतकी एक्शन की रिपोटिंग असाधारण एक्शन की रिपोर्टिंग है। साधारण प्रेस कॉन्फ्रेंस या नेताओ का 'पीआर' वह नही है।

यह जोखिम का प्रसारण है। इस एक्शन में कोई गोली आपको भी ठिकाने लगा सकती है। फिर भी सब कुछ पलक झपकते करना होता है। टीवी की रिपोर्टिंग केमरा निर्भर ज्यादा होने के कारण सारा दारोमदार कैमरामैन पर होता है। उसका एगिल ही खबर की पटकथा तय किया करता है। ऐसे एक्शन के सीधे प्रसारण म प्रत्युत्पन्नमति और मजबूत नर्वस सिस्टम की दरकार होती है। आतकवाद ने अपने एक्शन और उसके प्रसारणो से इतना अनुभव दे दिया है कि आप आतकवाद क एक्शन के प्रसारण की प्रक्रियाओ का अध्ययन करके अधिक दक्ष हो सकते है। पत्रकारो को आतकवादी कार्रवाई की अचानकता और अनिवार्यता को समझ कर उनके प्रसारण और आत्मरक्षा मे सही सबध स्थापित करना होता है। गलत कोण पर आते ही आप खत्म हो सकते हैं। युद्धो की रिपोर्टिंग करने वाले ज्यादातर पत्रकार गलत जगह पर खडे होने के कारण मारे जाते हैं। आतकवाद छापामार कार्रवाई की तरह आता है। आपको उनके अनुकूल होना होता है। फोटो और वीडियो जर्नलिज्म की सबसे बडी दिक्कत यही है।

एशिया न्यूज के विक्रम की स्थिति को समझे जो आतकवादी की गोली का निशाना बने या क्रॉसफायर मे आ गए। अन्यो की तरह वे तैयार नहीं थे। उधर स्टार न्यूज के अनमित्र चकलादार थे जो अपने कैमरे को ट्राइपॉड से उतार कर पडो क पीछे कधो पर लिये थे और दो आतकवादी उनके फोकस मे दाकायदे आ रहे थे और वे गोली उसी तरफ चला रहे थे। एक गोली उनके कैमरे के खोल को भेदती हुइ गई थी। आज तक के कैमरामेन को अपना ऑन कैमरा लेकर भागना पडा।

ऐसे में सब कुछ संयोग पर निर्भर होता है। श्रीलंका की चद्रिका कुमारतुग के लिए किया गया मानव बम विस्फोट उनके कितने पास था कि किरचें उड़ती नजर आई थीं और स्टार की माया मीरचंदानी ऐन उनके पास खड़ी थी, हादसे को देख उनकी आवाज बाद तक काँपती रही थी। लेकिन अनमित्र ने जितना बताया अनुत्तेजित होकर बताया। कश्मीर मे पिछले वर्ष जब एक कार बम उडाया गया उस वक्त जी न्यूज के कैमरामेन ने अपना कैमरा चलाए रखा। आतंकी अब कैमरे के लिए ही एक्शन करते दिखते है। यह ध्यान देने की बात है।

ससद के गेट पर किए गए आतंकवादी एक्शन भी यही सोचकर प्लान किया

गया होगा कि टारगेट बड़ा है और कैमरे मौजूद होंगे ही। अच्छा कवरेज मिलेगा। तगड़ा प्रभाव पड़ेगा। लेकिन वैसा प्रभाव नहीं हुआ जैसा कि सोचा गया होगा। यहीं भारतीय सुरक्षाकर्मियों की जीदारी नजर आती है कि गैर-तैयार और लगभग निहत्थे उन्होंने मुकाबला किया और शहीद हुए। उन्हें जो इनाम दिया जाए कम होगा। सब जानते हैं कि अगर एक भी आतंकवादी अंदर घुस गया होता तो क्या नजारा होता?

उक्त प्रकरण से तीन नतीजे निकलते हैं। आतंकवाद अब मानव बम के दौर में पहुँचकर ऐसी जगह ज्यादा एक्शन करता है जहाँ उसे लाइव-कैमरों का लाभ मिल सकता है। तुम भी मीटिंग से बाहर निकल रही थी। बाहर कैमरे ही कैमरे थे। आतंकवाद ने कवरेज के लिए वही क्षण चुना जब सर्वाधिक कैमरे थे। तभी एक्शन किया गया। पिछले दिनों कश्मीर की असेम्बली को भी इसी तरह चुना गया ताकि कैमरे आतंक को उसके पूरे विस्तार से दिखा सकें। इसी तरह संसद को चुना गया ताकि मीडिया का सीधा लाभ मिले। बड़ी खबर बने। निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहाँ भी ज्यादा कैमरे हैं और जहाँ वी.आई.पी गतिविधि है वह समय और स्थान आतंकवादी कार्रवाई के लिए ज्यादा चुना जाता है। सुरक्षा एजेंसियों को इस तरफ ध्यान जरूर देना चाहिए।

ऐसे मौकों पर मौजूद रहे कैमरामैनों-रिपोर्टरों के अनुभवों को विस्तार से सुनना-समझना चाहिए, वे व्यर्थ उत्तेजित न हों—ऐसी ट्रेनिंग होनी चाहिए। समझना चाहिए कि आतंकवाद किसी भी सभा को अपनी कार्रवाई में बदलने लगा है इसलिए रिपोर्टरों और कैमरामैनों पर स्ट्रेस ज्यादा रहता है। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि वे संयम और संतुलन रख सकें ताकि दहशतगर्द अपने इच्छित प्रभाव को प्राप्त न कर सकें। रिपोर्टर की उत्तेजना में काँपती हुई आवाज उसका डरा चेहरा आतंकवाद के लिए मुफ्त का माइलेज है। अपने चैनलों ने ऐसा ज्यादा नहीं होने दिया। चिंता सहित प्रसारण जरूर किया लेकिन बहुत भावुक नहीं हुआ गया। यह ठीक था। समझना होगा कि आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई में मीडिया अपने संतुलन को बनाए रखकर ही सहयोग कर सकता है।

तीसरा नतीजा यह है कि ऐसे मौकों पर प्रशासन से एक विवेकपूर्ण तालमेल होना चाहिए और अनुभवों को बाँटना चाहिए। आतंकवाद से लड़ने उसके इच्छित प्रभाव को व्यर्थ करने में किस तरह का प्रसारण मददगार हो सकता है इस बारे में विचार करना चाहिए जो आतंकवाद को अफवाह का लाभ भी न दे और अधिक लीलामय भी न बनने दे। सर्वोपरि चैनलों को अपने कर्मियों को जोखिम बीमा का लाभ जरूर देना चाहिए। कंजूस चैनल नहीं सोचेंगे लेकिन सरकार एवं बीमा कंपनियों को जरूर सोचना चाहिए।

• **जनसत्ता, 16 दिसंबर, 2001**

तेरह दिसंबर के बाद

युद्ध का माहौल गरम है। हम कारगिल से भी आगे, पाकिस्तान से पाँचवें युद्ध की तैयारी देख रहे हैं। वह कभी भी छिड़ सकता है। रेलवे स्टेशनों पर सिपाहियों को तिलक देती औरतें हैं। भरती दफ्तरों में हजारों गरीब युवाओं की कतारें लग गई है। वे देश पर कुर्बान होने को मचल रहे हैं। तीन सौ की भर्ती के लिए पंद्रह हजार की भीड जुट रही है। यह कारगिल के दिनों की याद दिलाता है।

तेरह दिसबर के बार ऐलानिया 'आर-पार की लडाई' के उद्घोष के साथ ऐसा होना स्वाभाविक ही है। एक अरब का राष्ट्र पॉच आतकवादी मानव-बमो समेत अनेक तमाम समर्थको को यह सकेत देना जरूरी समझता है कि यह जनतत्र और राष्ट्र एक अरब मेहननकश जनता का है और 'अगर वह थूक भी देगी तो दुश्मन डूब जाएगा।' ससद, सत्तापक्ष और विपक्ष ने मिलकर ऐतिहासिक एकजुटता दिखाई है। यही नहीं, दुनिया भर के लोगो को बताने के लिए विपक्षी के नेताओं ने अपनी सेवाएँ देने की हॉ की है। यह एक बार फिर राष्ट्र की सचमुच की एकजुटता की मिसाल है जो देश की अखडता और एकजुटता के सवाल पर हमेशा इसी तरह समक्ष होती रही है। यह अपने जनतत्र के टिकाऊपन की मिसाल भी है। वह उसकी आधुनिक राष्ट्र-राज्य और राजनीति की वयस्कता की मिसाल भी है। जो सासद कल तक फर्नाडिस का ताबूत बना देने के लिए कटिबद्ध दिखे वे ऐसे विवादास्पद मुद्दो को पीछे करने लगे क्योकि तेरह दिसबर के बाद सबसे बड़ा मुद्दा राष्ट्र का और देश का बन गया और इन दिनो मे यह संसदीय अवसरवाद नही है।

चौदह दिसंबर की सुबह जब ससद मिली तो मानो सारे विश्व और आतकवादियों को यह बताने के लिए ही मिली थी कि यह जनतंत्र ऐसी हरकतो से डिगने वाला नही है और उसने यह भी संदेश दिया कि जनतत्र ही आतंकवाद का तोड है। इस गभीर प्रतिक्रिया के बाद भारत के नेतृत्व का एक हिस्सा फिसला। अचानक वह कुछ दिन के लिए खुद को छोटे-छोटे बुश और रम्सफेल्ड की तरह समझने लगा और उन्हीं की भाषा में बोलने लगा। उसने युद्ध से भी ज्यादा युद्धोन्माद पैदा किया। इसीलिए तेरह दिसंबर के बाद हमारा देश बिना युद्ध के एक विचित्र किस्म के गरम

युद्ध मे सलग्न है जहाँ गोलियो से ज्यादा गाल बज रहे है। खुद को अमेरिकी दारोगाई भाषा मे परिभाषित किया जा रहा है। अमेरिकी रोग है जो कि भाजपा को पहले से लगा है और अब तो पूरा मौका है।

ग्यारह सितबर के बाद भारत का नेतृत्व दो स्तरो पर प्रतिक्रिया देता रहा। एक प्रतिक्रिया इस तरह की दी गई कि देखा, हम तो पद्रह साल से इसे झेल रहे थे, तब अमेरिका नही मानता था। अमेरिका पर जब मार पडी तब जागा। दूसरी प्रतिक्रिया उस सतोष में देखी जा सकती थी जिसमे यह मानकर चला जाता रहा कि अब अमेरिका अपने आप पाकिस्तान का सग छोड़कर हमारे साथ खड़ा हो जाएगा और हमारी समस्याएं अपने आप हल हो जाएँगी। अमेरिकी ब्लैकलिस्ट में आतकवादी सगठनो को डलवाने की चीख-पुकार याद करे तो अब समझ मे आ सकता है कि अमेरिका को सब परेशानियो का हल मानने वाला भाव आतकवाद से हमारी लडाई को अमेरिका की लडाई बनाने के खयाल मे खुश रहा। आतकवाद को लेकर यह अमेरिका की मुँहदेखू नीति रही। इस पराश्रयी भाव मे आतकवाद के सतत खतरे को महसूस करते हुए भी नई स्थायी रणनीति नही बनाई गई और शेष काम मीडिया के उत्साही देशभक्तो के हाथो छोड दिया गया। देखते-देखते माहौल इतना गरम कर दिया गया कि आतकवाद के खिलाफ लडाई 'सीमा पार युद्ध' की तैयारी मे बदल गई। हर रोज बातो-बातो में लाइन ऑफ कट्रोल क्रॉस की जाने लगी। कई वीर तो कहने लगे कि अमेरिका अफ्गानिस्तान पर हमला कर सकता है तो हम पाकिस्तान पर चढाई क्यो नही कर सकते? आतंकवाद के खिलाफ राष्ट्रवाद का भाव अधराष्ट्रवादी आतकवाद बराबर इस्लाम बराबर पाकिस्तान होने लगा। जब ससद की ऐन चौखट पर आतकवाद ने अपना कुख्यात एक्शन किया तो हमारा नेतृत्व छोटे-छोटे बुश और रम्सफेल्ड की भाषा मे बोलने लगा।

यहाँ यह भुला दिया गया कि इस्लाम के नाम पर चलने वाले मौजूदा आतकवाद का अल कायदावादी, तालिबानी, बिन लादेनी संस्करण अफगानिस्तान मे कम्युनिज्म के विरोध मे अमेरिका द्वारा पाकिस्तानी जमीन पर तैयार किया गया था। वही अमेरिका पर चोट कर बैठा। और आतकवाद अब एक ग्लोबल प्रक्रिया है। अपने ग्लोबल सगठनात्मक स्वरूप मे उसे फिर भी शुद्ध लोकल या सिर्फ अमेरिकी तरीके से निपटा नही जा सकता। बहुत दूर तक जनतन्त्र विरोधी और हिसक राजनीतिक प्रक्रिया के रूप मे लगातार बने रहने वाले आतकवाद से निपटने के लिए जरूरी विचार-विमर्श को अमेरिका के भरोसे छोड दिया गया। और बहुत दूर तक अब भी छूटा हुआ है।

अमेरिका की नकल में हमारी भाषा कुछ जल्द ही हास्यास्पद बनी। सारा देश मीडिया पर लाइन ऑफ कट्रोल पार करने लगा। यह युद्ध का, युद्धोन्माद का, देश प्रेम की परीक्षा-प्रतियोगिता का पूरे पखवाड़े का कोर्स रहा जिसके उतार के दिनो

मे देशभक्ति मे फडकता हुआ आदमी एक-दूसरे से सवाल करता नजर आता है कि क्या अब भी युद्ध नहीं होगा और अगर युद्ध नही होगा तो फिर क्या होगा।

आतकवाद के खिलाफ लडाई का कुल हासिल अगर एक पंद्रह दिवसीय युद्धोन्माद भर है या कि देशप्रेम की स्पर्धा और उसकी चीत्कार-फूत्कारभरी बयानबाजी ही है तो एक बार फिर साबित होता है कि आतंकवाद के खिलाफ लड़ने की हमारी यह अदा बेहद तदर्थ और गाल बजाऊ-तालठोंकू किस्म की है। इससे समस्या तो वही की वहीं रहती है, सिर्फ युद्धोन्माद का 'सरप्लस' बनता है। की अधराष्ट्रवादी कढाही मे जाने-अनजाने प्रति-आतकवाद को ही पकाया जाता है। आप अमेरिका की नकल करके अमेरिका नही बन सकते।

यों तो 'अमेरिका भाव' भारत के हर चिर-प्रवासी मन में रहता है। तेरह दिसबर के बाद वह और ज्यादा मुखर नजर आया। अनेक लोगो के लिए अमेरिका का ग्यारह सितबर और अपना तेरह दिसबर एक जैसा नजर आया जबकि एकाध समानता को छोड दोनो घटनाओं मे बहुत फर्क था और है। समानता को समझने के साथ फर्क को भी समझना चाहिए। दोनो काले दिवसो मे सिर्फ इतनी समानता है कि दोनों दिन इतिहास मे आतकवादी हमले के गहरे निशान छोडने वाले दिन हैं। इसके आगे प्रतीकात्मक समानता नहीं जाती। अमेरिका के टॉवरों को ध्वस्त करके अल कायदा आदि जिस 'बिग इवेंट' की तलाश मे रहे, वैसी बिग इवेट तेरह दिसबर विश्व के लिए नही बना। कारण कि भारत अमेरिका न था, न हो सकता है। एक कारण आतकवाद के सस्करणो के साथ हमारा नवाड भी रहा जो अब पंद्रह-सत्रह साल पुराना हो चला है। कश्मीर में हमले दर हमले करते रहने वाले आतंकवादी पिछले पंद्रह-सत्रह साल में इस देश की जनता को इस अर्थ मे अपना 'अभ्यस्त' बना चुके है। वैसा अभ्यस्त अमेरिका कभी नहीं था। उसका अहंकार जितना विस्फारित रहा उतना अहंकार तीसरी दुनिया के विकासशील देश अपने भारत का नहीं हो सकता भारत दुनिया का दारोगा कभी नहीं रहा। न भारत ने पैसा लगाकर पाकिस्तान मे मदरसे खुलवाए और न अलकायदा की नींव डलवाई, न बिन लादेन की निर्माण कंपनी में किसी भारतीय बुश ने पैसे लगाए या उसमे हिस्सेदार रहा। एक गरीब देश की तरह वह अमेरिका-समर्थित पाकिस्तानी मदरसों के आतकवाद का सबसे बुरा शिकार जरूर रहा।

ऐसे मे आतकवाद का विरोध अमेरिका की भाषा मे नही हो सकता। अमेरिकी भाषा की एक बानगी उसके मीडिया मे उन्हीं दिनों सामने आई जिन दिनो वह तालिबान के खिलाफ तैयारियाँ कर रहा था और कूटनीतिक मुहिम चला रहा था और जिस की नकल सीन बाई सीन हमारा देश कर रहा है। सी.एन.एन के एक कार्यक्रम मे एक बार बुनियादी सवाल यह उठाया गया कि लोग अमेरिका से घृणा क्यों करते है? सारी दुनिया की राजधानियों में घूमकर पता नही किन-किन से यह जवाब बनाया

गया कि लोग अमेरिका से घृणा करते है उसकी अपार संपन्नता, सपदा और वैभव के कारण। उसकी ताकत के कारण। यह बहस बाद मे हर कहीं उठी और हर कही से एक ही जवाब आया कि दुनिया अगर अमेरिका से घृणा करती है तो उसकी संपन्नता और वैभव के कारण। यह एक विशेष पूँजीवादी भाषा थी जो दुनिया को अपनी लूट के बाद इस काबिल नही मानती थी कि इससे कोई घृणा भी करे। यही नहीं, घृणा करने वाले को वह अशक्त-अयोग्य मानती थी। जाहिर है कि ऐसी हर चर्चा ने घृणा करने वाले का दिल जीतने की कोई कोशिश नहीं की। उसने हर बार कमजोर को 'कमजोर कडी कौन' की तरह और हीन ही सिद्ध किया और इस तरह हीन की घृणा के आतकवादी विमर्श को आगे के लिए रिजर्व कर दिया। यदि आतंकवाद घृणा का विमर्श था तो उसे किस तरह से बदला जाए, यह उसकी चिता नहीं थी। तालिबानी ठिकानो पर बम तो मारे जा सकते थे, घृणा को कौन-सा बम कम कर सका है? यह नही सोचा गया।

आतकवाद के खिलाफ समूची अमेरिकी मुहिम की सबसे बड़ी कमजोरी यही रही कि उसने उसे पिछड गए मनुष्य के मानसिक युद्ध की जगह न लड़कर जमीनी युद्ध की तरह लडा और स्वयं को विजयी समझा। इस्लाम के उदार अनुयायियो और उसके कट्टरतावादियो के बीच एक भेद करने की क्षीण-सी कोशिश भर की गई। फिर बम मारने शुरू कर दिए। अपने यहॉ भी उदारतावाद की जय बोलने की जगह युद्ध की जय बोलने की बात ज्यादा होती है।

जिन लोगों के दिमाग मे यह बैठा दिया गया है कि वे इस्लाम के लिए कुर्बानी देकर उसको विश्व विजय मे सहायक होगे और खुदा उन्हे गले लगाएगा वे अनपढ-गॅवार लोग नहीं है। वे इजीनियर-डॉक्टर-कम्प्यूटर वाले लोग है जो अपने इहलौकिक जीवन के मुकाबले किसी जन्नत को सच समझते है। तकनीकी युग मे आतकवाद ने इस्लाम की यह जो व्याख्या की है और जिस तरह उसे चलाया है वह किसी जादुई सपन की तरह अनेक लोगो के दिमाग पर राज करने लगी है। यह पोपवाद जैसा है जो यूरोप में कभी स्वर्ग के टिकट बेचा करता था, जिसे जनता ने ही ठिकाने लगाया था। आतकवाद से लड़ाई इस जाहिल 'जन्नतवाद' से निपटे बिना पूरी नही होती।

यदि आतकवाद, खास कर इस्लाम के नाम पर चलने वाले आतंकवाद की जड उसके पिछडे सस्करण को बनाए रखने की राजनीति मे निहित है तो इस्लाम मे जरूरी सुधारो का एजेडा असल अखाडा बनता है। यह एक विराट धार्मिक-सास्कृतिक-राजनीतिक-बौद्धिक विमर्श का रास्ता खोलता है। इस्लाम का सहारा लेकर चलने वाला आतकवाद बताता है कि इस्लाम जगत् मे किसी नए सुधार आदोलन की गुजाइश बन रही है जिसे आतकवाद अपने ढंग से खत्म कर रहा है। तुर्की के लबे जेहादो के बाद वही सबसे पहले इस्लाम का आधुनिक, उदार और टिकाऊ सस्करण बना। रमजान के दिनो मे बुश एक दिन रोजा इफ्तार की भारतीय तरीके की दावत देकर

इस्लाम से संवाद करने की कोशिश करते है और अपने यहाँ राजा-इफ्तार का ऑचसिलारा स्पर्धाई कबाबी पार्टी में बदल दिया जाता है। इस्लाम से यह संवाद एकदम नाकाफी है।

युद्ध युद्ध की जगह जरूरी होगा, लेकिन दिमागी युद्ध का यह विकल्प नहीं है। धर्म के तत्त्ववाद और उससे पैदा होने वाले दुर्दमनीय सपनों को बमों से नहीं सुधारवाद और तर्कवाद मे ही पराजित किया जा सकता है।

लेकिन जो लोग इन दिनों धार्मिक भावनाओं को तर्क और इतिहास से ऊपर मानते हों वे इस आतंकवाद से कैसे लड सकेंगे, यह सोचने की बात है। तेरह दिसंबर के बाद का सबसे बडा सबक यही है कि आतंकवाद से लडाई को सिर्फ सरकार पर नही छोडा जा सकता। सामरिक विकल्पों के अलावा तमाम तरह के तत्त्ववाद के विरुद्ध तक तर्कवादी जनतांत्रिक मुहिम चाहिए। उससे सुसंगत जनतांत्रिक आंदोलन ही सचमुच निपट सकता है, प्रति-आतंकवाद नहीं निपट सकता।

● जनसत्ता, 3 जनवरी, 2002

वर्चुअल युद्ध

ये दिन टीवी-युद्ध के दिन है। अब टीवी-युद्ध को दिखाने का काम नहीं करता। वह उसे बनाता-बिगाडता भी है। वह अब 'आउट पुट' का माध्यम नही रह गया है कि कहीं युद्ध हो रहा है और वह उसे दिखा भर रहा है। अब वह हर युद्ध मे न केवल शामिल रहता है बल्कि कई बार उसके नतीजो को भी तय करता है। जिस दिन अमेरिकी बमवारों ने अफगानिस्तान पर बम मारे और अल जजीरा ने उसके फुटेज दिखाए उसी दिन तय हो गया था कि अल कायदा और तालिबानी अमेरिका का मुकाबला एक दिन भी नही कर सकते। इसी तरह तेरह दिसंबर के दिन के बाद भारतीय चैनलो ने जिस तरह से आतकवाद पर हमला बोला उससे पाक रक्षात्मक हो उठा। टीवी-युद्ध जरा-सी देर मे आग लगा और बुझा सकता है। आम लोग ही नहीं राजनेता और सेनानायक तक अब टीवी देखकर अपनी लाइन तय करते हैं। लेकिन टीवी से लडना जमीन पर लडने से जरा नाजुक काम है। वह एक शब्द, एक मुहावरे, चेहरे की जरा-सी शिकन, एक उँगली के दिखाने और जरा-सी दृश्यावली से लडा जाता है। वह इतना तुरता होता है कि तुरत लडना होता है। आतकवादी हमले को प्रतीकात्मक चुनौती की तरह लेकर चौदह दिसंबर को भारतीय ससद एक सुर से आतकवाद से लडने का सकल्प प्रसारित नही करती तो आज दृश्य दूसरा ही होता।

टीवी मुहिमों से विदेश नीति से लेकर रक्षा नीति के मुहावरे तक बदल रहे है यह 'बैक टू बैक' बहस यानी युद्ध का जमाना है। यह स्टूडियोज की लडाई है। शब्द तोप के गोले से ज्यादा मारते हैं। दो शत्रु देश तक टीवी पर शुद्ध लडते हुए एक सचमुच के युद्ध को टाल सकते है। इसे हम 'आभासी युद्ध' या 'वर्चुअल युद्ध' कह सकते हैं। इसका एक बड़ा उदाहरण सी एन एन. पर अमेरिकी युद्ध की तैयारी है तो दूसरी ओर भारतीय चैनलो पर भारतीय राजनेताओं द्वारा पाकिस्तान समर्थित आतकवाद पर हमला बोलना भी एक बड़ा और अध्ययन योग्य उदाहरण कहा जा सकता है।

भारतीय चैनलो पर पाक की पिटाई इतनी जबर्दस्त रही है कि लगा कि पहली बार पाक को अपने मुकाबले का मिला है। पाक टीवी पर ऐसी भारत पिटाई रोज

का दृश्य बना रहा है जो पाक टीवी देखते हैं वे जानते हैं कि पाक टीवी कम भारत के प्रति घृणा का भोंपू ज्यादा रहता है। उसकी तुलना में भारत के सरकारी चैनल तक पाक के खिलाफ घृणा का नंगा प्रचार नहीं करते दिखे। 'जैसे को तैसा' वाले अंदाज में इस बार की पाक-पिटाई का असर हुआ लगता है। पहली बार पाक टीवी रक्षात्मक हुआ है उसे जवाबदेही करनी पड़ गई है। इसीलिए उसे भारतीय चैनलों को सँभालने के लिए कुछ कदम उठाने पड़े हैं। तेरह दिसंबर के बाद भारतीय मीडिया अपने कुछ अतिरेकों के बावजूद आतंकवाद को एक बड़ा मुद्दा बना पाया है। यह सब कुछ सरकारी ब्रीफिंग से नहीं हुआ। यह अलग-अलग चैनलों में सक्रिय राष्ट्रवादी सोच और आत्मरक्षा के भाव से हुआ लगता है। संकट के वक्त हर चैनल राष्ट्रवादी हो जाता है। अमेरिकी चैनल का ऐसा व्यवहार कर चुके हैं। इसका असर स्टार न्यूज पर पड़ा है कि वह जिन्हें 'चरमपंथी' कहता रहा उन्हें आतंकवादी भी कहने लगा है। इसी टीवी-युद्ध का एक नया चरण ही है कि पाकिस्तान के प्रशासकों ने भारतीय टीवी चैनल प्रतिबंधित कर दिए हैं। यह पाकिस्तान का रक्षात्मक कदम है। तेरह दिसंबर के बाद भारत के आतंकवाद विरोधी अभियान को हमारे चैनलों ने इस तरह प्रसारित किया है कि वह पाकिस्तानी प्रशासन को पसंद नहीं आया है। उसे लगता है कि उसकी जनता भारत के पक्ष को अब बेहतर जान सकती है या कि उसके अपने पक्ष के प्रति शंकालु हो सकती है। इसीलिए उसने अपने यहाँ भारतीय चैनलों का बंद करने के आदेश दिए हैं।

प्रतिक्रिया में भारत ने पाकिस्तानी टीवी चैनल को अभी प्रतिबंधित नहीं किया है। सूचना प्रसारण मंत्रालय का मानना है कि पहले उसके कार्यक्रमों को देख-परख लिया जाए फिर कोई राय बनाई जाए। इसलिए तुरंत बंद करने की जगह पाक टीवी का लगातार मानीटर करने का ऐलान किया है। आल इंडिया रेडियो के अंतर्गत सरकार की एक सेंटल मानीटरिंग सर्विस है जहाँ दुनिया के हर रेडियो एवं टीवी चैनल की मानीटरिंग का काम लगातार होता रहता है। यह सर्विस अब पाक टीवी पर आने वाले हर खबर प्रसारण और हर सामयिक चर्चा प्रसारण को रिकॉर्ड करेगी और उसके टेप हर दिन सूचना प्रसारण मंत्रालय को देगी। कश्मीर से ताल्लुक रखने वाले हर कार्यक्रम को पूरा रिकॉर्ड किया जाएगा। भारत का केबल टेलीविजन नेटवर्क्स रेगुलेशन एक्ट प्रतिबंध के आदेश की व्यवस्था करता है। कोई भी राज्य या केंद्र सरकार अपने आदेश से इस कानून के हवाले से इच्छित चैनल को बंद करा सकती है। अगर कोई चैनल समाज में दुश्मनी की भावना फैलाता है कोई एकता-अखंडता को चुनौती देता है तो इस कानून को अमल में लाया जा सकता है।

पाक टीवी दिल्ली में और हर कहीं एक खास फ्रीक्वेंसी पर देखा जा सकता है। अनेक केबल वाले उसे नहीं दिखाते। जितना देखा है उसके आधार पर आसानी से कहा जा सकता है कि पाक टीवी तकनीक और प्रस्तुति की नजर से हर हाल

म भारतीय टीवी चैनलो के मुकाबले कोई दो दशक पीछे है। उसके स्टूडियो डिजाइन से लेकर उसके न्यूज रीडिग के तरीके विजुअल्स का उसका ट्रीटमेट और उसके चरचा कार्यक्रम बेहद पुराने समय मे चलते है। इस्लामी राष्ट्र होने के नाते उसमे कुरान और हदीस की इबारते छाई रहती है। उसकी खबरो मे कश्मीर एक बडा विषय रहता है। कश्मीर मे भारत कितने अत्याचार कर रहा है यह बात तब भी दिखाई बताई जाती है जब कश्मीर की असेंबली में आतंकवादी बम मारकर भीतर घुस जाते है या सामान्य जन मारे जाते है। वे उसे आजादी की लडाई कहते है, जिहाद कहते है। वहाँ लश्कर और जैश के हमदर्द नेताओ को बोलते बताते सुना जा सकता है। चाहे साढ़े सात बजे सुबह की खबर हो चाहे रात के साढे नौ बजे के प्रमुख समय की खबर हो उन खबरो का सबसे बड़ा खलनायक भारत ही नजर आता है। भारत के प्रति अंधी घृणा यहॉ तक रहती है कि भारत का अपना पक्ष क्या हो सकता है उसे कभी नहीं दिया जाता। जब भारत सरकार ने अपने राजदूत को वापस बुलाया तो एक तर्क यह भी था कि भारत के राजदूत को उनके जनक्षेत्र में और मीडियो मे जितनी जगह मिलनी चाहिए उतनी जगह नही मिलती। वे उनके सचार माध्यमो मे नही आ पाते जबकि भारतीय माध्यमो मे पाकिस्तान के हाई कमिश्नर अक्सर बुलाए जाते रहते है। निजी चैनल पाक प्रवक्ताओ तक को पर्याप्त जगह देते रहे है। यह अपने चैनलो का अपना जनतत्र और ताकत का सबूत है जो पाकिस्तानी चनलों पर भारी पडता है। कट्टर हिन्दुत्ववादी इस टीवी-मर्म को नही समझते इसीलिए पाक टीवी पर प्रतिबध की मॉग करते है।

जब मुशर्रफ आगरा वार्ता के लिए आए और भारतीय चैनलो ने बडे खुले अदाज मे निडर भाव से पाक पत्रकारों और भारतीय पत्रकारों के बीच लगातार चर्चाएँ दिखाई तब मे पाक जनता को उस भारतीय 'खुलेपन' का अहसास हुआ जो अन्यथा नही हो सकता था। भारतीय मीडिया ने बताया कि वह मीडिया मे पाक की उपस्थिति से नही डरता। मुशर्रफ के आगरा आने और बातचीत करने ने कट्टर से कट्टर पाकिस्तानी को इतना तो बता दिया कि उसके अपने चैनलो की अब के मुकाबले भारतीय चैनलो का खुलापन एक मजेदार अनुभव है। इस वार्ता के बाद पाकिस्तान मे भारतीय चैनलो को देखने वाले दर्शकों की सख्या मे बढोत्तरी देखी गई है। इस्लामी एकरसता और निरकुश तानाशाही के माहौल में पाकिस्तान की आम जनता को भारतीय चैनलो को देखना-सुनना एक नए किस्म का सास्कृतिक संवाद लगता है। इमसे वहॉ की जनता की बहुत सारी गलतफहमियॉ दूर होती है।

बेनजीर भुट्टो अपनी जनता से भारतीय चैनलो तथा बी.बी सी के जरिए बात करती है। भारतीय चैनल उनके कम से कम दो लबे साक्षात्कार इन्हीं दिनो दिखा चुके हैं। जिस चैनल पर भी बेनजीर आएँगी वह पाकिस्तान मे अपने दर्शक बनाएगा। लोग उस चैनल को देखेगे। कट्टरवादी इसलिए देखेगे कि देखे उसने क्या कहा और

उदार इसलिए कि एक नई हवा यहाँ मिलेगी। फिर वे जब भी अपने सौमित और उबाऊ चैनलों से बोर होंगे भारतीय चैनलों को खोलेंगे क्योंकि भाषा और संवाद की नजर से भारतीय चैनल पाक के आम आदमी तक को अपने नजदीक लगते हैं। यह भारतीय टीवी उद्योग की एक बड़ी विजय है कि पाकिस्तान के दर्शक उन्हें देखते हैं और प्रतिबंध लगाना पड़ता है। हर टीवी प्रतिबंध गुप्त दर्शक बनाता है। जिन दिनों हर चैनल की अपनी वैबसाइट है उन दिनों पाकिस्तान किस चैनल पर प्रतिबंध लगा पाएगा? देखने वाले इसे इंटरनेट पर देखेंगे।

इंटरनेट के जमाने में टीवी चैनलों पर प्रतिबंध कोई टिकाऊ विकल्प नहीं है। वर्चुअल या 'आभासी' युद्ध में चैनलों का संतुलित होना, खुला होना और उनका जनतांत्रिक वातावरण बनाना ही एकमात्र विकल्प है जो कई बार तनाव को भी शिथिल कर सकता है और दो देशों में नया संवाद भी बना सकता है।

● राष्ट्रीय सहारा, 6 जनवरी, 2002

भूमंडलीकरण, इस्लाम और रेनेसां

इतिहास अगर दुहरने का वरदान पा जाता तो मुशर्रफ दूसरे अता तुर्क होते और पाकिस्तान आधुनिक राष्ट्र-राज्य टर्की बन रहा होता। लेकिन इतिहास दुहर नही सकता। पाकिस्तान टर्की वन नही सकता। वह उससे कुछ ज्यादा या उससे कुछ कम जरूर वन सकता है। उसे राज्य से आगे राष्ट्र-राज्य बनना चाहिए। ग्लोवल समय में जनतंत्र ही राष्ट्र-राज्य का सार है।

मुशर्रफ ने अपने लबे भाषण मे जो कहा वह आडवाणीजी की भाषा मे भी 'पाथ-ब्रेकिग' भाषण था। उम्मीद करनी चाहिए कि एक दिन वे भी ऐसा ही भाषण करेंगे। कहेंगे कि वावरी मस्जिद का तोड़ा जाना इरादतन किया गया 'अपराध' था जिसे नही किया जाना था और जिन्होने ऐसा किया उन्हे कानून सख्त सजा देगा और मदिर बनाने-न वनाने की जगह मुल्क को आधुनिक बनाने के एजेडे को अधिक ताकत से लागू किया जाना चाहिए, कि सतो-महतो को अपने मठो-मदिरों मे विराजना चाहिए और इस समाज को हॉकने की कोशिश नही करनी चाहिए। यदि मुशर्रफ का भाषण उनके लिए 'पाथ-ब्रेकिग' रहा तो उसकी पाथ-ब्रेकिग वाली टिप्पणी भी उनके समर्थको के लिए पाथ-ब्रेकिग होनी चाहिए और वह स्वयं उनके लिए भी होनी चाहिए और उनको नई जमीन तोड़नी चाहिए।

यदि भारत के नेताओं को 'पाकिस्तान को वक्त देने' की बात करनी चाहिए तो इस संदर्भ मे भी करनी चाहिए। एक आधुनिक जनतांत्रिक पाकिस्तान भारत की भी जरूरत है। यदि ऐसा है तो सघ को अपने शाखा-भाषण बदलने होगे, अपनी पुस्तके बदलनी होंगी और 'भावनाओं' को सर्वोपरि मानने वाले 'इतिहास' की जगह तर्कसंगत आधुनिक इतिहास की ओर ही लौटना होगा। पाकिस्तान मे अब से आगे जो कुछ होगा, उसका भारत पर असर सीधे पडेगा। पाकिस्तान में अगर मुशर्रफ अपना एजेंडा लागू कर पाते है और एक आधुनिक पाकिस्तान की नींव रख पाते है तो उससे जनतंत्र का तत्त्व मजबूत होगा। एक जनतांत्रिक पाकिस्तान जनतांत्रिक भारत के साथ वेहतर संवाद में हो सकता है। इस तरह पाकिस्तान के आधुनिकीकरण और जनतंत्र मे भारत के हित और स्वार्थ गहरे अर्थो मे निवेशित है।

मुशरफ के उस भाषण का भारत में बेहद ऊपरी तौर पर पढ़ा गया। युयुत्सु मानसिकता वाले लोगों ने उस विशेष संबोधन को मुशर्रफ की फँसावट और मजबूरी की तरह लिया। उनमें भारत के सामरिक-कूटनीतिक दबाव के सुफल को भी देखा। ज्यादातर लोगों ने उसे आसन्न आतंकवाद और कश्मीर नीति के संदर्भ में पढ़ा। कई ने उसे पाकिस्तान की जनता को संबोधित भर माना। एक घंटे से कुछ ज्यादा के संबोधन में से चालीस मिनट मुशर्रफ ने पाकिस्तानी जनता समेत दुनिया भर के मुसलमानों को संबोधित किया। टीवी के इस समय में ऐसा आसानी से किया जा सकता था। इस मानी में मुशर्रफ दुनिया भर के मुसलमानों के एक नए नेता की तरह उभरते दिखे। वे एक साथ अपनी जनता ही नहीं, भारत की जनता और दुनिया की जनता को संबोधित कर रहे थे।

मुशर्रफ ने अपना हमला इस्लामी तत्त्ववाद पर बोला। उसमें पनप रहे अतिवाद पर बोला और उन तमाम मुकामों पर बोला जहाँ यह इतिहासपसंदी उभरती है। उन्होंने इस्लाम को पतित करने वालों को भी फटकार लगाई। उनके चेहरे पर ऐसा कहते वक्त घृणा और शर्म साफ-साफ पढ़ी जा सकती थी। उनका पैगंबर साहब 'सल्लल्लाहु अलहे वसल्लम साहब' को बार-बार कोट करना एक भीतरी जिरह को बताता था जो इस्लाम में छिड़ी हुई है और जिसके एक तबके की नुमाइंदगी मुशर्रफ कर रहे हैं। उनका भाषण उस शास्त्रार्थ की तरह था जो कभी हिंदू समाज में विवेकानंद ने रूढ़िवादियों के साथ किया। अपने तमाम मैक्यावेलीपन के बावजूद मुशर्रफ का यह साहस वहाँ भी उनके प्रशंसक पैदा कर गया जहाँ उनके दुश्मन ही हो सकते थे।

ऐसे में मुशर्रफ के भाषण को दुहरे स्तर पर देखना चाहिए। एक वह फौरी दृश्य है जिसमें सीमा पार आतंकवाद है, आतंकवादियों की भारत द्वारा दी गई लिस्ट है और यह कहना है कि पाकिस्तान अपने कहे पर अमल करे तो यकीन किया जाए। दूसरा स्तर दूरगामी संदर्भ रखता है। यहाँ पाकिस्तान सामने न होकर इस्लाम सामने होना चाहिए। ग्लोबल पूँजीवाद में आधुनिकीकरण की योजना को लेकर उसमें आने वाली व्याकुलताएँ और बदलाव के संकेतों को देखा जाना चाहिए। पंद्रह करोड़ से ज्यादा मुसलमान जनता के इस देश में इस्लामी जीवन के आधुनिकीकरण का एजेंडा अकेले मुसलमानों का नहीं है, न उसे अकेले उनके भरोसे छोड़ा जा सकता है। धर्म का एजेंडा एक समूह या समुदाय का होते हुए भी इन दिनों अपने 'अन्य' से ऐसे जटिल स्पर्धामूलक संवाद में रहता है जहाँ इकतरफा कोई एजेंडा लागू नहीं हो सकता। जिस तरह एक साम्प्रदायिकता दूसरी साम्प्रदायिकता को बढ़ाती है, उसके विकल्प में आने वाले एक समाज का सेकुलरिज्म भी दूसरे के सेकुलरिज्म के लिए जगह बनाता है।

मुस्लिम समाज में आधुनिकीकरण की रक्षा उनके कठमुल्लों से तभी हो सकती है जब उनसे बाहर के कठमुल्लों-बाबाओं से बाकी के समाज की रक्षा हो सके। यह

सार्वत्रिक लड़ाइ हे। इसलिए मुशर्रफ क भाषण मे इस्लामी जीवन के आधुनिकीकरण की जो तड़प रही उसे अपने काम का भी एजेंडा माना जाना चाहिए और इस्लाम के नए सेकुलर दौर को समझना चाहिए। इस सेकुलर इस्लाम को अनुकूल स्थितियाँ देना सबके हित की बात है और इसका असर भी हुआ है। पहली बार मुफ्ती ओर मोलाना लोग पिछड़े है और उदार मुसलमान बुद्धिजीवी मुखर हुए हैं। उन्ही के एक सैनिक तानाशाह राजनेता ने इस्लाम का एजेंडा तय किया है जो उसे नए सेकुलर समाज की ओर ले जाता है, जनतंत्र की ओर ले जाता है, जिसकी मिसाल बाद के चुनाव सुधार भाषाण और निजी टीवी चैनलो को इजाजत देने के रूप मे सामने आया हे। जाहिर है कि पाकिस्तानी जनता का एक प्रभावी तबका मुशर्रफ के एजेंडे को बना रहा है सिर्फ अमेरिकी दबाव नही। इससे पाकिस्तानी समाज मे नई हलचल बनी है। वहाँ का मध्यवर्ग और बुर्जुआजी स्वयं को कठमुल्लो से घिरा पाता रहा हे। पहली बार इस्लाम का एजेंडा एक टीवी पर किसी सैनिक राजनेता ने तय किया। यही नहीं, मुशर्रफ ने नए वर्ग की आकांक्षाओ को भी अभिव्यक्ति दी है और ग्लोबल समय के सामने एक मध्यकालीनता मे फँसते जा रहे समाज को रास्ता बताया हे।

इससे स्पष्ट है कि तालिबान आदोलन, जिसे अमेरिका-पाकिस्तान ने पैदा किया, जिसे कभी पाकिस्तान ने इस्लाम का रक्षक समझा और जिसके प्रभाव में पाकिस्तान की जनता भी आने लगी थी, जिसके नेता मुल्ला उमर और बिन लादेन बन चले थ, मुशर्रफ ने एक झटके से विचारधारात्मक पब्लिक छीन ली है। मुशर्रफ का यह भाषण बिन लादेनीकरण से इस्लाम को मुक्त करने की भी एक कोशिश है गैर-तालिबानीकरण करने की कोशिश है और यह उनकी जोखिम भी है। इस्लाम मे इतने दिन बाद किसी के मुख मे 'इस्लामी रेनेसा' की बात सुनी गई है। इस्लाम के इतिहास मे हुए उसके महान् चिंतको की बातें की गई है और फिर उसे एक ऊँचाई पर ले जाने की बात की गई है जो तलवार से नहीं आधुनिकता और जनतंत्र के जरिए होनी ह। यह इस्लाम का नया संस्करण है जिसके इशारे मुशर्रफ ने दिए है।

इस्लाम का जो वहशी चेहरा तालिबान और अल कायदा ने इधर बनाया था उससे दुनिया भर के मुसलमान रक्षात्मक और अलग-थलग हुए। इतना बड़ा समाज ग्यारह सितंबर की घटनाओं के बाद इतना अलग-थलग हुआ कि निंदकों को लगता था, "इस्लाम एक बर्बर समाज ही पैदा कर सकता है।" ग्यारह सितंबर के बाद इस्लाम के लोगों को लेकर, उनके स्वभाव को लेकर उठने-गिरने वाली बहसें बराबर यही करती रही कि "इस्लाम धर्म बर्बरता का दूसरा नाम है।" इस्लाम के इस स्टीरियोटाइप में पुराने जेहादो और क्रूसेडों वाले मुहावरो का योगदान रहा। मुशर्रफ न अपने भाषण मे बड़े आहत होकर उस शर्मिंदगी और गिरावट की बात की जो अगर कोई कमतर शख्स करता तो उसे इस्लाम का दुश्मन मानकर उड़ा दिया जाता। उन्होंने इस्लाम की टैक्स्ट को बराबर इसीलिए सामने रखा कि उसका एक मानवीय,

उदार और आधुनिक चेहरा सामने आ सके। सच जो काम इस्लाम के भीतर किसी मुफ्ती को, किसी मौलाना को, किसी स्कॉलर को करना था, उसे एक फौजी ने अंजाम दिया। इतिहास ऐसा ही है। उसके अंतर्विरोध कब कहाँ फूट पड़ते हैं, कोई नहीं जानता।

कहने की जरूरत नहीं कि मुशर्रफ के इस रवैए का असर हर उस जगह कमोबेश होना चाहिए जहां-जहाँ तालिबानी अंधता को मॉडल और आतंकवाद को एकमात्र रास्ता मानकर आंदोलन चल रहे हैं। ऐसी जगहों पर जनतंत्र में इस्लामी जनता की आंदोलनकारी आस्था बढ़ती दिखनी चाहिए। कश्मीर की आतंकवादी मुहिम की जड़ भी ऐसे विचारों से कमजोर ही होगी। मुशर्रफ की इस विचारधारात्मक लड़ाई को कम करके नहीं आँकना चाहिए।

बहुत दिन नहीं गुजरे जब जामा मस्जिद के इमाम बिन लादेन को अपना हीरो बताते थे। जब शबाना आजमी ने उनकी इस बात को अपनी टिप्पणी से उड़ाया तो उन्होंने एक बेहद हल्की टिप्पणी करके औरत जात का मजाक तक उड़ाया। उन कुछ दिनों में भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के मॉडरेट या उदार मुसलमान की परिकल्पना संबंधी सवाल तेजी से उठे थे। तब कुछ उदार मुसलमान जरूर सामने आए थे। उनमें सबसे आगे आकर जावेद अख्तर और शबाना आजमी ने ही सीधी टक्कर अपने तत्त्ववादियों से ली थी। यह एक हिम्मत का काम था। हिंदुत्ववाद के हमलों से आहत मुसलमान कौम का कोई आदमी जब अपनी कौम की कट्टरता से सवाल करता है तो उनकी कौम ही उसे गद्दार कहने लगती है। वह दुहरे विराव में रहने को अभिशप्त होता है। एक टीवी बहस में जावेद ने कमाल के ढंग से उस स्पेस का बचाव किया था जो कठमुल्लों के हमलों का निशाना रही है। अब इमाम साहब खामोश हैं और मुशर्रफ ने इस्लाम में एजेंडा तय करने की पहल एक बार फिर आधुनिकतावादी तत्त्वों के हाथ सौंप दी है।

इस आधुनिक एजेंडे का एक दबाव इस्लामी तत्त्ववादियों पर पड़ता है तो दूसरा दबाव उन गैर-इस्लामी तत्त्ववादियों पर भी है जो अपने ढंग से अपने समाजों में एक प्रकार की इस्लाम जैसी कट्टरता पैदा करना चाहते हैं।

आजादी के आंदोलन में साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनांदोलनों के दबाव से तत्त्ववाद कमजोर हुआ था और एक प्रकार का सेकुलर तत्त्व लोकप्रिय हुआ था जिसे कुछ लोग अपने आज के तत्त्ववाद के गर्व में 'छद्म सेकुलरवाद' कहकर उपहास का विषय समझते हैं। उस सेकुलरवाद का सार यही था कि जीवन को धर्म नहीं हांक सकता। यह अंग्रेजों से लड़कर विकसित हुआ था। उत्तर-औपनिवेशिक दिनों में उत्तर-उपनिवेशवाद पर विचार करने वाले कुछ लोग सेकुलर स्पेस की संभावना क्षीणतर ही मानने लगे थे, क्योंकि उत्तर उपनिवेशी आजादी में राष्ट्रवाद अंधराष्ट्रवाद में अक्सर बदलता हुआ अपनी पहचान को किसी एक धर्म की कट्टरता से जोड़कर नव-धर्म राज्य की कल्पना

किया करता है। गरीब देशों में ऐसा ही नजर आता है। ग्लोबलाइजेशन से निपटने के लिए धर्मतत्त्ववाद की लादेनी गुफाओं में जा बैठना एक थियरी ही हो चली थी। लादेन की राजनीतिक सिद्धांतिकी ऐसी ही थी। तालिबान की भी ऐसी रही और हिंदुत्व में रहने वाले कई तत्त्वों की भी ऐसी ही बन चली है।

मुशर्रफ का भाषण इन सबके लिए 'पाथ-ब्रेकिंग' है तो तभी जब वे उसके आशय अपने लिए भी समझें क्योंकि टीवी पर बोलकर मुशर्रफ ने एक प्रकार का टीवी युगीन रेनेसां संभव किया है। मुशर्रफ कितने सफल होते हैं, यह देर बाद पता लगेगा लेकिन एक विचार का, एक विमर्श का बनना महत्त्वपूर्ण है, उसकी पूर्णता तो अनेक स्थितियों पर निर्भर है।

अगर हमें 'समय देना है' तो हमें इस्लाम के इस पुनर्जागरण को समय देना चाहिए, मुशर्रफ को समय देना चाहिए। सिर्फ कूटनीति या दबाव नीति तक ही हमारे प्रयत्न नहीं रहने चाहिए। इस्लाम का रेनेसां हमारे यहाँ भी मदरसावाद या शिशु मंदिरवाद को कमजोर करेगा। पाथ अगर ब्रेक होगा तो यहीं कहीं होगा।

• जनसत्ता, 22 जनवरी, 2002

आतंकवाद और डैनियल पर्ल की ख़बर

'द वाल स्ट्रीट जर्नल' के रिपोर्टर डेनियल पर्ल की पत्नी को अब भी भरोसा है कि वह जीवित है। एक पत्नी को ही ऐसा बावला भरोसा हो सकता है। वह कहती है कि आतंकवादी उसकी जान ले लें उसके पति को छोड़ दें। यह उसका एकदम फिल्मी संवाद है। दुःख में आदमी धीरज और विवेक खो देता है। पर्ल की पत्नी बौराई हुई लगती है। उसके गर्भ में पर्ल का बच्चा है। यह प्रकरण भयानक है। किसी फिल्मी कहानी जितना सच जो अचानक अब जीवन में हर कहीं घटित होने लगा है। यह आतंकवादी समय है जो हर कहीं हर बार मासूम और गैर मासूम, अपराधी और निरपराध के बीच की पुरानी भेदक रेखाओं को खत्म करता चलता है। आतंकवादी समय में रिपोर्टिंग क्या है इसे डेनियल पर्ल के अपहरण और प्रकरण से अच्छी तरह जाना जा सकता है। आश्चर्य है कि अभी तक किसी पत्रकार संगठन की जुबान नहीं खुली। मानवाधिकारवादियों के मुँह पर ताले जड़े हैं और यहाँ एक पत्रकार है जिसे अगवा कर लिया गया है और अब उसकी लाश तक के मिलने की उम्मीद नहीं दिखाई देती। पर्ल के अपहरण और आज से कोई सात-आठ साल पहले के चार विदेशियों के कश्मीर से अपहरण में समानता दिखती है। इन बात से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन चारों की तरह ही पर्ल को खत्म किया जा चुका है। जिस तरह उन चार की लाशें आज तक नहीं मिलीं, पर्ल के साथ भी ऐसा ही हो सकता है। जिस आतंकवादी ने एक खास वेबसाइट पर एक दिन यह जानकारी दी कि पर्ल की लाश कराची के किसी कब्रिस्तान में मिलेगी उसने शायद सच ही कहा भले ही बाद में उसका उसने खंडन किया। भारत में अनेक 'खोजी पत्रकार' हुए हैं। वे देशी खोजी हैं। अपने खोजी पत्रकारों ने जितनी 'खोजपूर्ण' रिपोर्टें की हैं वे उतने ही मोटे हुए हैं इन दिनों में तो ऐसे कई लोग बड़े आसनों पर विराजमान हैं। एक तो मंत्री तक बने हुए हैं। उधर डेनियल पर्ल है कि जैश के उमर शेख के हाथों या तो कहीं पर बंदी है या काटा जा चुका है। पर्ल की कहानी अपने यहाँ टाप गालबजाऊ नकली खोजी पत्रकारिता के गाल पर तमाचा है। वह असली 'खोजी पत्रकारिता' का जोखिमभरा नमूना है। पर्ल का वाक्या बताता है कि आतंकवाद को

रिपोर्ट करना जान की बाजी लगाने के बराबर है। यही 'नया' सूचना संग्रह है। समाचार का निर्माण है।

पर्ल की गलती यह रही कि उसने अपने सूचना स्रोतों का भरोसा किया। बशीर और एक अन्य व्यक्ति के जरिये वह उस व्यक्ति से मिलने चला जो जैश-ए-मोहम्मद का नेता था जो बता सकता था कि जैश के पास बैंक एकाऊँट कहाँ-कहाँ है। उनमें कितनी रकम है। वह 'जैश' पर पाकिस्तान के प्रतिबंध की असलियत रिपोर्ट करना चाहता था। जैश की गतिविधि रिपोर्ट करना चाहता था। यह उसकी अंतिम हद थी जहाँ वह पहुँच गया था, सूचना-स्रोत के ऐन केंद्र पर। इसी बीच ऐसी खबरें भी आई है जो बताती है कि जैश के ऊपर मुशर्रफ के प्रतिबंध मजाक ही साबित हुए है उन पर छापा मारने वक्त इस बात का खासा खयाल रखा गया कि उसके नेता साफ बाहर रहें। इसका अर्थ यह भी है कि स्वयं पाक प्रशासन का एक हिस्सा जैश के साथ मिलीभगत रखता है। पर्ल ऐसे ही किसी जोखिम भरी घडी मे एक रेस्त्रा मे उस आदमी से मिलने पहुँचा जो उसे एक नई कहानी देता। बस वही उसे अगवा कर लिया गया। उसके बाद उसका वह फोटो ही अंतिम साबित हुआ जो उसे पाकिस्तानी अखबार 'डॉन' पढते दिखाता है। पर्ल उकड बैठा हुआ है। उसके पीछे परदा लगा है ताकि कैमरे में ऐसे निशान न आ जाएँ जो जगह का कोई खबर या सुराग दे सके।

मीडिया के साथ आतंकवाद का संबंध चूहे-बिल्ली के खेल की तरह है। यह बेहद जटिल है। यह तलवार की धार की तरह है प्रेम की तरह ही घृणा के अन्यतम स्तर 'तलवार की धार पे धावना' है। इसके आगे सूचना और उसका निर्माणकर्ता सब खत्म हो जाते हैं। जरा सी चूक और गए। वह 'पी.आर.' यानी जनसंपर्क नहीं। आतंकवाद 'पी.आर.' पसंद नहीं करता. वह अपनी खबर आप है। आतंकवादी संगठन खबरों से ही आतंक का निर्माण किया करते है। उसके लिए मीडिया उनका प्रसारक है, लेकिन इस काम के लिए वे मीडिया की चिरौरी-मिन्नते नहीं करते अपनी बर्बर हिंसा और अपनी ताक से वे अपनी खबर आप बनाया करते हैं। एक आतंकवादी मीडिया के बारे मे क्या विचार रखता है इसकी कल्पना कठिन है। आतंकवादी कृत्य ही मीडिया को डिफाइन करते है। वे ऐसे दृश्यों की योजना बनाते है जिनकी खबर अनिवार्य हो, जो बडे दर्दनाक हो और जिन्हे देखकर उसके कर्ता की नृशंसता के साथ उसके लक्ष्य की जानकारी भी जाए। ज्यादा से ज्यादा मासूमों की जान लेने वाले किसी बम विस्फोट, किसी भी फिदाईन हमले के जरिए किसी सत्ता के बडे प्रतीक को उडाने के जरिए, आतंकवाद अपने लिए मीडिया में अनिवार्य जगह बनाता है। एक्शन ही उसकी प्रेस कॉन्फ्रेंस होती है। दहशत उसकी खबर है और कहने की जरूरत नहीं कि अपने आतंक को खबर बनाने की कला आतंकवादी से बेहतर कोई नही जानता। इसीलिए आतंकवादी संगठन यों तो गुप्त कार्य करने वाले होते

ह लकिन माडिया का समझ उनका वहुत तज हाती ह। व अपन सचार का अपना वल समझते हैं इस काम मे वे कारो, मोवाइलों, इटरनेट आदि का उपयोग करन ह। वीडियो के फोटो का उपयोग करते है। उनकी जरा-सी असावधानी उनकी मौत का कारण भी वनती है लेकिन वे ऐसी गलती प्राय कम करते ह। वे मीडिया की तरह सेकडो में जीवन जिया करते है। सेकडो की खवर को ही अमर किया करन ह। उन्हे मालूम होता है कि मीडिया की नजर मे उनके फोटो की क्या कीमत ह। एक ही साथ छिपाना दूसरी ओर मीडिया मे खवर की तरह वने रहना—यह दुधारी कला, मीडिया के प्रति आतकवादी समझ का सार है।

मीडिया को लेकर आतकवाद एक पक्की सीमा रेखा भी खीचता है। चूंकि 'सत्य' के निर्माण मे उसकी टक्कर सीधे राज्य सत्ताओ के 'सत्य' से होती है। इसलिए उसकी लडाई सत्ता के वरक्स मीडिया को अपने ढंग से कट्रोल करने की भी होती है। कश्मीर के उदाहरण को ही सामने रखे तो पाते है कि वहुत शुरू मे आतकवादियो को मीडिया मे अपनी निंदा अच्छी नही लगती थी। अपनी आलोचना वर्दाश्त नही होती थी। इसीलिए उन्होने कश्मीर मे दूरदर्शन के टॉवर कई वार ध्वस्त किया। कइ वार रेडियो स्टेशन उडाया। कई अखवारो को वद कराया। कई पत्रकारो को मार डाला या धमकाया।

अव आतकवादी सगठन 'वुरे प्रेस' से नहीं डरते। लेकिन मीडिया का एक डर अव भी रहता है। यह है मीडिया द्वारा उनके रहस्यो का भडाफोड करना। खुली सूचना अव भी उनकी दुश्मन है। समाचार म आना अव भी उनके लिए एक धोखेभरी क्रिया हो सकी है। सभव है कोई पत्रकार ही पुलिस का जासूस हो कहते है कि पाकिस्तान अखवार 'ओसाफ' के सपादक हामिद मीर जव अफगान युद्ध के दौरान विन लादेन से मिलने गए तो वे कालीनो के वीच छिपकर लेटे-लेटे गए। इसी तरह जान सिपसन जव अफगानिस्तान मे तालिवानी नजर से वचकर कावुल के पास युद्ध का कवर करने गए तो वुर्का पहनकर धोखा देकर गए, कई तो पकडे भी गए। कइ मार डाले गए। कोई आठ पत्रकार अफगानिस्तान मे मार डाले गए। इसका अर्थ यह भी है कि आतकवाद सामान्य युद्ध की तरह रिपोर्टिंग को अलग से रक्षा योग्य नही मानता।

पर्ल का अपहरण कर आतकवाद एक सदेश दे रहा है : मीडिया हमारी लीला जरूर दिखाए लेकिन हमारे रहस्य नही। जाहिर है कि आतकवादी संगठन समानान्तर राज्य सत्ताओं की तरह काम करते है। जिस तरह राज्य सत्ता एक हद के वाद अपने रहस्यो को नही खुलने देती और एक्शन कर देती है उसी तरह आतंकवादी करते ह। पर्ल का अपहरण यही वताता है कि आप आतकवाद द्वारा सिरजी गई उसकी कहानी तो कह सकते हैं, लेकिन आप आतकवाद के वारे मे 'अपनी' कहानी ज्यादा देर तक नहीं कह सकते।

इस तरह मीडिया एक ओर सत्ताओं और दूसरी ओर आतंकवादी सत्ताओं के बीच-दुहरे दमन के बीच-साँस लेता है। खबर निकालने की स्पर्धा कहती है कि नई से नई, ताजा से ताजा खबर चाहिए। किसी भी कीमत पर चाहिए। अखबार को, मीडिया को खबर बेचनी है, लेकिन आतंकवाद को तो खबर बेचना नहीं है उसके जरिए जनता के दिमाग पर 'राज' करना है। इसीलिए एक हद के बाद उनकी बंदूक बोलने लगती है। क्योंकि आतंकवाद भले किसी 'सत्ता के अन्याय के विरुद्ध संघर्ष' कहा जाए उसके पास किसी राज्य सत्ता की तरह कोई नागरिक नियम या जिम्मेदारियाँ नहीं होतीं न उसके पास जीवन का कोई नया विकल्प होता है। इसीलिए वह अपने रहस्य के खुलने से डरता है।

पर्ल का अपहरण एक बार फिर सिद्ध करता है कि आतंकवाद मीडिया से और उसके रहस्य भेदन से डरता है। अपने खोजी पत्रकार जान लें कि आतंकवाद को रिपोर्ट करना किसी मंत्री को 'पी.आर.' करना नहीं है न किसी मंत्री या नौकरशाह द्वारा पास की गई सरकारी फाइल को अखबार में छापना है। यह जान की बाजी लगाना है यह पत्रकारिता की सरहद है जहाँ पहुँचकर कुछ नहीं बचता। या तो पत्रकारिता रहती है या उसकी शोकसभा।

• जनसत्ता, 10 फरवरी, 2002

पाक टीवी में औरत का चेहरा

मुशर्रफ साहब की सरकार ने आदेश दिया है कि आगे से पाक टीवी की समाचार वाचिकाएँ हिजाब या दुपट्टे से अपना सिर नहीं ढँका करेंगी। उनका दूसरा आदेश है कि आगे से पाकिस्तान में निजी चैनल भी अपने कार्यक्रम दे सकेंगे। कहने की जरूरत नहीं कि दोनों आदेश पाकिस्तान टीवी के इतिहास में क्रांतिकारी हैं।

पाकिस्तान के कठमुल्ले इसका विरोध कर रहे हैं। वे करेंगे ही! टीवी हर कठमुल्लों के लिए भारी आफत है। पाक टीवी का वर्ल्ड चैनल ही भारत में ज्यादा दिखाई पड़ता है। उसे देखकर लगता है कि वह अभी भी भारतीय चैनलों की तुलना में कोई दस-बीस साल पीछे चल रहा है। हम अपने उस जमाने को याद कर सकते हैं जब हर सीन ऑफिसियल नजर आता था और हम समाचार सरकारी समाचार-सा नजर आया करता था। प्रसार भारती के बनने के बाद भी इस मामले में कोई बड़ा फर्क नहीं पड़ा है तो भी निजी चैनलों के कारण दूरदर्शन को अपने सरकारीपन को कम करते रहना पड़ा है। हमारे टीवी पर औरतों की दृश्यमानता कहीं ज्यादा और ताकतवर है।

मुशर्रफ के आने के बाद से पाक टीवी का चेहरा लगातार बदला है। जितना पर्दा पहले था उनके आने के बाद वह कम होता गया। एक जमाना रहा जब पाक टीवी पर औरतों की ऑखें ही दिखाई दिया करती थीं। यह पाक टीवी के इतिहास में इस्लामी आधुनिकता की आहट है। कुछ बदल रहा है जो अच्छा है । टीवी का परदा आपको गुफा युग से तो बाहर निकालेगा ही। जब से अफगानिस्तान में तालिबानी शासन का खात्मा हुआ तब से वहाँ भी अफगान टीवी का प्रसारण शुरू हुआ है और इन दिनों वहाँ केबल के डिश की बिक्री की खबरें आती रहती हैं। वहाँ के जुगाड़ लोगों ने भारत के जुगाड़ लोगों की तरह लोहे कबाड़ में से डिश एंटीना बनाने शुरू कर दिए हैं। उन्हें अपना टीवी चाहिए। उनकी वाचिकाओं ने अपने बुर्के खत्म कर दिए हैं।

अल जजीरा टीवी चैनल के जो दृश्य बरखा दत्त ने स्टार न्यूज पर दिखाए थे उनमें वहाँ काम करने वाली औरतें सिर ढँक कर ही रहती थीं लेकिन उनके चेहरे खुले दिखते थे। एक ओर टीवी पर औरतों की धज का यह हाल है कि उनका सिर

ढँकना न ढँकना एक बडी खबर बनती है दूसरी ओर एक ऐसा न्यूज चैनल भी है जिसमे वाचिका लेट नाइट की खबरों को पढते हुए धीरे-धीरे अपने सारे कपडे एक-एक करके उतारती जाती है। आखिर मे वह नग्न ही हो जाती है। उस टीवी की इस हरकत पर इन दिनों काफी बावेला मचा रहता है। वह शायद कोई पूर्वी यूरोपीय देश है। वह खास चैनल अपनी दर्शक जनता को बढाने के लिए ऐसा करता है और उसके पास वहुत दर्शक है। जाहिर है ज्यादातर मर्द दर्शक ही होने चाहिए। यह स्त्री जाति का अपमान तो है ही सचार-प्रक्रिया की भी हत्या है।

इस हत्या के अलावा दूसरी हत्या वह है जहाँ हम एक स्त्री को सिर बाँधे सिर्फ आँखो को दिखाते समाचार पढते देखते है। पाकिस्तान मे ये परिवर्तन उन प्रतिवधो के संदर्भ मे देखे जा सकते हैं जो वहाँ की सरकार ने भारतीय चैनलो पर लगाए हैं। भारतीय फिल्मों का प्रदर्शन तो एक अरसे से वद है ही तो भी फिल्मो का सी डी कैसेट बाजार गुपचुप चलता रहता है। तेरह दिसबर के बाद जब से भारतीय संचार माध्यमो में पाकिस्तान को लगभग 'रोग स्टेट' की तरह से वताना शुरू किया और यहाँ की सत्ता ने आतकवादी कार्रवाईयों की शरण स्थली वताना शुरू किया और अपना कूटनीतिक आक्रमण भी तेज किया। जिसके वाहक चैनल वने तो वहाँ के प्रशासन ने उन पर प्रतिवध लगा दिया, केवल वाले उन्हे दिखाने से वरज दिए गए।

अव हालात ये है कि लोगो के दिन नही कट रहे। वहाँ के लोगो का मानना है कि भारतीय न्यूज मत दिखाओ लेकिन फिल्में, सीरियल तो देखने दो। भारतीय मनोरजन उद्योग का एक वडा बाजार पाकिस्तान है। लोग हमारे चैनलो के कार्यक्रमो के दीवाने है अब केवल वाले वंद कर चुके है तो लोग परेशान है कि क्या करें। इस वात को देखकर कुछ निजी संस्थान अव निजी चैनल शुरू करने की वात सोचने लगे है। कहने की जरूरत नही कि पाकिस्तान मे निजी चैनल होगे तो यह हर तरह से बेहतर होगा। सचार की वहुलता वढेगी तो पाक टीवी की मनहूसियत और एकरसता कम होगी। सरकारी के अलावा भी कुछ दूसरी वाते नजर आने लगेगी।

सवसे वडी वात वाचिकाओ का बिना सिर ढँके लगातार दिखना होगा। इससे पाकिस्तान मे स्त्री की छवि को लेकर चले आते दुराग्रह कमजोर पडेगे और लोग प्रतिक्रिया मे ‹ाज भी नजर आएंगे। लेकिन कुल मिलाकर सिर न ढँकने का आदेश पाकिस्तान मे औरतो की दृश्यमानता की नजर में एक दूरगामी परिणाम देने वाला होगा। इसे हम टीवी के साथ आगे के दिनों मे पाक औरतो के वदलते सवधो मे पढ़ सकेगे।

टीवी के अध्ययन की छह-सात प्रमुख प्रविधियो में से एक स्त्रीत्ववादी अध्ययन प्रविधि भी है। इसके तहत टीवी स्क्रीन पर दिखाए जाते कार्यक्रमो मे आने वाली स्त्री छवि के अध्ययन किए जाते हैं। भारत मे ऐसे अध्ययन अक्सर होते रहते है। अमेरिका और यूरोप मे मीडिया अध्ययनो में ऐसे काम काफी हुए हैं जो बताते है कि आधुनिक समाजो मे औरत की दृश्यमानता को बढा कर टीवी ने लिंग-अन्याय

ही समस्या को सामने लाने और उसका उपचार करने वाला वातावरण बनाने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। टीवी स्क्रीन पर विविध भूमिकाओं मे औरतों की दृश्यमानता ने जमाना बदला है, स्त्री के प्रति पुरुषो का नजरिया बदला है, उसकी भूमिका के स्टीरियो टाइप को तोडा है। यह महत्त्वपूर्ण काम है जो टीवी ने किया है जिसे स्त्रीत्ववादी अध्ययन स्वीकार करते है। यदि हम स्त्रीत्ववादी ढग से अपने टीवी चैनलो के कार्यक्रमो का अध्ययन करे तो हम कुछ नए नतीजे आसानी से निकाल सकते है। आप चाहे तो किसी एक सीरियल का इस नजर से अध्ययन करे या फिर आप चाहे तो विज्ञापनो मे ही स्त्री की उपस्थिति का उसकी छवि का अध्ययन करे तो आपको भारतीय समाज मे आ रहे परिवर्तनो और तज्जन्य नजरियो की खबर मिल जाएगी।

बताइए टीवी से पहले किसी ने औरतो को मजबूती से बैठकर सिर को आत्मविश्वास से ऊँचा करके, जनता की आँखो मे आँखें डालकर समाचार पढते और दिखाते सुना था। आज इस समाचार वाचिका की छवि को देखकर देश की लाखो लाख लडकियाँ पत्रकारिता करके समाचार वाचिका बन जाना चाहती है। वे रिपोर्टर बनना चाहती है बरखा दत्त, नलिनी सिह और मृणाल पाडे आदि अपना मॉडल लगती है। वे वैसा काम करना चाहती है। इस एक कामना से एक बद ससार खुलने लगता है और समाज बदलने लगता है। मॉडलो को आते-जाते देख मिस इडिया या मिस वर्ल्ड को देखकर फिर विज्ञापनो को देखकर लाखो लडकियाँ कस्बो और गाँवों म निकल कर मॉडल बनना चाहती है।

टीवी की छवि उनके बलीकरण की छवि है टीवी पर दिख रही औरत उन्हे ताकतवर नजर आती है। वह कुछ बताती नजर आती है। आज्ञा देती नजर आती है। सत्ता बनाती नजर आती है और वे स्वय अपनी सता बनाने निकल पडना चाहती है। उनमें से सब तो नहीं बन सकती है ये वे भी जानती है लेकिन टीवी पर दिखने की कामना एक सत्ता में आने की कामना और उसकी सभावना को बताती है यह बात सबके सामने प्रकट होती है और ऐसे बलीकरण मे सूचना मे आई लड़की उस लडकी से कहीं ज्यादा ताकतवर नजर आती है जो घर में, परदे मे बद है। पाक मे ही ऐसा कानून है कि एक मर्द की गवाही के मुकाबले के लिए वहाँ दो स्त्रियों की गवाही जरूरी होती है। औरत न्यायालय में ही मर्द के मुकाबले आधी मानी जाती है। फिर वहाँ पर इज्जत के लिए औरतों की हत्या आम बात है। अब मान लीजिए ऐसी ही किसी बात की रिपोर्ट खुले चेहरे वाली औरत करेगी तो समाचार का 'पाठ' तो बदलेगा ही। वह कही न कही स्त्री पहचान को सक्रिय करेगा। यही बदलाव होगा धीरे-धीरे होगा लेकिन होगा।

• **जनसत्ता, 24 फरवरी, 2002**

ग्लोबल मार्क्सवाद और स्थानीयतावाद

उत्तर-मार्क्सवादी भाषा में इसे 'एक कदम आगे दस कदम पीछे' कह सकते है। उत्तर-औपनिवेशिक पदावली मे इसे बगाली जाति द्वारा अपनी 'पहचान' का दावा कहा जा सकता है और आधुनिकतावादी पदावली मे इसे 'पीछे की ओर लौटना' कहा जा सकता है। वक्त की ऐसी मार है।

कलकत्ता को 'कोलिकाता' और पश्चिम बगाल को 'पोश्चिम बोंगो' लिखने-कहने के लिए जो जिद बांग्ला के अग्रणी लेखक सुनील गगोपाध्याय ने ठानी है उसके पीछे नए भूमडलीकृत समय मे पिछड़ गए कुछ बाग्लाभाषी बुद्धिजीवियों की 'व्याकुलता' नजर आती है जिसके प्रति मार्क्सवादी पार्टी का नेतृत्व किसी मजबूरी मे ही हमदर्दी प्रकट कर रहा है। पहचान के नए प्रश्न, जो भारतीय मार्क्सवाद के लिए बूर्ज्वा और प्रतिक्रियावादी रहे, अब गोद लेने लायक हो गए दिखने है तो इसलिए कि इन सवालो को उसने अरसे से दूसरो के लिए छोड़ दिया था और जब अधिक मूलगामी-तत्त्ववादी इन्हे उठाने लगे तो उसे इन्हें शामिल करने के रास्ते बनाने पड रहे हैं। यह मार्क्सवाद का आसान पॉपूलर संस्कृति के साथ जीना-मरना है, जातियों की स्पर्धा को जगाकर उनमें से अपने लिए चुनाव करना है, एक को चुनते हुए दूसरे को खो देना है और अततः अपने अंतर्राष्ट्रीयतावाद को खो देना है। यह मार्क्सवाद के महावृत्तात का दैनिक पतन है या कहें कि स्थानीय संस्करण है।

इस 'ग्लोबल' समय का मुहावरा राजनीतिक से ज्यादा पॉपूलर-सांस्कृतिक और जीवन-शैलीगत है। सस्कृति के प्रश्न ही राजनीति के बुनियादी प्रश्न बनने लगे है, इसलिए बंगाली जाति के गौरव की बहाली के लिए प्रकट की जा रही इस आकुलता को उसके उचित संदर्भ मे पुनर्रचित करना जरूरी है।

कलकत्ते का उत्स साम्राज्यवादी फिरगियों की व्यापारिक इच्छाओं का प्रतिफल रहा है। वही भारतीय पुनर्जागरण और समाज सुधारवादी आंदोलनों का गढ रहा है। आधुनिकीकरण के लगभग सारे प्रयोग कलकत्ते से शुरू हुए है। आज भी कलकत्ता अन्य महानगरो के मुकाबले अधिक मेट्रोपॉलिटन नगर है, उदारता, जनतात्रिकता और विविधता उसे उसके प्रथम राजधानी बनने से मिली है, साथ ही पुनर्जागरण काल

र निभाइ गइ अग्रणी भूमिका से मिली ह, अतीत म राजनीतिक और व्यापारिक राजधानी होने के कारण वह उत्तर भारत के कस्बों-गाँवों के लोगों के लिए एक आशा का नाम रहा है। प्रेमचद के कई पात्र अपने गाँव से कलकत्ता भागते है क्योकि वहाँ उन्हे भविष्य दिखाई देता है। अग्रेजो के व्यापार में अपना हिस्सा कमाने गए मारवाड़ियो के अलावा पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के लोग वहाँ छोटा-मोटा काम करने जाते रहे है। कलकत्ता को कलकत्ता बनाने मे जितना उदार बंगाली का हाथ रहा है उतना ही इन लोगों का रहा है।

लेकिन कलकत्ता बदल रहा है। महानता म गिरते हुए वह एक असभव इतिहास मे छिप जाना चाहता है क्योकि कुछ लोग उसे 'एक कदम आगे ले जाने के लिए दस कदम पीछे' ले जाना चाहते है। कलकत्ता से 'कोलिकाता' के प्रस्ताव मे एक पीछे जाने वाली मूलगामी इच्छा सक्रिय है। इस इच्छा में यह भुलाया जा रहा है कि अतत इस रास्ते का कोई पूर्णविराम नही होगा। यदि मूल पर ही जाएँ तो कलकत्ता के तीन भाग और तीन नाम 'कोलिकाता', 'सूतानूति' और 'गोविदपुर' होने चाहिए क्योकि जॉब चर्नाक द्वारा कलकत्ता को इन तीन गॉवो से बनाया गया कहा जाता है। मूल पर जाएँगे तो शायद 'कोलिकाता' या 'गोविदपुर' या 'सूतानूति' से पहले के नाम भी निकल सकते हैं। तब मूल पर जाने के चक्कर मे आप कहाँ रुकेंगे?

नही, मामला नामकरण और कलकत्ता के उच्चारण का ही नही है। आम बाग्लाभाषी के लिए तो आज भी कलकत्ता 'कोलिकाता' ही है और हिंदी वाले के लिए वह उतना शुद्ध कभी हो भी नहीं सकता। तब इससे अधिक 'बांग्ला' यानी बगाली होने की माँग क्या है और क्यो है? यही हमे पुनर्जागरण काल की मूलगामिता और तत्त्ववादिता सक्रिय नजर आती है जो कुछ समय पहले बंबई को मुंबई और मद्रास को चेन्नई बना चुकी है, जो कही भाजपा-शिवसेना के सास्कृतिक अभियान मे तो कही तमिल गर्व में व्यक्त हो चुकी है और जो अब कुछ बुद्धिजीवियों द्वारा बगाल मे बगालीपन मे व्यक्त की जा रही है। एक दिन पीछे लौटने की यह इच्छा दिल्ली को इद्रप्रस्थ और भारत को आर्यावर्त बनाकर दम लेगी। इतिहास का ऐसा सशोधन मूलतः 'नव्य राष्ट्रवाद' का एजेंडा है। मार्क्सवादी पार्टी का उक्त बगालीपन से प्रकटतः सहमत होना इस नव्य राष्ट्रवाद एजेंडे को अपने साथ अतर्भुक्त करने की कोशिश की तरह है। मूलगामिता और तत्त्ववादिता को लेकर 'ऑफिसियल' मार्क्सवाद की ऐसी उदारता 'नॉन-ऑफिसियल' मार्क्सवादियों को उलझन मे डालने वाली है। लेकिन 'एक कदम आगे दो कदम पीछे' वाले मर्क्सवादी नई स्थितियों मे 'दस कदम पीछे' हटने को मजबूर है तो इसलिए कि पुनर्जागरण और राष्ट्रवाद के तथा जातीय निर्माण के अनेक मुद्दे नई भूमडलीय स्थितियो मे रक्षात्मक प्रतिक्रियाएँ है जिनमें उन्हें एक क्रातिकारी तत्त्व नजर आता है।

मौजूदा प्रसग मे मार्क्सवादी पार्टी द्वारा बगाली मूलगामिता के साथ चलने के

पीछे एक कार्यनीतिक मजबूरी ही ज्यादा नजर आती है जिसके अपने दंड हो सकते हैं। इसे मार्क्सवादी लोकभावना का सम्मान कह सकते हैं और उनके विरोधी अवसरवाद कह सकते हैं। जब आप उलझे सवालों को नहीं सुलझाएँगे तो वे आपको इसी तरह परेशान करेंगे। कुछ पहले जब पश्चिम बंगाल विधानसभा में एक कांग्रेसी विधायक ने बंकिमचंद्र चटर्जी की शताब्दी मनाने की माँग की तो वामपंथियों ने कुछ प्रतिरोध किया क्योंकि तब वामपंथियों को बंकिम अधिक हिंदूवादी नजर आते थे। उनकी नजर में तब बंकिम का पाठ आसानी से सांप्रदायिक हो सकता था। शती के प्रयत्न हिंदुत्ववाद को जागृत करने के काम आ सकते थे। लेकिन जब दबाव ज्यादा बढ़ा तो बंकिम को लेकर कुछ करने को वे राजी हो गए। बंकिम को लेकर चली यह बहस बताने के लिए काफी है कि बंगाल के 'पुनर्जागरण' के बहुत-से मूल्य आज भी बंगाल की जनता की मानसिकता का निर्माण करने वाले सक्रिय उत्प्रेरक तत्त्व हैं और संयोगवश भाजपा का राष्ट्रवादी एजेंडा पुनर्जागरण के मूल्यों को लेकर सेकुलरों द्वारा छोड़े हुए स्पेस को छेंके चला जा रहा है। प्रस्तुत प्रसंग में मार्क्सवादी पार्टी के मंत्री द्वारा दी गई सहमति पुनर्जागरण के इसी सक्रिय एजेंडे के दबाव को मानना है। मार्क्सवाद का अंतर्राष्ट्रीयतावाद को त्याग कर स्थानीयतावाद की ओर आना उत्तर आधुनिक राजनीति में आना है। यह उसके संकट और जिजीविषा को बताता है। यह मार्क्सवाद के शैथिल्य का समय है।

बंगाली जन की जातीय और विशिष्ट पहचान अंग्रेजों से टकराव और स्पर्धा में बनी थी जिसमें बहुत-सी विलायती बातों की जगह थी और देशी बातों को सुधार लिया गया था। उन्नीसवीं सदी में निर्मित हुआ बंगाली अभिजन वर्ग अब हिंदी जाति से टकराव और स्पर्धा की ओर धकेला जा रहा है जबकि हिंदी जाति में पुनर्जागरण के कार्यभार उस तरह कभी मुकम्मल नहीं हुए जिस तरह महाराष्ट्र में या बंगाल में हुए। हालाँकि उसने बंगाली पुनर्जागरण से लगातार प्रेरणा ली। हिंदी जाति तो जाति बनने से पहले ही एक मिश्र या संकर जाति है और अब वह भूमंडलीय है जो भाजपा के एजेंडे को भी एक हद के बाद पसंद नहीं करती।

सुनील गंगोपाध्याय का मौजूदा बंगीकरण कहीं न कहीं हिंदी जाति के प्रति उनकी अवधारणा की प्रतिक्रिया में पैदा हो रहा है। अपने विराट भूगोल, अपनी नमनीयता और अपनी अव्याख्येय संग्रहवादी वृत्ति, अभावग्रस्त, अगर्वित और अपने देहातीपन में निर्लज्ज हिंदीपन ने भूमंडलीकरण और उसके बाजार के लिए जिस दिन से निर्णायक-नियामक काम किया है, अन्य जातीयताएँ प्रतिक्रियावादी होने लगी हैं। नए आर्थिक नियमों में हिंदी भाषा और हिंदी चिह्न मुक्त विश्व बाजार के लिए सबसे बड़े चिह्न हैं जिन्हें छोड़कर वणिज नहीं किया जा सकता है और न निवेश किया जा सकता है। अंग्रेजी के बाद हिंदी भारत की लोक-संचालक भाषा है तो इसलिए नहीं कि सरकार ऐसा चाहती है, बल्कि इसलिए कि उसमें सबसे ज्यादा उपभोक्ता

है। यह जो हिंदी जाति का फैलाव है उसके विरुद्ध बहुत सारी स्थानीयतावादी प्रतिक्रियाएँ उसके दबाव की अनुगूँज है। इन दिनों बंगाली को हिंदी से बेचैनी है, स्पर्धा है और कुछ बंगाली बुद्धिजीवी अचानक रक्षात्मक हो चले हैं तो इसीलिए। सुनील बंगाली जाति के व्यतीत गर्व को अंध-बंगवाद की राजनीति से बहाल करना चाहते है जबकि वर्चस्व के पैमाने आज राजनीति मे नही, मुक्त बाजार और पॉपुलर संस्कृति में आ गए है। बंगाली जाति भी पूरी तरह सुनील के अंधवाद से सहमत नही हो सकती है। हमेशा ही नया सोचने में यकीन करने वाली बंगाली जाति पीछे कहाँ तक लौटना चाहेगी? पिछले चुनाव मे बंगाली भद्र लोक ने 'अंग्रेजी हटाने' के विरोध मे वोट दिया था। उसे नैतिक और आचरणमूलक आदेश देना उसे बच्चा समझना और पिछड़ा बनाना है।

यह किसी भी हिंदीवाले के लिए किंचित गर्व की ही बात है कि महान बंगाली भाषा के कुछ बुद्धिजीवी लोग उससे स्पर्धा महसूस करते है। कुछ पहले बुद्धदेव भट्टाचार्य ने मेट्रो टीवी चैनल और हिंदी फिल्मो की अपसंस्कृति के बंगाली संस्कृति पर बुरे असर की बात कही थी। वह इसी पुनर्जागरणकालीन व्यतीत बंगाली अभिमान का परिणाम थी जो पुनर्जागरणकालीन सांस्कृतिक रूपों को एकमात्र रूप मानने से पैदा हुई थी जबकि जमाना पॉपूलर संस्कृति के नए दौर और बाजार की स्पर्धा का है। और, हिंदी तो अपने राज्यों मे अपने पर भी गर्व नहीं करती और न गद्दी माँगती है। पचास करोड़ की भाषा ऐसी गई-बीती तो नही है। अंध बंगवादी ढंग से रक्षात्मक होने से बेहतर रास्ता नई मिक्सिंग और बाजार की स्पर्धा मे उतरने का भी हो सकता है। लेकिन पुनर्जागरण में जमा हुआ मस्तिष्क नए भूमंडल से डरता है। बंगाली दुनिया की सातवें नंबर की भाषा है, हिंदी दूसरे या तीसरे नंबर की। बंगाली संस्कृति मे हिंदी संस्कृति का मेल होता रहा है तो हिंदी संस्कृति मे बंगाली का होता रहा है। हिंदी ने कभी रक्षात्मक या शुद्धतावादी होना नही चाहा, वह इसीलिए आगे बढ़ी है।

दरअसल उक्त व्यवहार हिंदी जाति से एक नितांत सरलीकृत 'डर' पर आधारित व्यवहार है। चूँकि ये दिन जातीयताओं की आपसी बाजारी स्पर्धाओं के है जिसमें हिंदी अपने आकार के बल पर बाजार की निर्णायक बादशाह है, इसलिए बंगाली तत्त्ववाद बहुत ज्यादा टिकने वाला नहीं हो सकता।

मार्क्सवादी पार्टी के सामने जातीयता के प्रश्न अभी आने हैं। यदि कल को भाजपा वाले दिल्ली को इंद्रप्रस्थ और भारत को आर्यावर्त करने लगे तो दिल्ली में उसे क्या करना होगा? मूलगामिता की यह माँग यही नही रुकेगी। वह बंगाल में भी नामों के गैर-मुगलीकरण और भाषा और सांस्कृतिक चिह्नों के गैर-मुगलीकरण गैर-अंग्रेजीकरण और शुद्ध आर्यकरण यानी संस्कृतकरण की ओर भी जा सकती है मूलगामी होना व्यतीत पुनर्जागरण के कार्यभार के जर्जर को ढोना है, क्योंकि आज किसी भी जाति का भविष्य भूमंडलीकरण से ही होकर जाता है, अतीत से होकर

नही। स्थानीयता अलंकार ही हो सकती है, अंतिम सच नहीं। आज के एक फीस
मूलगामी को अंतत सौ फीसदी मूलगामी होना होगा। तव सामाजिक सुधारो के मूल
का क्या होगा? राजा राममोहन राय को विदा देनी होगी क्योकि वे एक पश्चि
तत्त्व ही होगे। कहॉ तक जाएँगे आप? तब त्तो अधिक मूलगामी तत्त्व होगा।

• जनसत्ता, 8 जुलाई, 1999

उत्तर-मार्क्सवाद की दस्तक

हमें जनता को नए सिरे से शिक्षित और प्रेरित करना है। राज्यसत्ता देश और दुनिया के बारे में पुरानी समझ को बदलना है। औद्योगिक समस्याओं को ही लीजिए। पहले हम यूनियनों को आँख मूँद कर आंदोलन करने और झंडा उठाने के लिए कहा करते थे। लेकिन हमें प्रबंधन की समस्याएँ भी समझनी होंगी। हमें पूँजी और उसकी जरूरतों को भी समझना होगा। पूँजी बहुत जरूरी है। नए विचार पैदा करने होंगे। उदाहरण के लिए, शिक्षा मे हमने कभी निजी पूँजी के निवेश के बारे मे नही सोचा। हम मार्क्सवादी तथ्यों के सत्य से सीखा करते हैं। हमें जडसूत्रवादी नही होना चाहिए।.. चारों ओर बदलाव है, हम पीछे नही रह सकते। हमें अपने असगत हो उठने का डर भी है नई पीढी हमारी आलोचना करती है। वह कहती है कि हम उनके मन को नहीं समझते। उनकी जरूरतों को नही समझते। तेजी से बदलते समय की जरूरतों को नहीं समझते।

पश्चिम बंगाल के मार्क्सवादी मुख्यमंत्री की उक्त बातें बताती है कि मार्क्सवादी पार्टी ने त्रिवेंद्रम के कार्यक्रम संशोधनों को ध्यान में रख कर 'नई विश्व परिस्थिति' में नए ढंग का संवाद करने का मन बनाया है और इसके लिए उचित साहस भी दिखाया है। उत्तर-आधुनिक समय मार्क्सवाद भी उत्तर-मार्क्सवाद में बदल रहा है। मार्क्सवाद के भविष्य के लिए यह उचित ही है। इसी रास्ते से हम फासिस्ट स्वदेशीवादियों से अलग हो सकते है।

बुद्धदेव भट्टाचार्य की भाषा किसी भी पुराने कम्युनिस्ट और अनेक मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं के लिए एक नई और बहुत हद तक चौकाने वाली ही नहीं, झटका देने वाली भाषा है। लेकिन इस भाषा मे नई स्थिति के लिए स्वयं को तैयार करने और रखने की कोशिश को रेखांकित किया जाना चाहिए। यह इसलिए भी जरूरी है कि उत्तर-सोवियत दिनो में वियोगी हुए समाजवादी भाव में एक खास प्रकार की रक्षात्मकता घर कर बैठी है जिसके चलते अनेक हलकों में मार्क्सवाद और 'परोनोइया' मे फर्क करना मुश्किल हो रहा है। स्वयं मार्क्सवादी पार्टी के अनेक कार्यकर्ताओं के लिए बुद्धदेव के ऐसे बयानों को आसानी से पचा पाना संभव नहीं होगा। वे अचानक रक्षात्मक होंगे और इसे आपद्धर्म की तरह सही सिद्ध करते रहेंगे, लेकिन उनका दिल

इस सबके साथ नही होगा। आखिर समाजवाद का वह पुराना नक्शा, जो सत्तर साल तक कारगर रहा वह एक 'देखा जा चुका जिंदा सपना' जैसा भी तो नजर आता है और उधर भूमडलीकरण और आवारा पूँजी के अकथनीय जगत् में आश्वस्तियो मे ज्यादा 'खतरे ही खतरे' नजर आते है। सत्तर साल के समाजवादी जगज के सच ने जो विश्व सत्य बनाए थे वे आज भी दुनिया भर के कम्युनिस्टो की स्मृति के सबसे उजले क्षण है क्योंकि पूँजीवाद की दुनिया के बरक्स सत्तर साल तक एक गैरपूँजीवादी महाप्रयोग इसी समाज और समय मे कम्युनिस्टो ने भी सभव किया। उसके बिखर जाने के कारणो मे कम्युनिस्ट अभी सच्चे मन से न गए हों तो भी आज अनेक कम्युनिस्ट विरोधी लोग तक समाजवादी योजना के यो स्थगित हो जाने पर मन ही मन अफसोस करते है। यह उस सच का यो अचानक सपने में बदल जाना है जिसके लिए दुनिया भर के गरीब आज भी रोते है। अगर उसे फिर होना है तो किन कठिनाइयों मे सभव होना है? यह सवाल उस पर रोते रहने से ज्यादा बुनियादी है जिसे मार्क्सवादी पार्टी ने फिर से उठाया है।

मार्क्सवादी पार्टी दुनिया मे अकेली ऐसी पार्टी कही जा सकती है जो पूँजीवादी दुनिया के जनतत्र में स्पर्धात्मक चुनाव जीतकर बुर्जुआ सविधान के भीतर कुछ राज्य सरकारे चलकार उसी सविधान को जनहित मे किसी हद तक मोडने का काम करती रही है और इस कारण कई बार पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा की जनता ने उसे इस काम के लिए चुनना जरूरी समझा है। पश्चिम बगाल मे इस बार मार्क्सवादी पार्टी रिकॉर्ड छटी बार चुनाव के जरिए सत्ता मे आई है। यह घटना अभी उचित परिप्रेक्ष्य मे अपने मूल्याकन का इंतजार करेगी, लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि बदले हुए एकध्रुवीय ग्लोबल जगत् में कम्युनिस्ट अभी खत्म नही होने जा रहे है और कि वे मार खाकर अपने को देर से ही सही उचित बदल रहे है। बुद्धदेव का बयान अपनी नाकगोई मे बताता है कि आने वाले दिनो मे मार्क्सवादी सरकार को अपनी प्राथमिकताएँ और अपनी कार्यपद्धति बदलनी है क्योंकि जमाना बदल चुका है। यह बात वे मार्क्सवादी पार्टी की इजाजत के बिना नही कह रहे। लेकिन इस काम को वे ही कर सकते है क्योकि उनकी छवि एक बदलाव में आए और बदलाव ला सकने वाले कम्युनिस्ट की छवि ही है। छवि का ऐसा उपयोग पार्टी ने ज्योति बसु के रूप मे पहले ही शुरू कर दिया था जो पुराने ढग के मार्क्सवादी शुद्धतावाद मे अतत एक बुर्जुआ हथकंडा ही कहा जाता है, लेकिन अब वह स्वीकृत होने लगा है।

मार्क्सवादी पार्टी ने अपने कार्यक्रमी सिद्धांत को जिस तरह से अमल मे लाने की कोशिश की है उससे सिद्ध है कि वह किताबी मार्क्सवादी ढंग से काम नही करती। उसने बहुत जल्दी से सीखा है। कल तक टीवी को खतरनाक मानने वाली पार्टी ने केरल और पश्चिम बंगाल मे टीवी चैनल शुरू कराए है ताकि मीडिया मोर्चा

जमाया जा सके। कलकत्ता मे सत्ता के गलियारों मे ऐसी अफवाह तक है कि बुद्धदेव भट्टाचार्य ने अपनी भद्रलोकी छवि को जब एक लोकप्रियतावादी नेता की छवि मे बदला तो वह भी एक प्रबध विज्ञानी के विशेषज्ञ की सलाह पर किया। इस चुनाव के कुछ पहले तक बुद्धदेव बांग्ला के ऐसे बुद्धिजीवी नेता लगते थे जो जनता के रोजमर्रा के झमेलों मे पड़ना पसद नही करता। लेकिन मुख्यमत्री बनते ही उनके नाम के साथ उस बुढिया की कहानी जो जुडी तो उसने उन्हें एक नए किस्म का सवेदनशील सकरुण कम्युनिस्ट बना डाला। एक गरीब बुढिया उनके काफिले के आगे आ गई। पुलिस ने उस बुढिया को धकियाया। यह बुद्धदेव से देखा न गया और वे उसे गाडी मे बिठाकर अस्पताल ले गए। कहते है कि इस एक घटना से बगाल मे ज्योति बाबू के बाद एक नया कम्युनिस्ट नायक पैदा हो गया जिसके पास जनता के साथ मिलने-जुलने का भावक्षेत्र नजर आया। यह एक प्रकार का पॉपूलर कल्चर का स्पर्श था जो बुद्धदेव ने किया। लगा कि कम्युनिस्ट भी हाड-मास के आदमी होते है। ज्योति बसु जैसी हस्ती के बारे में ऐसे व्यवहार की उम्मीद वे भी नहीं करते जो उनके प्रशसक नही है।

जब बुद्धदेव और बुढ़िया की कहानी बनी तो लगा कि यह ड्रामा है। लेकिन अब नही लगता है कि वह ड्रामा रहा होगा। खासकर नए समय मे पार्टी के कार्यकर्ताओ को नई स्थितियो को समझने के लिए कहने के बाद कम्युनिस्ट नेता की लोकप्रिय छवि या 'ब्रांड' भी एक विचारधारात्मक काम करती है, यह अच्छी तरह समझा गया। चुनाव के बाद जब लोगो ने उन्हे अपने बच्चों के नाम रखने के लिए बुलाया तो इसे जनता के बीच प्रकट होने का अवसर मान कर बुद्धदेव गए। कहते है बगाल के मध्यवर्ग मे यह मान इससे पहले रवीद्रनाथ को ही जनता ने दिया था। स्वय सर्वमान्य नेता ज्योति बसु को भी जनता ने यह मान नही दिया और बुद्धदेव ने उसे बिना लजाए लिया। कम्युनिस्टो की मीडिया को लेकर चली आती चिढ़ उन्हीं बुद्धदेव ने तोड़ी जिन्होंने कुछ पहले राइटर्स बिल्डिंग में पत्रकारों के कक्ष को तुड़वा दिया था। कम्युनिस्टो के इतिहास मे इन घटनाओ का चौकाने वाली घटनाओं से ज्यादा महत्त्व होना चाहिए। मीडिया को अपना दुश्मन मानते आए कम्युनिस्ट जब मीडिया-मित्र होने लगे तो चिता कम्युनिस्ट विरोधियो को होनी चाहिए।

मार्क्सवादी पार्टी ने ये बातें रो-रोकर समझी है और अब भी हिचक साफ दिखती है। लेकिन बुद्धदेव ने अपने एजेडे के जो सकेत दिए है वे भारत मे कम्युनिस्ट आदोलन के विकास के लिए बेहद बुनियादी किस्म के है। जाहिर है कि इस तरह के सकेतो मे चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा किए जा रहे विश्व बाजार और भूमडलीकरण के साथ समाजवादी प्रयोगो का अध्ययन भी शामिल है। इस बात को वे गैर-कम्युनिस्ट 'समाजवादी' नही समझ सकते जो अभी तक 'प्राच्यवाद' मे फॅसे है। कहने की जरूरत नहीं कि बहुत-से जन्मना अतिक्रातिकारी भी इसे कम्युनिस्टो का पूर्ण बुर्जुआकरण

कहेंगे। मार्क्सवादी पार्टी अपने ढंग से और अपने व्यवहार से उलटकर यह संकेत दे रही है कि जीना है तो बदलना होगा। लेनिन के 'एक कदम आगे दो कदम पीछे' वाली बात से कही ज्यादा जोखिम भरी बात आज है। जो जोखिम लेनिन ने लिया था उससे ज्यादा आज मार्क्सवादी ले रहे है। यही मार्क्सवाद की असल चुनौती है, यही इसके साहस का सबूत है। मार्क्सवाद डरे हुए दिमागों का अस्त्र नहीं है।

मार्क्सवादी पार्टी ने भले अभी कही यह सब न लिखा हो, लेकिन वह इशारा दे रही है कि उसे नए समय मे स्वयं को उचित मात्रा मे बदल कर मार्क्सवाद को नया सस्कार देना है ताकि वह अधिक सगत और व्यावहारिक और लोकप्रिय बन सके क्योकि वह जानती है कि और यह मार्क्सवाद बताता है कि पूँजीवाद के अतर्विरोधो की काट मार्क्सवाद के ही पास है, भले ही वह अतीत में जड बताया जाकर असफल हो गया हो। उसे इसलिए नया होना है क्योकि पूँजीवादी ने नया रूप धारा है जिसके बारे मे कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो मे सबसे पहले मार्क्स ने ही बनाया था। यह भयानक बात है कि पूँजीवाद के जिस भूमडलीकरणवादी ऐतिहासिक सस्करण के नक्शे को मार्क्स ने डेढ सौ साल पहले देख लिया थ, उसे जानने के लिए उसके मानने वालो को सोवियत संघ का विघटन देखना पडा। इस सदर्भ में चीनी पार्टी की समाजवादी नियमन और बाजारवादी स्पर्धा, वितरण और अतिरिक्त आय बन कर पूँजीवादी मडियो मे स्पर्धा करने की नीति स्वय यह बताती है कि यदि पूरी तरह खत्म नहीं होना हे तो जहाँ जरूरत हो वहाँ बदलना होगा। जिस तरह पूँजीवाद ने पिछले सत्तर साल मे समाजवादी दुनिया से सीखा है उसी तरह अब आकर कम्युनिस्ट पूँजीवादी तौर-तरीका से कुछ सीख कर चलने लगे है।

वुद्धदेव के ये ऐलान और संभव प्रयोग पूँजीवादी ज्ञान प्रणालियो को मार्क्सवाद और समाजवाद की सेवा मे लेकर दरअसल उस शीतयुद्धीय 'अलगाववाद' को विदा कर रहे हैं जिसमे सब तरह के कम्युनिस्ट खूब ही दीक्षित रहे है। इस अलगाववाद की खास बात रही कि जो दुश्मन का है वह 'कोटि बैरी सम' तजने काबिल है और उससे लेन-देन ठीक नहीं। तकनीक, प्रबंधन कला और मीडिया के बारे मे अब तक कई मार्क्सवादियो की समझ यही रही है कि ये सब पूँजीवादी साजिशे है। इस कट्टर सांच पर सबसे वड़ा हमला चीन के वाजारोन्मुखी सुधारो ने किया और अब यहाँ मार्क्सवादी पार्टी अपने ढंग से कह रही है।

जरा सोचिए, कल तक वाममोर्चे के लिए कंप्यूटर प्रणाली खतरनाक-सी थी, अब वह अपने प्रमुख सचिव को माइक्रोसॉफ्ट के अमेरिका स्थित सीएटल में उसके दफ्तर भेजती है कि बिल गेट साहब जरा नए समय मे कंप्यूटर और समाज के प्रशासन की प्रविधि लाइए-बताइए। कल तक अंग्रेजी बंगाल के स्कूलों से गायब थी, अब आई.बी.एम. से कहा जा रहा है कि जरा हमारे स्कूलो को स्पर्धात्मक बनाने के लिए कोई प्रबंध कार्यक्रम दीजिए। विप्रो नामक सूचना तकनीक के भारतीय बहुराष्ट्रीय निगम

को आनन-फानन काम करने के लिए जगह दी गई है। औद्योगिक सुधार के लिए बहुराष्ट्रीय मेकिंसी को ठेका दिया जा रहा है कि बताइए क्या करें।

बेहद जड़ मार्क्सवादी के लिए ही ये कदम बाजारी मार्क्सवादी हो सकते हैं। बुद्धदेव का कहना है : व्हाट आई वांट मोस्ट इज स्पीड। उन्हें 'तेजी' चाहिए। वे मानते हैं कि हम पिछड़ गए हैं। अगर गति नहीं आई तो हमारे हाथ कुछ नहीं रहना है। हमें परिवर्तन की आवाज सुननी होगी और तेजी से बदलना होगा। आने वाले दिनों में मार्क्सवादी पार्टी के समक्ष लेनिनवादी पार्टी संगठन और प्रबंधन के बरक्स तकनीक प्रबंधन के पहलू खुलेंगे और उन्हें हल करना ही असल सफलता होगी।

• जनसत्ता, 19 जून, 2001

भूमंडलीकरण और मार्क्सवादी पार्टी

पहले ममता बनर्जी ने भाजपा से मिलकर पश्चिम बगाल में मार्क्सवादी पार्टी को सत्ता से हटाने के लिए राष्ट्रपति शासन की माँग की। बाढ ने उनके उस विरोध की हवा निकाल दी। वाममोर्च की कठिनाइयाँ बढ़ा दी। वाममोर्चे की सरकार उन कठिनाइयो से जूझ ही रही थी कि चुनाव आयोग ने वाममोर्चे के सबसे बडे घटक और नायक मार्क्सवादी पार्टी को 'राष्ट्रीय पार्टी' की जगह 'क्षेत्रीय पार्टी बना दिया। ममता से तो मार्क्सवादी पार्टी जूझ लेती लेकिन इस पदहानि का क्या करे? अपने शुरुआती दिनो से ही मार्क्सवादी पार्टी को राष्ट्रीय पार्टी का दरजा मिलता रहा है। अपने छत्तीस साल के इतिहास में वह लगातार आगे बढी है। यह गति धीमी रही है लेकिन गति मे जरूर रही है। उसने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को पीछे छोडने म सफलता हासिल की है। वह तीन प्रदेशों में सरकारे चला रही है। ससद में उसके तीस से ज्यादा सदस्य है। उसके पास कुल वोट का कोई साढ़े पाँच फीसदी वोट है। तीन राज्यो मे सरकारो के अलावा वह लगभग हर राज्य में राज्य स्तर की इकाइयाँ रखती है। दर्जन से ज्यादा राज्यों मे वह प्राय विधानसभाओं मे प्रतिनिधित्व भी करती रहती है और आज भी कर रही है। यानी आज भी वह ससद मे तीसरे नबर की पार्टी है। ऐसे मे उसे राष्ट्रीय स्तर के दल से नीचे जाना पड़े तो यह एक तकलीफदेह बात है। जरूर चुनाव आयोग के नियमों में कोई ऐसी खोट है जिनके चलते किसी मामूली वोट के फेरबदल से राष्ट्रीय पार्टी क्षेत्रीय पार्टी बना दी जाती है। पार्टी ने उचित ही विरोध किया है और चुनाव आयोग से नए यथार्थ को ध्यान मे रखकर नियमों मे परिवर्तन की माँग की है।

यों किसी भी कम्युनिस्ट पार्टी के लिए किसी ससदीय खेल में पिछड जाना कोई बड़ी बात नहीं होती। संसदीय राजनीति में कम्युनिस्ट पार्टियाँ ज्यादा यकीन नहीं करती। मार्क्सवाद का पुराना सिद्धात संसद को बुर्जुआवर्ग का सूअर बाड़ा मानता है। फिर कम्युनिस्ट पार्टियाँ 'अतर्राष्ट्रीय' ही होती है लेकिन अरसे से भारतीय सदर्भ म कुछ नक्सलपथी सगठनों को छोडकर लगभग सब कम्युनिस्ट पार्टियों ससदीय और

कम्युनिस्टों से ज्यादा महारत हासिल की है उसने संसदीय और गैर संसदीय तरीकों का किसी हद तक सफलतापूर्वक इस्तेमाल करके अपना आधार लगातार बढ़ाया है। पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी पार्टी का विराट जनाधार इसका परिणाम है। वहाँ उसने भूमिसुधार किए हैं। किसानों का जीवन बेहतर किया है। धर्मतत्त्ववाद को जगह नहीं लेने दी है। केरल और त्रिपुरा में उसका जनाधार इसी नीति से बढ़ा है। अन्य क्षेत्रों में भी वह अपनी साख बना सकी है तो अपने समर्पित कार्यकर्ताओं और अत्यंत सुथरे नेतृत्व के कारण। आप ए.के. गोपालन, ई.एम.एस. नंबूदिरीपाद, ज्योति वसु आदि नेताओं को किसी भी बड़े बुर्जुआ राष्ट्रीय नेता यथा नेहरू या इंदिरा गाँधी से कम नहीं पा सकते। कम्युनिस्टों से बाहर के हल्कों में भी इन नेताओं का सम्मान देखा जा सकता है। लेकिन पिछले आठ-दस सालों में नाना कारणों से कम्युनिस्ट आंदोलन कमजोर होता गया है। समाजवादी सोवियत संघ के बिखर जाने के बाद कम्युनिस्ट विचार के सफल होने को जो धक्का लगा उसका असर जग-जाहिर है। कम्युनिस्ट सिद्धांत वेत्ताओं द्वारा सोवियत के गिरने के कारणों को अभी तक पूरी तरह से विश्लेषित नहीं किया गया है। पतन को अमेरिकी साम्राज्यवाद का षड्यंत्र जैसा ही माना जाता रहा है। ऐसे दस्तावेज कम हैं जो उस पतन को समझने की कोशिश करते हैं। यदि उसे षड्यंत्र मानते हैं तो इस सवाल का जवाब देना मुश्किल होता है कि इतना सफल सिस्टम षड्यंत्र का शिकार कैसे हुआ? और क्यों सोवियत को सँभालने वाली समूची सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी स्वयं को बेकार कर बैठी? सत्तर साल के शासन के बाद भी जब कोई पार्टी अपने भार से ही बैठ जाए तो दूसरे का दोष क्या देना वह तो अपनी सी करेगा ही सवाल यह होगा कि आप क्या करते रहे? सोवियत के बिखरने के बाद दुनिया और दुनिया की कम्युनिस्ट पार्टियाँ वही नहीं रहनी थी जो कि थी। जिस पूँजीवाद को कम्युनिस्ट पार्टियाँ पतनशील और मरणासन्न कहती थीं वह अपने तमाम संकटों को पार करता चला आया जो स्वयं संकटविहीन समझते रहे वे फँस गए। शीत युद्ध इस तरह खत्म होगा किसी ने न सोचा था। अब एकध्रुवीय दुनिया है। तकनीकी क्रांति ने विचारधारा को अपदस्थ कर दिया है। राष्ट्रों की पुरानी भौगोलिक सीमाएँ गायब हो चुकी है। विश्व एक अनिवार्य मंडी में बदल गया है। कम्युनिस्ट पार्टियों के संगठनात्मक ढाँचे इस उत्तर-आधुनिक समय के लिए नहीं बने थे। वे औद्योगिक दौर के परिणाम थे।

विश्व एक अनिवार्य मंडी बनेगा व्यापारी वर्ग यानी बुर्जुआवर्ग धरती के कोने-कोने में अपना अड्डा जमाएगा। वह हर चीज को बदलता चलेगा। वह हर ठोस चीज को पोला कर देगा। ऐसी बातें मार्क्स ने कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो में आज से कोई डेढ़ सौ साल पहले लिखी है। कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो को आज पढ़ें तो लगता है कि बाबा मार्क्स जो आज हो रहा है उसे इतना पहले देख रहे थे। लेकिन जो वे देख सके और लिखकर बता गए आज के मार्क्सवादियों ने उसे उस तरह नहीं समझा।

नतीजा सामने है। वे पीछे हट रहे है। नया पूँजीवाद, अट्टहास कर रहा है।

जव से विश्व एक मडी बना है तब से वे अतर्विरोध उस तरह से नही नजर आते जिस तरह से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद नजर आते थे। एक ओर समाजवाद था। दूसरी ओर साम्राज्यवाद है। यह मुख्य अतर्विरोध था। शेष अंतर्विरोध इसी की चाल पर निर्भर करते थे। इसलिए समाजवाद को मजबूत करो। यह नीति किसी हद तक कामयाब रही। लेकिन इस समय मे वह समाजवाद कहाँ से लाएँ जो साम्राज्यवाद को टक्कर दे सके। कहाँ है ऐसा समाजवाद? चीन मे स्वयं पूँजीवाद को नियत्रित करता बाजारी समाजवाद है तो साम्राज्यवाद से कैसे लड़े? पुराने आकलन वाले कम्युनिस्ट परेशान रहते हैं। जाति, धर्म, सप्रदाय, नस्ल, पहचान, स्थान और लिंग के मुद्दे वर्गीय मुद्दों की जगह लेने लगे है। मजदूरवर्ग विभक्त है। भूमडलीकरण, तकनीकी क्रांति और मंदी की वजह से बेरोजगारी है। किसान जनता बरवाद है। मध्यवर्ग प्रतिक्रियावादी है। एक कम्युनिस्ट का सोच इन दिनो अकेलेपन की व्याधि इसी तरह ग्रस्त है। वह हर तरफ से अकेला है। नए लोग उसके साथ नही आते। पुराने लोग और वर्ग उस रूप में बच नहीं रहे। चीजें तेजी से बदल जाती है। वह नहीं बदल पाया। भाजपा टाइप के पुरातन पंथी प्रतिक्रियावादी सगठन वक्त को देख खुद को चुपके से बदलने की कोशिश करते है। सब दल बदल रहे हैं लेकिन सबसे धीमे बदलने वालों में कम्युनिस्ट है। पुराने जमाने में किसी भी परिवर्तन का आकलन सबसे पहले कम्युनिस्ट करते थे और जरूरत के अनुसार बदलते थे। इन दिनो दुनिया बदलती है. वे ही नहीं बदलते। वे अपने महान् अतीत के उजड़ जाने के बाद किसी तरह आज की इस आफत से छुटकारा पाने के इतजार मे रहते है। एक आसान, सुलक्षित और सुस्पष्ट शत्रु उन्हे चाहिए। शत्रु अब इतना सीधा, साफ नहीं रहा। समस्या है न जर्मान की लडाई सीधी है, न विचार की लडाई। उपभोक्तावादी स्पस, लिंग अन्याय का स्पेस और जाति न्याय के न सांस्कृतिक स्पेस बने हैं और लड़ाइयाँ उलझ गई हैं। ट्रेडयूनियनवाद बदल गया है।

मार्क्सवादी पार्टी अब तक जिस वर्गीय राजनीति और ससदीय राजनीति का कई राज्यो में नीचे से ऊपर की ओर सयुक्त मोर्चे की नीति मे बदल कर चलती रही वह जमाना चला गया। भाजपा के आ जाने के बाद तीसरे मोर्चे की कल्पना भी विला गई। कम्युनिस्टों के जनाधार को पहले मंडल ने तोड़ा फिर कमंडल ने तोडा। अब भूमंडल तोड रहा है। कम्युनिस्ट लोग जाति को किसी तरह अपने वर्ग के बराबर मान भी ले, लेकिन जाति का भाई धर्म जब सामने आता है तो उनके हाथ-पैर फूल जाते हे। वे कार्यनीतिक ढंग से धर्मनिरपेक्षता के सही नारे को लगातार अडिग भाव से चलाते रहे हैं लेकिन वे साप्रदायिक ताकतो के हाथ से छीन कर समाज मे धर्मनिरपेक्षता को राजनीतिक ताकत मे नही बदल पाते। जबकि हिंदुत्ववादी ताकते अंधराष्ट्रवाद और हिंदुत्व का घातक घोल तैयार करने में कामयाब हो चुकी है। हिंदुत्व

स इस्लामिक तत्त्ववादी सिख तत्ववादी दैनिक जुगलबंदी करते चलते है और जीवन मे धर्मनिरपेक्ष स्पेस सिकुडता जाता है। कम्युनिस्ट ऐसी रणनीति नही बना पाते जिसस वे इन धर्म समूहो के अँधेरे दिमागो से संवाद कर सकें? उन्हे डर लगता है कि ऐसा करने से उनका मार्क्सवाद गडबडा जाएगा। धर्म हावी हो जाएगा। हिदुत्ववादी लोग तत्ववाद का नारा देकर हिदू राष्ट्र का नक्शा बनाने में लगी है और कम्युनिस्ट इस वैचारिक उपक्रम को ठीक तरह से समस्या-ग्रस्त नही बना पाते। कम्युनिस्ट नवजागरण के एजेंडे को हाथ नही लगा पाते । नवजागरण के पुरखो ने धर्म के भीतर धँस कर तत्त्ववादियो से बहसें जीती थीं। कम्युनिस्ट उधर हिम्मत नहीं करते। हिंदी समाज से उनका कोई सवाद नहीं होता। नतीजा कि हिंदुत्व अभी तक बिना किसी वेकल्पिक हिदू वैचारिक चुनौती के बढा चला आता है। जबकि उसके पास भविष्य का कोई भी नक्शा नहीं है। भविष्य का आज भी कोई नक्शा है तो कम्युनिस्टो के पास ही है। पूँजीवाद जब तक है कि तब तक मार्क्सवाद को किसी न किसी रूप मे रहना है। नए पूँजीवाद की काट गए मार्क्सवाद मे ही हो सकती हे। तो समस्या मार्क्सवाद की नही उसके वादी की है।

अपनी गिरती हालत मे भी मार्क्सवादी पार्टी ही अकेली ऐसी बडी पार्टी है जो फिर से नया मार्क्सवाद बना सकती है। उसके पास समर्पित कार्यकर्ताओ की बडी फौज है। उसके पास नया नेतृत्व है। हाँ, इसके लिए उसे नए को समझना होगा, अपने पेरानोइया मे निपटना होगा। नए पूँजीवाद के अन्तर्विरोधो को समझना होगा। हिंदुत्ववादी अपनी पूरी ताकत लगाकर भी बहुमत नही हो सकते। आज भी उदार प्रगतिशील और मानवतावादी हिदू-मुसलमान-सिखो की बहुतायत है। अनन्त कम्युनिस्ट हमदर्द देश भर मे बिखरे है। कम्युनिस्ट विचार के प्रति नई जिज्ञासा भी बढती देखी जा सकती है। नए भूमंडलीय पूँजीवाद की धरती पर अब सघर्ष जितन स्थानीय होगे उतने ही ग्लोबल होंगे। ग्लोबल सघर्षो को कम्युनिस्ट ही बेहतर लड सकते हैं। बशर्ते वे स्वय के ग्लोबल भाव को जगाएँ और स्थानीय भाव को समझे। अपनी आलोचना खुले दिल से सुने। अपनी कमियो को निहारे। स्वय को हमेशा सही समझने के रोग से मुक्त हो। तकनीक चतुर हो। वास्तव में जनतान्त्रिक बने।

• **राष्ट्रीय सहारा, 7 अक्टूबर, 2001**

बाज़ार की दोस्त हिंदी

हिंदी भाषा तेजी से बदल रही है। इसका कारण हिंदीभाषी क्षेत्रों में हो रहा तेज बदलाव है। यह बदलाव खुले बाजार की व्यवस्था द्वारा उद्भूत प्रक्रियाओं का फल है। साथ ही यह बदलाव नए सूचना-वातावरण, मीडिया विस्फोट और जीवनशैली के बदलाव का परिणाम है। यही नहीं, अब बदली हुई भाषा उलटकर जीवनशैली को तेजी से बदल रही है। भाषाओं के बदलने में व्यवसाय और बाजार की हमेशा निर्णायक भूमिका रही है। भाषा बरतने के दौरान ही बदलती है। यूँ तो भाषा हर वक्त बदलती है लेकिन बाजार की शक्तियाँ उसे कभी-कभी तेजी से बदलती हैं। बदलनी चाहिए। हिंदी के साथ यही हो रहा है। ऐसे परिवर्तन को देखकर एक सहज प्रतिक्रिया भाषा के शुद्धतावादी आग्रह के रूप में प्रकट हुआ करती है। परम्परागत शब्द, वाक्य जब नए बनने लगते हैं तो परम्परागत शब्दों की आदी जुबान और कान कष्ट पाने लगते है। चूँकि भाषा के बदलने का अर्थ 'जीवन का बदलना' भी है इसलिए 'न बदलने वाले' तत्त्व ऐसी परिवर्तनकारी स्थिति में बड़ा कष्ट पाते हैं। वे नहीं मानते कि कोई भी भाषा कभी भी 'शुद्ध' नहीं रही, न रह सकती है और बदलना उसकी प्रकृति है। हिंदी के बदलने को लेकर इन दिनों अनेक लोग कष्ट में हैं।

आधुनिक इतिहास में हिंदी संभवतः पहली बार 'बाज़ार की भाषा' बन रही है। बाजार की भाषा यानी बाजार बनानेवाली भाषा और बाज़ार में बनी भाषा। इससे पहले तक हिंदी का स्वरूप व्यवसाय के क्षेत्र में बनने की जगह जनसंचार के क्षेत्र में बनता रहा है। हिंदी पत्रकारिता की भाषा के आरंभिक नमूने हिंदीभाषी क्षेत्रों में न बनकर बंगलाभाषी क्षेत्रों में बने और बाद में हिंदी में बने। हिंदी क्षेत्र तब व्यवसाय की दृष्टि से पिछड़ा था। औद्योगिक दृष्टि से भी पिछड़ा था। जिस हिंदी को हम यहाँ बरत रहे हैं, उसका स्वरूप पत्र-पत्रिकाओं, विश्वविद्यालयों में तथा अन्य शैक्षणिक संस्थाओं में विद्वान लोगों द्वारा, लेखकों, साहित्यकारों द्वारा बनाया गया है। आम लोगों की हिंदी में स्थानीय बोलियों का मिश्रण बना रहा है। इसीलिए अभी तक हम हिंदी के दो भेद ही कहते हैं। एक परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) हिंदी, दूसरी बोलचाल की हिंदी। बोलचाल की हिंदी में स्थानीय भाषाओं के रूप मिश्रित रहे हैं जिन्हें परिनिष्ठित

दृष्टि से हमेशा 'वाला' या 'वालियाँ' कहा गया। अब एक नई भाषा पैदा हो रही है . व्यावसायिक हिंदी। आनेवाले दिनों में दो भेद ही रह जाने चाहिए : परिनिष्ठित हिंदी और व्यावसायिक हिंदी।

यों व्यावसायिक हिंदी का एक रूप उपलब्ध रहा है। दस-पंद्रह वर्ष पहले कई विश्वविद्यालयों में बी.ए. की कक्षाओं में व्यावहारिक एवं व्यावसायिक हिंदी से संबंधित आंशिक पाठ्यक्रम शुरू हुए थे। आजकल कुछ जगहों पर इन्हें पूर्ण पाठ्यक्रम बना दिया है। व्यावसायिक हिंदी के एक रूप का परिचय हमें यहाँ मिलता है।

मौजूदा व्यावसायिक हिंदी बैंकिंग के क्रिया-कलाप से संबंधित है। कुछ आगे चले तो यह व्यावसायिक हिंदी कार्यालयों में काम करने की प्रविधियों को हिंदी में ढालने का काम करती है। मसलन्, विभिन्न प्रकार के व्यवसाय संबंधी पत्राचार के तरीके सिखाने से लेखा, टेंडर भरने, कंपनी रिपोर्ट तैयार करने के तरीकों को यहाँ बताया जाता है। इन कामों में बार-बार आनेवाले अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

इस व्यावसायिक हिंदी के कार्यक्षेत्र मूलतः बैंक या व्यावसायिक कार्यालय हैं। यहाँ टिप्पण, संक्षेपण, पल्लवन आदि काम होते हैं। मौजूदा व्यावसायिक हिंदी क्लर्क की हिंदी है जो हिंदीभाषी लोगों के लिए नोटिस की जगह 'टिप्पण' करता है 'ब्रीफिंग' की जगह 'संक्षेपण' करता है। यह अंग्रेजी पत्राचार का सीधा अनुवाद है। यही है मौजूदा व्यावसायिक हिंदी। बैंकों में खाता खोलने के प्रारूप की भाषा, पे-इन-स्लिप भरने वाले फार्म की भाषा इसी तरह अनुवाद पर टिकी है। यह व्यावसायिक हिंदी मूलतः व्यावसायिक अंग्रेजी का हिंदी रूपांतर भी है। अब जाकर कुछ बैंकों में यह अनुवाद कुछ बेहतर हुए हैं।

जीवन के अन्य व्यवसायों में इस हिंदी का प्रचलन नहीं के बराबर है। कई जगह बैंकिंग शब्दावली के अनुवाद इतने कठिन और कष्टप्रद हैं कि अंग्रेजी के काठिन्य की बराबरी करते हैं। इस हिंदी को बनाते वक्त सिर्फ अंग्रेजी का ख्याल रखा गया और देशी व्यापारियों और बैंकरों की पुरानी भाषा से नहीं सीखा गया। 'फिक्स्ड डिपॉजिट' का 'सावधि जमा योजना' कर दिया गया। सावधि की जगह 'मियादी' भी संभव था लेकिन शुद्धतावादी निर्माताओं ने ऐसा न किया। 'सावधि' में जो दीर्घसंधि निहित है, उसका रहस्य सामान्य जमा खाता या मियादी खाता खोलने वाला नहीं समझता। उसके लिए 'सावधि' और 'फिक्स्ड' दोनों ही बराबर हैं। ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाएँगे। इससे इतना तोष भर होता है कि हाँ! हम हिंदी में कार्यालय चला रहे हैं लेकिन इससे व्यवसाय पर कुछ खास फर्क नहीं पड़ता। ग्रामीण क्षेत्रों में खुले बैंकों में यह समस्या अधिक स्पष्ट होती है। जहाँ ऐसे अनुवाद उतने ही व्यर्थ होते हैं जितने अंग्रेजी के शब्द।

इसलिए, बैंकों में 'हिंदी में कार्य करें' आदि बोर्ड लगने के बावजूद लोगों के

बीच एक नइ भापा धीरे-धीरे बनती गइ। यह भापा बकों, सरकारी दफ्तरो म बनी। यह जनसंपर्क के प्रथम क्षण मे ही बनने लगती है जिसमे अंग्रेजी के बहुत-से शब्द या तो यथावत् या फिर किसी और रूप में ढल जाते हैं। कई बैंकों ने इसका नोटिस लिया और अपने कागजात का बदला। लेकिन मौजूदा व्यावसायिक हिंदी बहुत सीमित अर्थो में व्यावसायिक है। व्यावसायिक न कहकर हम इसे कार्यालयी या व्यावहारिक हिंदी कह सकते है। इन दिनों हिंदी क्षेत्र बाजार और व्यवसाय तेजी से फैला रहे हे। व्यावसायिक हिंदी के नाम पर एक वार फिर यहॉ की हिंदी बदल रही है। यहॉ हर किस्म की हिंदी जन्म ले रही है। इसमे अनेक अंग्रेजी के शब्द यथावत् या कुछ भ्रष्ट होकर हिंदी के बन चले है। हम पाते है कि हिंदी का हर बडा दैनिक इन दिनों वाणिज्य सबधी सूचनाएँ विस्तार से छाप रहा है। कुछ अखबार न्यूनतम एक से दो पृष्ठ तक सिर्फ वाणिज्य समाचारो को देते है। इन पृष्ठो को नवभारत 'बिजनेस टाइम्स' कहता है, दैनिक हिदुस्तान 'बाजार' या 'कारोबार' कहता है। इनमे विभिन्न कपनियो के ऑकडे शेयर बाज़ार के उठने-गिरने की बडी खबरे, कपनी रिपोर्टे और वित्तीय विश्लेषण होते है। इससे स्पष्ट है कि हिदी मे व्यापार और बाजार मे दिलचस्पी रखन वाला एक विराट मध्यवर्ग पैदा हो गया है। इन अखबारो तथा कुछ अन्य अखबारा की भापा बाजार की वह नई भाषा है जो बहुत-से अंग्रेजी शब्दों को यथावत् अपना रही है। इससे अनेक नए शब्द प्रचलन में उतर रहे है। कंपनी, डिलीवरी, सप्लाई प्रोजेक्शन, शेयर, स्टॉक, इन्फ्लेशन आदि शब्द देखते-देखते प्रचलन मे आए है। हपद मेहता प्रकरण ने 'किक बैक' जैसे शब्द को हिंदी मे चला दिया। कोई सर्वेक्षण करे तो पाएगा कि इस वक्त हिंदी में पॉच-सात फीसदी नए अग्रेजी शब्द प्रचलित हुए हे। ये तमाम व्यापार और उद्योग से सबधित है। शेयरो के नाम, कपनियो के नाम सभी अंग्रेजी मे ही चलते है। इसी मे से नई भापा बनती है। नमूने के लिए 'डीसीएम श्रीराम लीजिंग एण्ड फाइनेंस लिमिटेड' का यह विज्ञापन देखिए जो 'डिमांड ड्राफ्ट' 'बैंक चार्जेस' 'वारट' 'डेटेड', 'पोस्टेड' को हिंदी मे अच्छे ढग से चलाता है।

यह और ऐसी भापा नए बाजार की भापा का एक नमूना है। ये अग्रेजी से शुद्ध अनुवाद के कारण नहीं है। जरूरत पडने पर सीधे अग्रेजी शब्दों को यहॉ ले लिया जाता है और अग्रेजी के वाक्य मे से हिदी का वाक्य बना लिया जाता है। उसी तरह अग्रेजी वाले बहुत-से हिंदी शब्दों को अग्रेजी का बनाकर पेश करते हे। व्यवसाय की तेज शक्तियो ने जनता को व्यावसायोन्मुख करने के लिए भापा को बदल दिया है। नई व्यावसायिक हिंदी को इस तथ्य का नोटिस लेना चाहिए। जिस रूप मे 'व्यावसायिक हिदी' की कल्पना की जाती है वह नए बाज़ार की नई व्यावसायिक हिंदी से मेल नहीं खाती। उसे मेल खाना चाहिए। इस क्रम में उपलब्ध और निर्धारित व्यावसायिक हिदी को नए बाजार के अनुकूल दुरुस्त किया जाना चाहिए। कठिन अनुवादो की जगह प्राय प्रचलित अग्रेजी शब्दों को यथावत् या थोडा घिस के रखा

जा सकता है, मसलन्, काल मनी के लिए शीघ्रावधि द्रव्य मुद्रा की जगह काल मनी' ही चलाया जाए तो वह जुबान पर ज्यादा चढेगा। 'कन्फिस्केशन' के लिए 'अधिहरण' की जगह 'जब्त' या 'कुर्क' ही रहने दिया जा सकता है। यह एक जरूरी वक्त है कि व्यवसायों के बीच नई बन रही हिंदी का व्यापक सर्वेक्षण किया जाए और नई शब्दावली बनाई जाए।

हिंदी भाषा के बदलने का एक बड़ा कारण बाजार की शक्तियाँ और इनमे उपभोक्तावादी शक्तियाँ है जिन्होने पिछले पाँच-सात वर्षो के बीच हिंदी के भीतर एक उपभाषा (सब-लैंग्वेज) पैदा कर डाली है जिसे लोग 'हिंग्रेजी' कहते है। नए संपन्न मध्यवर्ग ने और उसकी देखा-देखी निचले मध्यवर्ग ने इस भाषा को अपनाया है और वही बाजार में उपभोक्ता के रूप मे तथा उद्योग और सेवा के क्षेत्र मे नई गतिशील ताकत के रूप मे मौजूद है। इसे नई भाषा और उसकी व्यवस्था की बेहद जरूरत है। विचित्र यह है कि जिस नई 'हिंग्रेजी' को वह बरत रहा है वह भाषा उसे बाजार मे आने-जाने और मनोरंजन के क्षेत्र से मिल रही है। मनोरंजन, खासकर टीवी के मनोरंजन कार्यक्रम ने उसे यह अहसास दिया है कि असल हिंदी शुद्ध हिंदी नही है बल्कि उसमे पाँच-सात फीसदी अंग्रेजी के शब्द भी स्वीकृत हैं। मनोरंजन के क्षेत्र मे उपभोक्ता बनी नई पीढ़ी की भाषा ऐसी ही 'हिंग्रेजी' है। इसे भी व्यवसाय की नई हिंदी की जरूरत है। यह पिछले जमाने से किए गए 'शुद्ध अनुवादों' से परहेज रखती है। वह अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों से गुरेज नहीं करती। इसलिए भी व्यावसायिक हिंदी का स्वरूप बदलना है।

अब प्रश्न यह उठना है कि खुले बाज़ार की अर्थव्यवस्था में हिंदी का व्यावसायिक स्वरूप क्या होगा और कैसे होगा? सबसे पहले भाषा को 'बाजार-मित्र' होना होगा। शब्दावली तथा पाठ्यक्रम निर्माताओं को अपने पुराने ढग के भाषा बोध को छोड़कर यह समाजशास्त्रीय एव भाषा वैज्ञानिक सत्य स्वीकार करना होगा कि बनाई जाने वाली सस्थानिक भाषा किताबो और कोशों से नही बनाई जाती बल्कि स्थानीय वाचकों, बरतने वालों, बाजार मे बैठने वाले दुकानदारो, पल्लेदारो, मजदूरों, किसानो, व्यावसायियो, बेकरो आदि के यहाँ वाणिज्य के तमाम स्तरो पर बन रही भाषा के बीच से स्तरीय शब्द चयन के जरिए बनती है और वहीं से उसे चुना जाना चाहिए। तो नए खुले बाजार की अर्थव्यवस्था के 'मित्र' के रूप में ही नई भाषा बनाई जा सकती है, 'शत्रु' के रूप में नहीं। मौजूदा व्यावसायिक हिंदी बाजार-मित्र नहीं है, बाजारोन्मुख नहीं है। उसे होना चाहिए। इस क्रम मे यह बात और ध्यान मे रखी जानी चाहिए कि बाजारोन्मुख जनसंचार माध्यमो में भी वह भाषा रोज बनती-बिगडती है और नए शब्दकोश यहीं से बनाए जा सकते हैं। विभिन्न संचार चैनलो मे आकर भाषा निरतर चचल रहती है इसलिए शब्दावलियाँ, या कोशो में सतत सुधार चाहिए।

चूँकि भारत विश्वबाजार का अग बन रहा है और विश्वबाज़ार मे भारत भी

यथाशक्ति अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहा है, इसलिए एक खतरा और एक नया अवसर हिंदी के समक्ष उपस्थित हो रहा है। खतरा यह कि विश्वबाजार में अंग्रेजी का वर्चस्व स्वीकार किया जाता है और इसलिए यह माना जा सकता है कि बाहर के बाजार मे हिंदी की कोई उपादेयता नही है। नए मध्यवर्ग मे अंग्रेजी के प्रति अंधमोह इसी बोध का नतीजा है। लेकिन यहीं एक नया अवसर भी है जब बाहर के बाजारो मे हिंदी ब्रांड (या भारतीय भाषाओं में भारतीय ब्रांड) अपने ढग से चलें। चूँकि बाजार की भाषा मूलत ब्रांड की भाषा होती है इसलिए यह अवसर भी हो सकता है कि भारतीय ब्रांड अपने 'हिंदी संस्करणों' के साथ बाजार मे उतरे। ऐसे अवसर पर हिंदी के नए व्यावसायिक रूप की जरूरत बनेगी और सिर्फ 'अंग्रेजीवाद' के खतरे से निपटा जा सकेगा। इससे ही निकलने वाला विचार बिंदु यह है कि चूँकि बाजार की व्यावसायिक भाषा ब्रांड की भाषा है और यह ग्लोबल ब्रांडिंग का जमाना है इसलिए हिंदी के सिर्फ व्यावसायिक रूप पर ही ध्यान न दिया जाए बल्कि उसके ग्लोबल रूप के निर्माण को देखा जाए जिसमें अंग्रेजी के ही क्यों, दुनिया भर की भाषाओं के नए-नए शब्द जुड सकते है।

व्यावसायिक हिंदी के शुद्धतावाद ने आम लोगों में यह भावना दृढ की है कि हिंदी मे व्यवसाय करना कठिन और हास्यास्पद कार्य है। यह इसलिए है क्योंकि मौजूदा व्यावसायिक हिंदी एकेडेमिशियनों, पत्रकारों ने बनाई है, जो बहुत दूर तक बाजार-मित्र नही हो सकती। हमें यह अहसास कराना होगा कि नई व्यावसायिक हिंदी पिछडे हिंदी बेल्ट की हिंदी नहीं एक ग्लोबल हिंदी है जो बाजार की दोस्त है। यानी हमें भाषा के अर्थशास्त्र की ओर भी देखना होगा। चूँकि बाजार, ब्रांड और संचार एक-दूसरे से एकदम जुडे है, अत निर्भर है अत यह भी जानना होगा कि भाषा भी अंतर्निर्भर है। शब्द की सटीकता और शब्द का तुरत चयन सही-सही संचार के लिए आज बहुत जरूरी है। एक मामूली-सी शाब्दिक गलती भी आज तुरत और व्यापक किस्म का फायदा या नुकसान करती है। भाषा के प्रति आज बाजार पहले से अधिक सचेत और संवेदनशील है। कम्प्यूटरों के उपयोग ने इस संवेदनशीलता को बढाया है इसलिए हम भाषा के अर्थशास्त्र को भी समझकर चलना होगा।

● विकास प्रभा, जुलाई-सितंबर, 1995

भूमंडलीकरण, मीडिया और हिंदी

भूमडलीकरण की प्रक्रिया एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है इसे एक प्रक्रिया के रूप मे ही समझा जा सकता है, हिंदी भाषा के विकास को इसी सदर्भ मे रखकर देखा जा सकता है।

भूमंडलीकरण मूलत विश्व पूँजीवाद का भूमडलीकृत रूप है, और यह उसका पहला चरण नहीं है और शायद आखिरी चरण भी न हो। औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोप ने भूमंडलीकरण के पहले चक्र मे प्रवेश करके दुनिया के देशो को अपने उपनिवेश बनाया। भूमडलीकरण के इस पहले चरण मे साम्राज्यवाद फैला। दुनिया भर के देश गुलाम हुए और उनका दोहन शोषण हुआ। उनमे आजादी की लडाइयाँ लड़ी गई। इसी प्रक्रिया में उन समाजो में आधुनिकोकरण की प्रक्रियाएँ शुरू हुई। यह भूमंडलीकरण का पहला चक्र या चरण कहा जा सकता है। हिंदी खड़ी बोली मे भाषा इसी चरण में बनी प्रिंट मीडिया ने, छापेखाने ने आकर उसे एक नया सस्करण दिया। ब्रजभाषा का वर्चस्व छापेखाने ने तोड दिया। प्रिंट न होता तो यह हिंदी न होती। हिंदी इस तरह एक ऐसी आधुनिक भाषा है जिसका जन्म भूमडलीकरण के पहले चक्र से जुड़ा हुआ है।

उसके विकास का दूसरा चरण साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने को एक सक्षम भाषा के रूप मे प्रस्तुत करने के साथ शुरू हुआ जो आजादी की प्राप्ति तक चला कहा जा सकता है। उसका 'अन्य' अंग्रेजी बनी। इस तरह हिंदी का विकास उसके उत्तर औपनिवेशिक दौर में स्वत्व और पहचान की प्राप्ति के सघर्ष के रूप मे हुआ। इसमें एक तरह से हिंदी को अंग्रेजी के समानांतर बनाने और अंग्रेजी को खतरा बनाने की बात ज्यादा प्रमुख रही। हिंदी का रुझान मूलवादी हुआ। उर्दू से उसका पार्थक्य बढ़ा। उर्दू का नुक्ता इस चक्कर में हिंदी से गायब हो गया। यह हिंदी के अपने ग्लोबलीकरण का पहला चरण रहा जो आजादी के बाद ज्यादा बलवान हुआ। वह स्वयं को अंग्रेजी की तरह देखने लगी। यह भी भूमंडलीकरण मे खुद की जगह बनाने का जतन कहा जाएगा।

हिंदी के विकास का एक पहलू उक्त उपनिवेशवाद के इस पहले चरण र

जुडा हुआ है जिसकी अनदेखी प्राय की जाती है। उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया के तहत जब प्रिंट मीडिया विकसित हुआ छापाखाना विकसित हुआ तो पहली बार हिंदी बोली अन्य बोलियों को अपने में समाहित करने में सक्षम हुई। प्रिंट मीडिया का इतिहास इस बात की गवाही देता है कि पहली बार भाषाई समाज संबोधित होने लगे जिन्हें बाद में भाषाई या जातीय इकाइयाँ कहा गया। यह विवादास्पद लगेगा कि उपनिवेशीकरण के पहले चक्र में प्रिंट के आने के बाद ही हिंदी का फैलाव हुआ। यह प्रक्रिया आज तक जारी है, हिंदी भाषा का एजेंडा अभी भी विकास और विस्तार का एजेंडा है।

इसे हम इक्कानवे की सेंसस रिपोर्ट से समझ सकते हैं। आज जिस हिंदी को हम जानते हैं उसे पिछली/1991/जनगणना में कोई तैंतीस करोड बहत्तर लाख बहत्तर हजार एक सौ चौदह जनो की मातृभाषा कहा गया है/देखिए 'सेंसस ऑफ इंडिया'/1991/पेज 12/यदि हम उक्त सेंसस के पेज तेरह को देखे तो हमें प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के विस्तार के फलस्वरूप बन रही और टिकाऊ दर से बढ रही हिंदी के ग्राफ को बनाने-समझने में मदद मिल सकती है। यह ग्राफ बताता है कि भाषा का विकास किस प्रकार से जनसंचार माध्यमों के विकास पर निर्भर रहता है और जिस प्रकार के संचार माध्यम विकसित होते हैं उसी प्रकार की भाषा बना करती है।

मीडिया शास्त्र बताता है कि प्रिंट मीडिया का विकास और राष्ट्र के निर्माण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रिया लगभग समानांतर चला करती है। प्रिंट मीडिया अपने विकास के चरण में बोलियों को भाषा में बदलता है, उनके शुद्धीकरण और एकरूपीकरण पर जोर देता है। चूंकि वह 'राष्ट्र' के निर्माण का माध्यम होता है इसलिए भाषा को एक सामूहिक प्रक्रिया में बनाता है। संगठित करता है। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम भाषा के रिमिक्स को संभव करते हैं, उन्हें तरल करते हैं, उन्हें नई बोलियों में बदलते हैं, और ग्लोबल बनाते हैं। ये दोनों प्रक्रियाएँ दिनदिनों हिंदी में होती देखी जा सकती है।

यदि हम उक्त सेंसस पर ध्यान दें तो हम पाते हैं कि हिंदी भाषा को 1971 में बीस करोड पिचासी लाख के करीब जन अपनी मातृभाषा माना करते थे इक्यासी तक आते-आते इसमें छह करोड़ के करीब का इजाफा हुआ। फिर इक्कानबे तक आते-आते कोई सात करोड लोग और जुडे इसका अर्थ हुआ कि सत्तर के बाद हर दस साल पर हिंदी भाषा मातृभाषियों में साढे छह से लेकर सात प्रतिशत की बढोत्तरी हुई। हमें उम्मीद है कि यही दर सन् दो हजार एक के सेंसस में रहनी है। हिंदी के वर्तमान ग्राफ और आकलन के लिए यह महत्त्वपूर्ण है। यह प्रतिशत अन्य भाषाओं के विकास के प्रतिशत-दर से ज्यादा है। ध्यान रहे कि यह हिंदी क्षेत्र की आबादी की बढ़त प्रतिशत का पर्याय नहीं है।

ध्यान देने की बात है कि यही दो दशक हिंदी में प्रिंट के फैलाव के और इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों के बढने के वर्ष रहे हैं। यहीं यह बात याद रखने योग्य है कि

ततीस करोड बहत्तर लाख की मातृभाषा हिंदी म कोइ अड़तालीस बोलिया समाहित है। इन बोलियो को बोलने वालो की संख्या कोई दस करोड बैठती है। अगर हम बोलियों को हिंदी से बाहर कर दें तो हिंदी कुल तेईस करोड की भाषा रह जाती है। मीडिया के विकास ने बोलियो को एक भाषा मे समा जाने को विवश किया है। जब हम कहते है कि हिंदी को बोलियों से जुड़ना चाहिए तो दरअसल हम कह रहे होते है कि हिंदी को उन बोलियो को अपने में समाहित कर लेना चाहिए। कहने की जरूरत नही कि बोलियों के मिश्रण के बिना हिंदी तैंतीस करोड की भाषा नही बन सकती थी और यह काम बिना माध्यमो के सभव नही था। प्रिंट ने और फिर इलेक्ट्रॉनिक ने इसे सभव किया। यह प्रक्रिया भी भूमडलीय तकनीक के बिना सभव नही हुई।

भूमंडलीकरण का वर्तमान चरण पुराने साम्राज्यवाद का पर्याय और विस्तार नही कहा जा सकता है। यद्यपि इसमे सबसे अग्रणी भूमिका विकसित पूँजीवादी राष्ट्र ही निभा रहे हैं लेकिन यह पिछले उपनिवेशवादी दौर का विस्तार हरगिज नही कहा जा सकता। कुछ लोग भूमडलीकरण को नवसाम्राज्यवाद की तरह परिभाषित करते है। संभव है कि नए भूमंडलीकरण मे सम्राज्यवादी अवशेष और बची हुई वर्चस्ववादी इच्छाएँ रहती हो लेकिन भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में बनी सभी संस्थाएँ ठीक वैसी नही है जैसी कि पुराने साम्राज्यवाद या नवसाम्राज्यवाद के जमाने में थी। नवसाम्राज्यवाद आर्थिक उपनिवेशवाद की तरह कहा जाता है। लेकिन नए भूमंडलीकरण में विश्व व्यापार संगठन मे हर राष्ट्र का एक बराबर का वोट रखता है। यही विश्व बाजार है। जाहिर है कि बाजार मे सब बराबर नहीं होते लेकिन यह एक नई स्पर्धा का अवसर भी है। यह सभव है कि कमजोर आर्थिक प्रक्रिया वाला राष्ट्र ताकतवर के आगे यहाँ भी पिछडा रहे लेकिन उसके पास एक बराबरी का वोट है जिसे वह स्वतन्त्रता से उपयोग में ला सकता है। तकनीक और सूचना के सचार ने इस बराबरी की जगह को और बढ़ाया है यद्यपि इसमे वर्चस्व की प्रक्रिया और भी जटिल हुई है। वर्चस्व की प्रक्रिया का जटिल होना साम्राज्यवाद का पर्याय नहीं कहा जा सकता। और ग्यारह सितबर के बाद अमेरिकी वर्चस्ववाद का महामिथ भी बुरी तरह टूट गया है अब भूमंडलीकरण का एक नया दौर शुरू हो रहा है।

बहरहाल नब्बे के आसपास जब भारतीय समाज मे उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई और सोवियत सघ के गिरने के बाद एक ध्रुवता वाला नया भूमडलीकरण शुरू हुआ तो उत्तर-औपनिवेशक समाजों में गहरी सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ देखी गई। पश्चिम से एक नए प्रकार की मुठभेड़ के चिह्न पैदा हुए। पश्चिम का एक वर्चस्वकारी चिह्न 'अंग्रेजी' अनिवार्य भाषा मानी गई। मुक्त विश्व बाजार, सूचना तकनीक, उपग्रही टीवी और इटरनेट पर छाई हुई अग्रेजी कुछ ज्यादा ही आक्रांत करने लगी। हिंदी भाषा और उसे बोलने वाले समाज मे इस सबको लेकर पहली प्रतिक्रिया आत्म रक्षात्मक

रही। यह हिंदीभाषी समाज मे आइ रक्षा की भावना का विस्तार ही है . इसमे सास्कृतिक सघर्ष के तत्त्व भी निहित है।

कहने की जरूरत नही कि भूमंडलीकरण की पहली भाषाई प्रतिक्रिया मे अंग्रेजी भाषा से हिंदी के सबधो की पुनर्परिभाषा कुछ नए ढंग से सभव हुई। तकनीक ने अखबारो को रगीन कर दिया। उपभोक्ताक्राति का वाहक बना दिया। विज्ञान निर्भर वना दिया। टीवी के विस्तार ने अखबारो को मनोरजन की ओर मोडा। मीडिया का वातावरण बाजार-मित्र बन गया इसमे अंग्रेजी के साथ हिंदी का नया संबध बन गया। यह संबंध इकहरा और विलोमवाची नही बना। पहली बार हिंदी के लिए अंग्रेजी कोई खतरनाक या डरावनी भाषा नही रही। हिंदी का आत्मविश्वास वढा नजर आया। विद्वान् अंग्रेजी को खतरनाक वताते रहे। अखबार और टीवी एक नई हिदी बनाते रहे जिसे 'हिंग्रेजी' कहा जाने लगा। हिंग्रेजी का जन्म भूमडलीकरण के वर्तमान चरण की एक बड़ी विशेषता कही जा सकती है। इसे मुक्त बाजार-तकनीक, सूचना प्रवाह की जरूरत, उपभोक्तावादी विकास और हिंदी समाज के ग्लोबल होने की इच्छाओ ने वनाया। इससे हिदी के भीतर नई बहसो ने जन्म लिया। नए शब्दकोश की मॉग होने लगी।

इस प्रक्रिया मे पहला काम यह हुआ कि अंग्रेजी के प्रति चला आता डर का भाव और उससे परहेज का भाव खत्म हुआ। अंग्रेजी-हिंदी मे निकटता बढ़ी एक तरह की दोस्ती वढी, सह अस्तित्व का भाव बढा। दुश्मनी कम हुई। सातवे दशक का अंग्रेजी विरोध का भाव गायव हो गया। एक भाषा के रूप में अंग्रेजी की स्वीकृति और व्यापक हुई।

हिदी नही छूटे लेकिन अंग्रेजी भी छूटने न पाए। एक प्रकार का द्विभाषी हिंदी वाला पैदा होने लगा। उसकी पहली या दूसरी भाषा अंग्रेजी होने लगी। अंग्रेजी इस तरह भूमंडल मे जाने आने का पर्याय बन चली। हिदी मे अनेक अंग्रेजी शब्द प्रयुक्त किए जाने लगे ताकि हिदी की पुराने किस्म की शुद्धता और स्थानीयता ज्यादा हावी न रहे यह बाजार का दबाव था। ग्लोबल बाजार मूलत- द्विभाषी बाजार बना। जब वह हिदी के बाजार से जुडा तो उसे हिंदी के साथ द्विभाषी होना पडा।

इसके उदाहरणस्वरूप हम आज के हिंदी अखबारों की भाषा को देख सकते है। आज हिदी के अखबार अंग्रेजी के अनेक शब्दो को उदारतापूर्वक उपयोग करते हैं। वे खबर के पेजों से लेकर मनोरंजन के पेजो और विज्ञापनों में हिदी-अंग्रेजी का मिक्स बनाते है। अव तो सपादकीय पृष्ठो पर भी हिंदी मे अनेक अंग्रेजी शब्दो के दर्शन हो जाते हैं। अंग्रेजी से हिदी मे कठिन अनुवाद करने की जगह अंग्रेजी के ही शब्दो का चलन मीडिया की सुगमता के कारण स्वाभाविक माना जाने लगा है। अनेक अखबार अपने फीचर पेजो और परिशिष्टो के नाम तक हिंग्रेजीमार्का रखते हैं जैसे 'हेलो दिल्ली'/नवभारत टाइम्स/और 'हेलो' शब्द टाइटिल में अंग्रेजी रोमन

में ही छपता है। इसी तरह राष्ट्रीय सहारा ने अपनी 'उमग' को 'सडे उमग' कर दिया है। दैनिक हिंदुस्तान अपने एक परिशिष्ट का नाम 'हिंदुस्तान दिल्ली सिटी' रखा है। बानगी के लिए इनकी भाषा के कुछ अंश देखे जा सकते हैं

—'हेलो दिल्ली' के नवंबर 11, 2001 के अंक मे शीर्षक के बायें चार लाइनो म टाइम्स सिटी का डॉट कॉम का विज्ञापन है। फिर भीतरी पेज पर दिए गए 'क्रीमी फ्लोवर सूप' का विज्ञापन है। हेलो दिल्ली से आगे 'ऑन सडे' दिया गया है जो अंग्रेजी रोमन मे है।

'ऐसे भरे जीवन में नया उत्साह' नामक फीचर का शीर्षक है : 'रिलेशनशिप' मे एड, बेडरूम, रेस्टोरेंट, प्रोजेक्ट वर्क, किचन, डेट, शब्द आते हैं। गर्भपात पर एक फीचर मे सेक्स डिटर्मिनेशन टेस्ट, एबॉर्शन डिसाइड, स्टडी, गर्लबेबी, आदि शब्द आते है लेकिन भाषा के प्रवाह में बाधा नही होती। इन शब्दो के अनुवाद जरूर बाधा करते है। ये बोलचाल के शब्द है। तासर बिस्कुट का विज्ञापन इस भाषा में है 'बल्क बुकिंग तथा सीधे फैक्ट्री से माल लेने और डिस्ट्रीब्यूशन हेतु सपर्क करें'। अगले पाँचो पेजो पर ऐसी ही मिक्स हिंदी है और कई विज्ञापन तो अंग्रेजी मे ही है।

—'सडे उमग' मे वहीदा रहमान पर फीचर है लेकिन शीर्ष पर ही क्वालिटी गर्ल कैथरीन बेल का विज्ञापन है। यहाँ भी फीचर मे 'गैप', क्रिश्चियन एलीगरी, हॉकर, रिएक्ट, वहीदा से बातचीत मे लिविंग फोर्स, इमोशनल, एवार्ड, फिल्मी केरियर, आगे के पेजों पर जो फीचर है उनमे ऐसी ही हिंदी है जिसमें अंग्रेजी के शब्द इसी तरह आते-जाते रहते है लेकिन कहीं भी पढ़ने का प्रवाह नहीं टूटता। हेलो दिल्ली के मुकाबले यहाँ अंग्रेजी शब्द अपेक्षाकृत कम ही है।

—हिंदुस्तान दिल्ली सिटी मे अंग्रेजी का प्रयोग उदारता से होता है। बच्चो का बिस्तर इको फ्रेंडली, स्टफ टॉय, नॉन टाक्सिक, टेडी ड्रीम्स, फिनिशिंग, मेट्रस आदि शब्द है। एक दूसरी कहानी में गिफ्ट, परफ्यूम डिनर सेट, टीसेट, रग, टेबल, फ्लॉवर, फोटो फ्रेम, शोरूम, इटेलियन हैंडी क्राफ्ट, डिजाइनर एनीमल, स्टेच्यू, लाइटिंग आदि शब्द आते हैं। किनारे पर लेटेस्ट प्लस लिखा रहता है। यह मार्केट का फीचर है। लेटेस्ट का एक नमूना देखे सिक्योरिटी सोल्यूशंस के लिए जॉब कॉम ने बायो मीट्रिक्स टेक्नोलॉजी पेश की है। फिर ऐश्वर्य राय का कथन है : 'मै बिजनेस समझ गई हूँ।' एक विज्ञापन है जीतिए इंग्लैंड का ट्रिप। एक अन्य विज्ञापन का स्लोगन है कौन बनेगा लाकेटपति। आगे के तीनो पेजो पर ऐसी ही हिंदी है और संग मे अंग्रेजी भाषा मे विज्ञापन है।

उक्त तीनो उदाहरणों मे अगर हम कौन बनेगा करोड़पति की हिंदी को और मिला दे तो हम पाएँगे कि यह हिंदी साहित्यकार नहीं बना रहे। यह हिंदी उपभोक्ता की तरफ से बनाई जा रही है। दर्शक या पाठक को उपभोक्ता मानकर बनाई जा रही है। मात्र पाठक मानकर यह हिंदी नहीं बनाई जा रही। और यह मानकर चला

जा रहा है कि एक ऐसा पाठक/उपभोक्ता वर्ग है जो इतनी अंग्रेजी जानता है और हिंदी में ऐसे शब्दों का मतलब समझ सकता है। यह हिंदीभाषी समाज में नए बने शहरी आदमी की हिंदी है। भूमडलीकरण ने उसे बनाया है और उसके लिए ऐसी हिंदी को बनाया है।

ऐसी हिंदी को देख अनेक शुद्धतावादी नाक-भौ सिकोडते हैं। उन्हे लगता है कि हिंदी खत्म हो जाएगी, भ्रष्ट हो जाएगी। लेकिन यदि हम भाषा की सरचना देखे तो वह अग्रेजी की नही हिंदी की वाक्य रचना है जिसमे विशेषणो और सज्ञाओ मे कई जगह अग्रेजी आती-जाती है। भ्रष्ट होकर ही भाषा बढती है और एक दैनिक के एक लाख शब्दो के बीच सौ पचास शब्दों का विनिमय भर है। इससे हिंदी कैसे भ्रष्ट हो जाएगी?

भाषा चितक मानते रहे है कि भाषा को या तो जनता बनाया करती है या साहित्यकार बनाया करते हैं। इस भाषा को जनता नही 'जनता के लिए' बाजार बना रहा है। वह एक विराट संचार और विनिमय मे बन रही है। विनिमय की भाषा सर्वाधिक संचारशील होती है इसलिए यह भाषा चल निकली है जिसे हम टीवी की बातचीत में अक्सर देख सकते हैं जिसके उदाहरण यहाँ देना फालतू का विस्तार ही होगा।

इससे कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

—इस दौर मे हिंदीभाषी समाज मे शहरी मध्यवर्ग की हिंदी ऐसी हिंदी ही सकती है। वह साहित्यकारो वाली हिंदी नही हो सकती।

—यहाँ अग्रेजी के प्रति कोई घृणा नहीं है अंग्रेजी हिंदी की दोस्त बनकर आती है। अग्रेजी ग्लोबल भाषा है। वह सबलीकरण की भाषा भी है क्योंकि वह सत्ता की भाषा है। हिंदी निर्बल की भाषा रही है। उसमे अंग्रेजी के कुछ शब्द डाल देने से वह किसी हद तक सबल की भाषा बन जाती है ऐसा अहसास वह कराती है। ऐसी भाषा बोलकर आपकी पहुँच बढ जाती है। ऐसा अहसास होता है।

—इसका अर्थ यह भी है कि हिंदी अब अपने से बाहर भी सबोधित हो रही है और इसके लिए उसे बदलना पड रहा है। वह अंग्रेजी के समकक्ष हो रही है ऐसा लगता है।

—इन धनात्मक उपलब्धियो के भरोसे के बिना ऐसी हिंदी चलन मे इस कदर नहीं आ सकती थी।

—इस क्रम मे उर्दू के शब्दो का प्रचलन कम होता जा रहा है।

हिंदी का एक अन्य सस्करण भी तेजी से बन रहा है जिसे 'डॉटकॉमी हिंदी' कहा जा सकता है। यहाँ रोमन मे हिंदी चलती है। 'सक्षिप्त सदेश सेवा' एस.एम एस. के रूप में हिंदी बनती है जिसमे रोमन चिह्नों से पूरी हिंदी खडी की जाती है। यह अग्रेजी जितना नही होता क्योंकि हिंदी का मिजाज सक्षिप्तीकरण नही है। यह

एक कठिन काम है लेकिन चल रहा है। आप जरा किसी इंटरनेट पर चेट कीजिए

टीवी की हिंदी के बारे में हम यहाँ इतना ही कहेंगे कि वह शायद इस वक्त की ग्लोबल हिंदी है क्योंकि टीवी जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ उसकी पहुँच होती है। जब हम किसी वाचक को यह घोषणा करते सुनते हैं कि अगला कार्यक्रम ग्यारह बजे दुबई में या यू.ए.ई. में या आस्ट्रेलिया में तो हम वस्तुतः हिंदी को ग्लोबल रूप में ही प्राप्त कर रहे होते हैं। इतने विराट संचार जगत् के लिए हिंदी ठीक वही नहीं हो सकती जो बनारस, इलाहाबाद मात्र के लिए कभी हुआ करती थी। वह बड़े पैमाने में बाहर रहने वाले भारतीयों की भी एक संवाद भाषा बन उठी है। वहाँ अनेक भाषा भाषी समाज आपस में ग्लोबल हिंग्रेजी (हिंदी) में संवाद करते हैं। यह विश्व हिंदी सम्मेलनों ने नहीं किया। यह भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में आए टीवी चैनलों ने किया है कि हिंदी की एक ग्लोबल ऑडिएंस बनाई है। हिंदी पहली बार इतने बड़े पैमाने पर 'चैट' की या कहें 'गप या बातचीत की भाषा' बनी है। हिंदी किसी भी भारतीय भाषा से ज्यादा 'बोली-बरती' जाने वाली भाषा बन उठी है। यह भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा योगदान है। इससे हिंदी ताकतवर बनी है। उसमें निराली अभिव्यक्ति क्षमताएँ आई हैं।

भूमंडलीकरण के इस दौर में फिल्मों की हिंदी भी बदली है। अब हमारी फिल्में शहरी मध्यवर्ग समेत ग्लोबल मध्यवर्ग तक पहुँच रखती हैं। अनेक हिंदी फिल्मों का विदेशी बाजार भारतीय बाजार से बड़ा नजर आता है। 'कुछ-कुछ होता है' की हिंदी साहित्यिक की हिंदी सिर्फ इसीलिए नहीं हो सकती क्योंकि कुछ कुछ होता है ग्लोबल हिंदी समाज की कहानी है। और वह सौ करोड़ रुपये उससे कमाती है। इन दिनों हमारे संचार माध्यमों पर हमारे 'डायस्पोरा' (प्रवासी जनता) का दबाव ज्यादा है क्योंकि वही उसकी वित्तपोषक हैं। यह भी भूमंडलीकरण का अवदान है कि मनोरंजक फिल्मों की हिंदी भी अब बोलचाल की हिंग्रेजी बन चली है। गानों तक की हिंग्रेजी बन गई है। संवाद तो अब उसी में होते हैं।

खबर आई है कि कम्प्यूटर-इंटरनेट पर अंतर्भाषायी संवादों के लिए एक विश्व भाषा जैसी कुछ बनाने के हेतु विश्व की पंद्रह भाषाओं के साथ हिंदी के शब्दकोश का भी उपयोग किया जा रहा है। इसी तरह माइक्रोसॉफ्ट वालों ने अपने 'एक्सपी विंडोज' में ऐसी व्यवस्था की है कि आप हिंदी में नागरी लिपि में भी वेबसाइट बना चला सकते हैं। 'चेट' कर सकते हैं। यह भी भूमंडलीय मीडिया के हिंदी पर प्रभाव का उदाहरण है।

सबसे बड़ी बात है कि हिंदी विद्वानों में इस परिवर्तन को लेकर ऊहापोह हो तो हो हिंदी जनता में कोई उहापोह नहीं है।

हम एक नई भूमंडलीय हिंदी में रहते हैं और यह हिंदी की ताकत है भूमंडलीय जगत् में उसका आत्मविश्वास बढ़ा है।

हिंदी में पंडागीरी

दिल्ली खाली हो गई। सब चले गए लदन। अब न कोई लोकार्पण होगा न विमोचन। न कोई गोष्ठी न शामें और न खुलेगी प्यारी बोतल। वे सब चले गए और दिल्ली की साहित्यिक गलियों को चौबारों को सूना कर गए। नामवर जी गए। विद्या जी गए। केदार जी गए। अशोक जी गए। विश्व हिंदी सम्मेलन में लंदन गए। बचा क्या हिंदी में? और तो और भाई चद्रिका प्रसाद जी भी गए जिन्हे अटल जी को कवि सिद्ध करने का श्रेय प्राप्त है। काश चुनावो मे न फँसे होते और अटल जी भी जाते, तब क्या ठाठ होते हिंदीवालों के? हिंदी दिवस बताता है कि एक दिवस को छोड़कर बाकी के दिन किसी और के होते है सिर्फ एक दिन हिंदी का होता है। चौदह सितबर के आसपास के दिन ऐसे सूना होगा किसने सोचा था, अब देखिए ये लोग चले गए और लोग इन्हें न पाकर हम जैसे निकम्मो-निठल्लों और हिंदी को भ्रष्ट करने वालो को हिंदी दिवस के नाम पर पूछ रहे है, कह रहे हैं कि आ जाइए हिंदी दिवस मनाना है। विभाग के कर्मचारियों की काव्यपाठ प्रतियोगिता है। टाइम कम बचा है। नामवर जी लदन मे है। अशोक जी भी, केदार जी भी लदन मे है। जितने हिंदी के जी है सब लंदन में हैं। आप आ जाइए। आने-जाने का किराया और ऊपर से पत्रंपुष्पम। किसी तरह से उबार लीजिए हिंदी के दिग्गज गए तो गजो ने गुहार की। अब गज को बचाने जब भगवान् विष्णु स्वयं दौडने का रिकॉर्ड बना चुके है तो हिंदी के गजों को कार्यक्रम रूपी ग्राह से मुक्ति देने का काम तो करना ही होगा। वे चाहते है कि शुद्ध हिंदी बोलूँ। यह शुद्ध हिंदी आती नही क्योंकि अपने भाषाशास्त्र में कोई भाषा शुद्ध नहीं होती।

हिंदी दिवस के होने ने बताया है कि हिंदी में पैसे का चलन कुछ बढा है गरीबनी वह नही रही है। यह एक तरह का पंडागीरी का फार्मूला है कि हर वक्त रोते रहना है ताकि जिजमान से माल ताड़ा जा सके। कहते रहा जाए कि हिंदी दरिद्र है। दरिद्र होंगे उसके दुश्मन, हिंदी में बताइए कि कौन-सा लेखक है जो गरीब है? हिंदी का लेखक मकान रखता है, टेलीफोन रखता है, बच्चे विदेश जाते है और खुद गाडी मे घूमता है। चार सौ लोग एक-एक डेढ़ डेढ़ लाख का बजट बना कर गए

ह लदन। इनमे तमाम तरह क हिदाप्रमी, हिदीसेवी, हिदीभक्त, हिदी के लिए मर-मिटने वाले और हिदी को मार डालने वाले है। वे तपस्या करने के बाद गए है। हिदी वाला माल काटना जानता है। इनमे मेरठ शहर के हलवाई और बुलदशहर के पसारीजी स लेकर हिदी के मूर्धन्य, सुधन्य अर्धधन्य और अधन्य सब हैं। कुछ ने दस ग्राहक बनाए होगे और अपनी ट्रिप एजेंसी से फ्री ली होगी। इनमे से कुछ तो हिदी के कमेटी माफिया टाइप के लोग हैं जो कभी इनाम माफिया के रूप में तो कभी नियुक्ति माफिया के रूप मे जाने जाते है। सुनने मे आया है कि प्रधानमत्री कार्यालय से नाम ओ.के हुए है सबके। ये फ्री मे जा रहे हैं, ऐसी भी सूचना है। इस फ्री वाले मे कई चुन्नटदार लोग है। इन्होने हिंदी की पर्याप्त सेवा कर दी है। इनकी बदौलत हिदी मोटी हुई, जवान हुई और फैली-फूटी है। ये सब उसे सती सावित्री बनाए रखना अपना परम कर्त्तव्य समझते है। विश्वविद्यालयों के हिदी विभागों में दुर्गंध आती है और हिदी ठीक स न लिखे जाने की पीडा से कराहना पडता है तो इनकी अहर्निश सेवाओं के ही कारण।

हिंदी की आलोचना अगर पंडई और पुरोहिताई के स्तर तक पहुँची है तो इस सबमें इनका जीवन लगा हैं। हिदीसेवियो, हिदीप्रेमियों, हिदीभक्तों की नई पंगत का समाजशास्त्र कहता है कि हिदी एक बडा बाजार है और उसकी सेवा एक उद्योग है। अदर से देखो तब धधा दिखाई देता बाहर से देखने पर लिखा मिलता है कि यह आदमी हिदी के लिए जान दे चुका है। जिसने जितनी जान दी है वह उतना ही राज्यसभा के पास अपने को पाने लगता है और इडिया इटरनेशनल सेटर का हो रहना है। उसके दो-तीन काम है। इस हिदीसेवी का परिचय इसी प्रकार है कि उसे साठ के आसपास का हिदीवाला-सा होना चाहिए। वह जापानी जूते मे अपना हिदुस्तानी दिल लिये फिरता है। यदि वह धोती पहने तो आथेंटिक पुरबिया हुआ। पूरब से हिदी पश्चिम नहीं हुई है अभी। हिदी मे अहीर, जाट, गुर्जर, राजपूत बेल्ट और दलित अभी नही घुस पा रहे। पुरबिया पंडों का कब्जा है अभी। जिसकी धोती मे जितनी चुन्नट हुई वह उतना ही भीतरा हुआ। अगर वह सुबह से ही इडिया इटरनेशनल सेटर में किलोल करता मिले तो समझो दिनभर मे वह वहाँ हिंदी के जनसपर्क की कलाएँ दिखाएगा, फिर उसके स्पर्धी आएँगे। वह कभी लाइब्रेरी जाता दिखेगा लेकिन नीचे तलघर वाले बाथरूम मे मूत रहा होगा। वह फिर किसी मुर्गे को समय देगा वह मुर्गा यहाँ कटेगा। लॉन मे टहलेगा ताकि किसी हस्ती की नजर पड जाए। यही हिंदी सेवा की लेटेस्ट ब्रांड है, करोड हिदी की विगट बैल्ट मे सात आठ राज्य है और उसे बोलने-बरतने वाले हिंदी के पचास-साठ करोड़ जन है। ये पचास-साठ हजार जन फिल्मों ने, रेडियो ने, गानों ने, और अब टीवी ने बनाए है। टीवी तो अब हिदी की ग्लोबल मार्केटिग कर रहा है। लेकिन यह हिदीसेवी समझता है कि यह सब उसी की कहानी कविता का परिणाम है और चाहता है कि हिंदी का सारा पुजापा उसे ही मिले। उधर जबसे राजनीति पोस्टमॉडर्न हुई यानी चचल हुई तब स

हिंदी जनता की ठेकेदारी करने वालो की बोली बढ़ी है। इडिया इटरनेशन सेंटर हिदी वालो के लिए भी स्टेटस सिबल हुआ तो इसलिए कि असल हिदी की ग्लोबल दुकान वही चल सकती है। लेकिन पूछिए तो जवाब मिलेगा यह सब अपसस्कृति हो रही है, हिदी भ्रष्ट हो रही है और टीवी इत्यादि ने भ्रष्ट किया है, उसे बचाना है। सेंटर में बैठकर बचाना है भई पूरे साल पूरी दैनिक शामों मे लोकार्पण करते हुए धोतीवालो ने बार-बार कहा है कि हिदी का स्तर गिर रहा है कहीं कुछ भी नही है। जो कुछ है सो कमेटी मे जाने मे है। फ्री की बोतल मे है और सेटर की घास और सटे बार में है।

हिंदीवाला सीधा-सादा होता है यह मिथ भी टूट गया है। यकीन न हो तो हिदीसेवियो की पोटलियों देखे जिनमे विचारो की चुराई चम्मचे और मुफ्त के बीडे दबे मिलेगे। उम्र ज्यों-ज्यो बढ़ेगी तिकडमशास्त्र की महारत बढेगी। ऑखे माल पर होगी और नजर हटते ही नजरो के सामने का सब साफ। बस एक ही पीडा है इन तमाम को किसी तरह इस भूमंडल मे लांच हो जाए। लंदन ट्रिप इन्हे यह सपना दे चुकी है तभी हलवाई से लेकर लेखकादि सब साथ जा रहे हैं। कैसी भूमंडलीयता है बलिहारी प्रभु। भूमडलीयता साम्राज्यवादी होती थी कल तक। गॉधी जी विदेश जा रहे थे तो परेशान थे कि क्या खाएँगे? हिदीवाले अब खुलेआम अंतर्राष्ट्रीय मुर्गा काटते है और शैंपेन में नहाते हैं। वे इसीलिए तो गए है। जाने के लिए कैसी तो मारामारी करनी पडी है। किस-किस के आगे हाथ जोडने पडे है। सब हिंदी के लिए करना पडता है भाई। लंदन ठहरा अग्रेजी का गढ। ऐन उस गढ मे हिंदी की कीली ठोक देंगे। इतिहास ऐसे ही बदला लेता है। कुछ भाषण बदोबस्त फला तो करा ही देगा कुछ पौंड ओर हो जाएँगे। बी.बी.सी. भी कुछ दे देगा। और कुछ और शहर देखकर लौट आएँगे।

अंग्रेज हमे देखेगा और चकित होगा कि हमारी धोतियों की सत्तर चुन्नटो मे भारतीय संस्कृति पूरी तरह सुरक्षित है और पानो को पीको मे, नब्बे नबर बाबा छाप तबाकू मार्का वेदोपनिषद से लेकर अटल जी की कविता तक है और हम अग्रेजी भी जानते है। बच्चे पब्लिक स्कूल मे पढाए है। अब जरा बालक को यहाँ कुछ ठौर हो जाए तो दलिद्दर कट जाए। भइया हमारी तो कट गई हिंदी मे इनकी कैसे कटेगी? बावला मन मानता कहाँ है। भइया ग्लोबलाइ रहा है। जमाना, तो आ गए है यहाँ। ऐसे चुन्नटदार धोतीवालों के दिमागो में घुसने का जितना मन होता है उतनी ही दुश्वारी होती है। वे खुलते नही हैं कम बोलते हैं उससे भी कम लिखते है, लेकिन जितना कम करते है उतना ही ग्लोबल होते जाते है। हर रास्ते हर उडान पर नजर लगी रहती है। दिल जब ग्लोब मे मचल रहा होता है उस शाम वे किसी गोष्ठी मे एकदम भारती-भक्त होकर दहाडते है। हिदीसेवी की सास्कृतिक विशेषता है कि डॉलर देख लार टपकती है और जीभ 'भारती' उचारती है। कई तो शहर छोडते ही भारतीय जनता पार्टी भजने लगते है। कइयो को अटल जी की कविता में भी प्रगतिशील नजर आ सकती है। कइयो को उनकी नरमी भा सकती है। देश लौटेंगे तो फासिज्म

से लडने के लिए लेखको को ललकारेगे और उधर तरसेगे कि बुलावा नही आया अटल जी के घर से। विश्वनाथ को कवि बनाया। अटल जी तो छंद भी जानते ह भइया। इन्हे देखकर लगता है कि हिंदी की कोई समस्या नही है बस एक समस्या हे कि सरकार पैसा नही लगाती और अग्रेजी को नही रोकती। जब ज्यादा गुस्सा आता है तो पॉच हिंदीसेवी एक प्रदर्शन करते है जिसमे वे अग्रेजी नामपटो को विनम्र, अहिसक ढग से हटाने की मॉग करते हैं लेकिन दक्षिणी दिल्ली मे प्रेस मे फोटो की खबर देखते है। हिंदी की चुन्नटदार सेवा है। हिदीसेवी ने आजादी के बाद यह उचक्कापन और पसारीपना खूब ही सीखा है। हिदी शुद्ध रहे। उर्दू के शब्द न आऍ। अन्य भाषाओं को रोक दिया जाए और सब जगह हिदी हो। राजभापा तो बने ही। कानून पर सख्ती से अमल हो वह राष्ट्रभाषा भी बने लेकिन हिदी का आदमी साहित्य अकादमी मे न घुस जाए यह ध्यान रखना ही होगा।

अग्रेजों ने अग्रेजी बढाई तो दूसरी तमाम भाषाओं के शब्दों को अपनाकर। पिछले दिनो ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी आई तो उसमे खास बताया गया कि इस बार इसमें हजारों शब्द गैर अंग्रेजी भापाओं के हैं। हिदी के दर्जनों हैं। इधर हिदीसेवी जन हिंदी को शुद्ध बनाने पर जोर देते है कि मानो हिदी भाषा न हो उनकी सती सावित्री हो जो पराई किसी भाषा के एक शब्द के आ जाने से व्याकरण मे परे जाकर आवारा और बदचलन हो जाएगी। सती सावित्री बनाए रखना है तो हिंदी हो गई विश्वभापा! यह भाषा का ब्राह्मणवादी स्कूल है जो भाषा को शुद्ध बनाए रखना चाहता है। ये हिदी को सती बनाए रखना चाहते है लेकिन हिदी कभी सती नही बनी। उसकी जन्मकुडली मे ही मिश्रण और सकरता रही है। भाषाऍ सती बनेगी तो विकास केसे करेगी, शब्दकोश बढेगा कैसे। हिदीवाला अन्य भापाओ के बारे में तब सोचना ही भूल जाता है जब वह हिदी के गौरव रूपी बुखार मे तपता है। अगर हिदी को आगे रहना है और सचमुच संपर्क भाषा बनना है तो उसे भारतीय भाषाओ के साथ मिक्स होना होगा। अन्य भापाओ के लोकप्रिय रोजमर्रा के विनिमय के काम मे आने वाले शब्दो को अपने चलन में आने देना होगा फिर विचार की दृष्टि से भी हिंदी का लेखक/कर्मी अभी तक आधुनिकता और नई समीक्षा के फिसड्डी पाठो पर अटका हुआ है जबकि दुनिया उत्तर-आधुनिक युग मे और उत्तर-सरचनावाद में जा चुकी है। ग्लोबल समय मे तकनीक ने हिंदी में इंटरनेट और ई-मेलको भी संभव कर दिया हे और अब हिदी का ही नही किसी मामूली भाषा का कोई लेखक एक ही साथ स्थानीय और ग्लोबल दोनो है और अब यह सब कप्यूटर संजाल में जाए बिना चल नहीं सकता। कोर्स सदियों पुराने है। नए चितन से विद्यानिवास को घृणा हो तो हो नामवर को भी घृणा है। नए समय की इन्हें कोई समझ नही है। इन लोगों का नेतृत्व खत्म हो चला है। अपनी नजरो मे अपने प्रभुओ की निगाहो को टटोलते हुए, कमेटियो मे 'जापा' कराते हुए और गोष्ठियो मे पौरोहित्य करने से हिंदी का कुछ काम नहीं

बनने का। मीडिया ने हिंदी को तरलता, चचलता, सप्रेषणीयता और ग्लोबल लोकप्रियता दी है। आज वह ग्लोबल है और दुनिया भर मे है।

मुफ्त की टिकटो का जुगाड करने में हिंदी के बहुत-से सेवियो ने अपनी जिदगी गुजारी है। उनसे अब यह शिकायत करना बेमानी है कि सर आपने ये क्यो नही किया? वो क्यों नही किया? सत्ता के पायों से बँधे इन पिछडे लोगो से कितने नए लडके शिकायत करने आते हैं कि सर आप हिंदी का कुछ कीजिए।

नई पीढी एकदम इनसे परे और ग्लोबल है। उसके पास नई ग्लोबल हिंदी है जिसमे अग्रेजी के अनेक शब्द हैं। यह रूबी भाटिया और साजिद की हिंदी है। लेकिन ये थके और ठहरे लोग इस पीढ़ी को ही पतित मानते है। तो नई हिंदी जो बन रही है उसके बैरी ये विद्वज्जन कौन-सी हिंदी बना रहे है? वही मुफ्त की सरकार की इमदाद पर पलने वाली सती सावित्री हिंदी। हिंदी के पाठ्यक्रमो मे अब वे ही पढने आते है जो कहीं दाखिला नही पाते। लडकियाँ आती हैं क्योकि उन्हे दहेज वाली शादी का इंतजार करना पडता है। सस्कृत पढने कोई नही आता, उर्दू पढने नही आते, शुद्ध भारतीय भाषाओं में निहित राष्ट्रवाद अब पढने वालो को पकडता नही है। इसलिए नही कि अपसंस्कृति और अग्रेजी का जोर है, बल्कि इसलिए कि हिंदी के पाठ्यक्रमो मे से बदबू आती है। वे जिंदगी से बहुत दूर और बेकार नजर आते हैं। आप सती सावित्री बनाए रहें। नए बच्चे सती नहीं चाहते और देखे तो यह सतीवाद भी सच्चा नही कच्चा और पाखडपूर्ण है। बताइए हिंदी को आगे बढाने के काम को छोडकर कोई क्या मुफ्त की टिकट का जुगाड करने के लिए समय बर्बाद करेगा? जो जन गए है वे जब यहाँ जीवन भर कुछ नहीं कर सके तो लंदन जाकर क्या कर देंगे? लंदन मे जो तमाशा हो रहा है वह अनिवासी हिंदवालों के डॉलरे-पौडो की लीला है। क्या हवाई जहाज मे बैठते ही नए विचार आ जाएँगे? अरे वही पडागीरी होगी जिस पर दिल्ली में झगडते है।

लेकिन मै परेशान हूँ इन महानुभावो के रहते जो काम यहाँ होता रहता है वह हम जैसो को करने के लिए कहा जा रहा है आज आ जाइए हिंदी दिवस मे मुख्य अतिथि हो जाइए। मना करते-करते परेशान हूँ। ये लोग होते तो पंडागीरी का दबाव न पडता। जब श्राद्ध आते है तो पितरो तक भोजन पहुँचाने के लिए कन्या-लागुरा जिमाए जाते हैं। एक ही दिन जब कई घर श्राद्ध करते हैं तो बच्चे-बच्चियो को कभी-कभी दस-दस घर जाना पड़ता है। वे विचारे खाते-खाते थक जाते है तो खिलाने वाले उनके गमछों में बाध देते है। हिंदी दिवस पर ऐसा ही श्राद्ध होता है। जब महान् लोग लदन से लौटेंगे तो उनके हर पाँचवे वाक्य यों शुरू हुआ करेंगे कि जब मै लदन मे था.

• राष्ट्रीय सहारा, 16 दिसंबर, 1999

वह हिंदी का विद्यार्थी है...

इस एक ध्रुवीय विश्व मे हिदी भाषा और साहित्य के औसत विद्यार्थी की छवि बनाने चले तो उसके नाक-नक्श कुछ इस प्रकार से बनेंगे

वह हायर सेकंड्री या इटरमीडिएट में खराब नबर प्राप्त करने वाला होगा।

उसकी मातृभाषा और शिक्षा के माध्यम की भाषा हिंदी होगी।

हिंदी कक्षा में लडको की सख्या लडकियो के मुकाबले कम होगी।

लडकियॉ कक्षाओ मे झुंड-सा बनाकर एक ओर बैठी मिलेगी। उनके बीच मे लडके किसी विरल फूल की तरह दिखें तो गनीमत समझिए। लडको के गिरोह के बीच लडकियॉ मुश्किल से बैठेगी। लडके हिदी कक्षा में पढने के अलावा कही कप्यूटर, कही आई.ए.एस. कर रहे होंगे लेकिन लडकियो को माता-पिता द्वारा उनके विवाह का इतजार करवाया जा रहा होगा।

लड़को मे से एकाध गभीर होगा जो पढते वक्त नोट्स लेने वाला होगा लेकिन लडकियाँ प्रायः हर वक्त नोट्स लिखने में लगी मिलेगी। आप पढाने-समझाने के लिए चाक मॉगे तो वह लडकियो के पर्सो से मिलेंगे। तब लड़के सिर्फ हँसेंगे फिर लड़कियॉ गर्वित होगी।

हिंदी का औसत अध्यापक, जो स्नातक या स्नातकोत्तर कक्षाओ को हिदी पढाता हे ओर हर वर्ष लाखो की तादाद मे राष्ट्र भाषा एव सत्ता-लज्जित किंतु हठीली राजभाषा की खातिर योग्य विद्यार्थी भेजता है, यह देखने की जरूरत नही समझता कि जो वह पढाता है और जो पढते है उनके बीच किस प्रकार का सवध वन रहा है? साहित्य के सोलह परचो को पढाते वक्त प्रायः, तमाम किस्म के प्रोफेसर, रीडर और लेक्चरर लोग साहित्य और भाषा पढ़ाने की नई-नई युक्तियो के प्रति नितात वैर भाव रखते है। यदि वे नियमित पढाते है और कुछ गभीर हैं तो वे पुराने-धुराने नोट्स को कक्षा मे लिखाते मिलेगे। विद्यार्थी सश्रद्ध और निबिड़ निश्शक भाव से सिर झुकाए लिखते मिलेगे। यह 'मोस्ट इपोर्टेट क्वश्चन' होगे जिनके 'आसर' लिखाए जा रहे होगे। यदि कोई विद्यार्थी गभीर हुआ तो वह यत्र-तत्र से 'हिदी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियॉ' बताने वाली किसी किताब के पॉइट्स से अपने नोट्सो को 'नंबर कमाऊ बनाने' की खातिर

सुसज्ज करता मिलेगा. फाटाकापी सुविधा के इस जमाने मे, परीक्षा चतुर विद्यार्थी पिछले वर्प अच्छे नबरो से पास हुए किसी विद्यार्थी के नोट्स की फोटोकॉपी कराता मिलेगा।

पचास-साठ करोड जनसंख्या वाली महान् 'हिंदी जाति' का प्रतिनिधि यह हिदी विद्यार्थी जो हिदी साहित्य और भापा का न केवल एक विज्ञ पाठक बन रहा है बल्कि उससे हिदी के तमाम सांस्कृतिक उपकरणों के सदुपयोग की उम्मीद की जाती हे अपने जन्मकुडली काल मे ही बौद्धिक तीक्ष्णता से वचित किया जाता रहता है। वह इस तरह नकल की नकल की अहर्निश नकल या उसकी सौवी-हजारवीं फोटोकापी ही रहता है। वह मूल पाठ नही पढता। वह अच्छी टीकाएँ नहीं पढ़ता। वह यदि पढता है तो इम्तहान से दो-ढाई महीने पहले आने वाली कोई चैंपियन गाइड या किसी अज्ञात महाभागा 'माया अग्रवाल' की कुजी पढता है जिनके लेखक ऐसे ही विद्यार्थी होते हैं जिन्हे उनके गुरुजनो ने हिंदी मे इस कदर पढ़ाया कि वे चार रुपये, पॉच रुपये प्रतिपृष्ठ के हिसाब से अपने नकल मारे नोट्स से ही किताब बनाने को पेट की खातिर अभिशप्त हुए और अब वे अपने गुरुजनों के अनत क्लोन वनाने का परम पुनीत कार्य कर रहे है जिसमें नई सडक या मेरठ छाप प्रकाशक अपना पुण्य सहयोग देते रहते हैं।

हिंदी का आम विद्यार्थी शुरू से अंत तक एक वंचित और वंचना-चकित विद्यार्थी है। वह निम्न मध्यवर्गीय जीवन स्थितियो से आता है। वह अपनी दीनता-हीनता मे ही कैद रहता है। उसे पहले क्षण से पता रहता है कि यदि उसे सस्ती एम ए करनी है तो वह हिदी मे ही की जा सकती है। ऐसे विद्यार्थी अब शायद ही मिलते है जो हिंदी की प्रति अपने कथित जातीय गर्व, प्रतिबद्धता और किसी बडे कर्तव्य बोध के वशीभूत होकर हिंदी के विद्यार्थी बने होते है। यह हिंदी को एक सतत पीढी ह जो कभी नहीं बदली। जमाना बदल गया लेकिन हिंदी के छात्र की प्रोफाइल नहीं बदली। यह 'हिंदी जाति' का निमाण है जिसे विश्वविद्यालय लगातार करते रहते हे। यहाँ गुणवत्ता पर नहीं मात्रा पर जोर रहता है ताकि अध्यापकों की छँटनी न हो जाए।

लेकिन हिंदी के छात्र का उसके वैसा होने में क्या कसूर? वह तो वही हो रहा है जैसा उसे होने दिया जा रहा है। मौलिक कल्पना और तीक्ष्ण बौद्धिक क्षमता से रहित वह यदि एक अनाम बेपहचान चेहरा बना रहता है तो इसमें कसूर उनका ही है जिन्होने हिंदी की दीक्षा को जाति के स्वस्थ-निर्माण तक की कठिन यात्रा को नकल की आसान यात्रा बना डाला और साहित्य की साधना की जगह शुद्ध ताकत या सत्ता के विमर्श को साधा। हमारे तमाम अध्यक्षों और महान् आचार्यो ने जो हिंदी-निर्माण किया उसमे विद्यार्थी को नवधा भक्तिवादी नियम ही सिखाए। उसे साहित्य-कर्म-कुशल नहीं बनाया। भाषा के अनत उपयोगो को नही सिखाया और

साहित्य क उपकरणों के उत्पादक उपयोग को अपराध समझा। इसीलिए 'व्यावसायिक लेखन', 'पेशेवर लेखन कर्म' हिंदी की गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले हिंदी विद्यार्थी के बेरोजगार-विमर्श में एक सजा योग्य अपराध की तरह है।

हिंदी का साहित्यकार साधारण मनुष्य जैसा 'साहित्यकार' नहीं, संत है, युग पुरुष है, नायक है, और त्राता है। चंदवरदायी, कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा, केशव, बिहारी, निराला, महादेवी, प्रसाद, पंत, अज्ञेय, मुक्तिबोध रघुवीर सहाय सब जिस तरह से पढ़-पढ़ाए जाते हैं उसमें विद्यार्थी हर बार अपने नंबरों और कैरियर को ही पढ़ता है। कोई दलित विद्यार्थी हुआ तो उसका बेगानापन इस ब्राह्मणवादी पाठ्यक्रम मे और ज्यादा होता है। वह कैरियर नहीं पढ़ पाता। इस तरह औसत विद्यार्थी साहित्य के उपकरणों को जीवन के साथ जोड़कर उपादेय नहीं बना पाता। साहित्य अलग रह जाता है जीवन अलग पड़ा रह जाता है। जिस साहित्य को एम.ए. तक विद्यार्थी ढोता है लेकिन जीवन में साहित्य किसी काम नहीं आता। ऐसा विश्वास और दृढ हो जाता है। ऐसी साहित्य शिक्षण पद्धति पता नहीं किस तरह से लेकिन अब सर्व स्वीकृत ढंग से स्थायित्व प्राप्त कर चली है कि साहित्य कुछ इस तरह जीवन मे आता है कि आते ही जीवन से बाहर चला जाता है। रटते हुए याददाश्त में अटक गई प्रेमचंद की कोई फटी-टूटी कहानी, कबीर का कोई दोहा, 'कनक-कनक ते सौ गुनी' या यमक और चारु चंद्र की चंचल किरणों वाला अनुप्रास। यही हिंदी की आम-उपलब्धि रह जाती है।

यह एक भयावह बेगाना जगत होना है कि हिंदीवाला जो पढ़ता है उसके काम नहीं आता है। उसे सत्ता के सोपान नहीं मिलते है और पराजित वंचित और अपमानित समझता हुआ हिंदी का विद्यार्थी किसी भी सरल से, अंधे से वहशी विचार की चपेट में आ जाता है जो उसे श्रम-विहीन और उत्पादन-हीन बनाता हुआ कोई उग्र काम देता है ताकि उसके अपमान का मार्जन हो जाए और इस तरह उसे पहचान देता है। साहित्य शिक्षक उसे राह नहीं देता। हिंदी के 'रेडीकल' रचनात्मक मुहावरे में इस अपमान की भीषण छायाएँ तैरती हैं। हाय!

नहीं, यह हिंदी के विद्यार्थी का कसूर नहीं है। दरअसल उसकी गुरु-शिष्य परंपरा का कसूर है जो एकदम स्वदेशी है जिसमें बदनाम भूमंडलीकरण का रत्तीभर दोष नहीं है। सुरक्षित और स्वायत्त गुरु-शिष्य परंपरा हमेशा से तो ऐसी दोषयुक्त ज्ञान-दान-प्रणाली नहीं रही होगी। साहित्य शिक्षण की परंपरा भी नई नहीं है।

लेकिन हम देखते है कि मौलिकता का जितना अभाव रीतिकालीन साहित्य शिक्षण में था वैसा ही शून्य हमें आज नजर आता है। यह शून्य हिंदी जाति के विकास का रोधक है। अब तक जितने अध्यक्ष आचार्यगण विभागों में विराजे उन सबने अपनी-अपनी क्षमता और प्रतिभा के अनुरूप अपनी-अपनी शिष्य परंपरा स्थापित की। उसमें कभी कुछ प्रतिभा रक्षा भी हुई लेकिन गुरु शिष्य-परंपरा के घेरे बने रहे

नतीजा यह कि आज वडे प्रतिभाध्यक्ष किन्ही भी विभागों मे नही बचे है लेकिन उन तक गुरु-शिष्य परपरा अपने क्लासिक रूप मे मौजूद है। यहाँ तक कि प्रगतिशील कहे जाने वाले अध्यापक भी अपने अंध-शिष्य वनाते रहते हैं।

अपनी ही नौकरियो के लिए अपने से बडों की चमचागीरी करके अध्यापक बने लोग अपने शिष्यों से चम्पी कराते पाए जाते है। लाइन बाहर गया और चेले का सिर गया। तभी चेला आगे चलकर 'गुरु का भी गुरु' बन जाया करता है। यह हिदी की नितांत देशज दुर्गंध है जिसमें हर विद्यार्थी अततः एक आत्माभिमान हीन, विना भाडे का टट्टू है। भयावह सर्वानुमति है।

वामपंथी और दक्षिणपथी सब तरह के लोग गुरु-शिष्य परपरा एक ही तरह से चलाते हैं। वे इस काम मे इस कदर व्यस्त रहते हैं कि नए साहित्य-शिक्षण-प्रकल्प सोच ही नहीं पाते। वे चलते-फिरते न्यस्त स्वार्थ होते हैं। अपनी सत्ता के चक्कर मे लिप्त होलटाइमर! विरल अपवाद हो सकते है। लेकिन हिंदी की व्यापक अध्यापन की प्रक्रिया का नक्शा ऐसा ही मध्यकालीन नक्शा है।

ऐसे मे हिंदी का विद्यार्थी करे तो क्या करे?

● **हिंदुस्तान, 20 दिसंबर, 2000**

हिंग्रेजी बोली का ग्लोबल बाजार

हिंदी के नए संस्करण 'हिंग्रेजी बोली' का बाजार ग्लोबल बाजार है। वह पिछले एक-डेढ़ दशक में बना है। यह हिंग्रेजी इतने चैनलों से और इतने मंचों से लगातार बन रही है कि उसकी सही-सही नक्शानवीसी करना मुश्किल लगता है। पुरानी बोलियाँ इलाकाई हुआ करती थीं। यह पहली 'बोली' है जो अखिल भारतीय और ग्लोबल बन रही है। एक बोली और वह भी ग्लोबल! अजीब बात है। लेकिन हो रही है! नहीं मालूम कि भाषा वैज्ञानिक शोध इधर कितना ध्यान दे रहे हैं लेकिन यह सच है कि मुक्त-बाजार हिंदी-अंग्रेजी के संबंधों को तेजी से बदल रहा है। अंग्रेजी के साथ मिलकर उससे स्पर्धा करती हिंदी 'हिंग्रेजी बोली' बनकर विश्वबाजार में विनिमय की एक बड़ी भाषा बन रही है। इसे प्रवासी भारतीयों की संवाद की भाषा में देखा जा सकता है। कह सकते हैं कि यह इंडियन डायस्पोर की बोली है। कह सकते हैं कि यहाँ भारत में ग्लोबल हो रहे मध्यवर्ग की भाषा भी है। इसे मीडिया और मनोरंजन के क्षेत्र में बनते देखा जा सकता है। हिंदी और अंग्रेजी में एक नई तरह की फेटाफाटी चल रही है। अब तक 'हिंदी में अंग्रेजी' आया करती थी अब 'अंग्रेजी में हिंदी' जाने लगी है। जिस 'हिंग्रेजी' या 'हिंगलिश' को कल तक एक मजाक का विषय मानकर चला जाता था अब वह बोलचाल की एक विशिष्ट शैली बन चली है।

हिंदी के बीच अंग्रेजी शब्द नागरी में आते रहते हैं। अंग्रेजी में हिंदी के शब्द रोमन में आते रहते हैं। जब नागरी में आते हैं तो हिंदी को शुद्ध बनाए रखने वाले यानी उसे संस्कृत के खूँटे से बाँधने के हिमायती कहते हैं कि हिंदी 'भ्रष्ट' हो रही है। जाहिर है कि वे हिंदी को उसकी आर्थिक प्रक्रिया से मुक्त एक ऐसी भाषा समझते हैं जो अब या तो बदल नहीं सकती और अगर बदले तो अपने संस्कृत मूल की ओर जाए। सौभाग्यवश वह उधर नहीं जा रही है यही उसकी जीवतता है और निर्भयता है। अंग्रेजी के बीच जब हिंदी आती है तो वहाँ हिंदी से ऐसे डर नहीं होते। आक्सफोर्ड शब्दकोश ने तो ऐसे अनेक हिंदी शब्दों को अपने में शामिल किया है जो अब ग्लोबल स्तर पर अंग्रेजी के बीच बोले जाते हैं। इस नई हिंदी में रहने वाले जन भी साहसी हैं वे अंग्रेजी से नहीं डरते। हाँ! हिंदी शब्दकोश इस मामले

म साहसी नहा दिखत।

अभी गोविंदा के 'छप्पर फाड़ के' के विज्ञापन जब अंग्रेजी अखबारों में आए तो वे रोमन मे और अंग्रेजी के बीच एक नई हिंदी के नए उदाहरण की तरह दिखे। वे अंग्रेजी पाठक को लक्षित है। वे बताते है कि अंग्रेजी का कोई भी उत्तर-भारतीय पाठक हिंदी से बेगाना नहीं है। ये विज्ञापन हिंदी के एक नए पाठक हिंग्रेजी के वाचक के होने को बताते है जिसे शुद्ध अंग्रेजी अब नही चाहिए जिसे ऐसी मिक्सिंग पसद है। ये विज्ञापन बताते हैं कि अंग्रेजी के बावजूद हिंदी बची रह जाती है। वह एक नए द्विभाषी पाठक के बनने को बताती है।

'छप्पर फाड के' का विज्ञापन देखें 'सात अजूबे दुनिया के आठवॉ आज दिखाऊँगा' रोमन मे लिखा है। नीचे 'पेज घुमाओ जानकारी पाओ' लिखा है। सोनी चेनल का 'लोगो' अंग्रेजी मे ही है। 'छप्पर फाडके' का नारा : 'अनलिमिटेड पैसा अनलिमिटेड पैसा।' अंग्रेजी मे हिंदी का बाजार इसी तरह घुसता है। ऐसे कई विज्ञापन इन दिनो देखे जा सकते है जिनमे हिंदी अंग्रेजी के बीच सजी होती हैं। एक डबल रोटी का विज्ञापन ऐसी ही भाषा बनाता है। हम इसे हिंदी का 'रैपिडैक्स फैक्टर' कह सकते है। पॉच करोड़ से ज्यादा पाठक बनाने वाली 'रैपिडैक्स इगलिश स्पीकिंग कोर्स' किताब ने हिंदी की नई पीढी को बताया है कि उसकी भाषा का भविष्य है लेकिन वह कविता-कहानी-उपन्यास मे नही है, न किसी व्याकरण की किताब मे बल्कि हिंदी के बन रहे ग्लोबल क्षेत्र मे जाने मे है। पिछले दो दशक से रैपिडैक्स ने हिंदी मे अंग्रेजी और अंग्रेजी मे हिंदी को संभव किया है। यह शोध का स्वतन्त्र विषय है कि हिंदीभाषी निम्नवर्गीय जनता को इस एक किताब ने किस प्रकार की 'अंग्रेजी' सिखाई है और हिंग्रेजी बनाई है और निम्नवर्गीय लोगो के 'बलीकरण' से हिंग्रेजी का क्या ताल्लुक बनता है? किसी भाषा के विकास का मानक उसमे रहने वाली जनता के बलीकरण की सभावनाओ से तय होता है। यदि कोई सर्वे करे और रैपिडैक्स के पाठक की प्रोफाइल बनाए तो उसे यह मालूम पडेगा कि उसे पढने वाले वे है जो अंग्रेजी से बनने वाली सत्ता में किसी तरह प्रवेश चाहते है। प्रेमचंद, प्रसाद, निराला की हिंदी जो उन्हें कक्षाओ मे पढने को मिलती है बलीकरण की भाषा नही बनती है इसलिए उन्हें अंग्रेजी सीखनी है ताकि वे भी 'ग्लोबलाय' सकें। इस किताब को घर की उन लडकियों और औरतो ने ज्यादा पढा है जो अन्यथा किसी पब्लिक स्कूल से वंचित रही है लेकिन जिन्हे पढ़ा-लिखा अंग्रेजी बोलने वाला होना है। इस किताब की बदौलत अपने घरेलू जीवन की बैठको मे उन्होंने अपने पढे-लिखे होने का सबूत दिया है। यह किताब अब तक पॉच करोड लोगों द्वारा पढी जा चुकी है।

हिंग्रेजी का दूसरा बड़ा कारक वे पब्लिक स्कूल हैं जो कस्बे, गॉव-गाँव खुल गए है और जिनमें सत्ता के केंद्र से बाहर रह जाने वाले वंचित वर्ग के बच्चे 'हिंदी मे अंग्रेजी' पढते है, हिंदी मे अंग्रेजी का इस तरह आना शुद्ध पश्चिमी ऑक्सफोर्ड

वाली या क्वीन्स इगलिश का आना नही ह बल्कि एक प्रकार की दसा हिग्रेजा का आना है। इसमें मूल मातृभाषा का ढॉचा बना रहता है और हिंदी मे एक नए प्रकार की अग्रेजी बन उठती है।

तीसरा बडा कारक टीवी है जिसने हिंदी फिल्मो की 'हिंदुस्तानी' को 'हिंग्रेजी' मे बदला है। विज्ञापन शायद इससे वके उप-कारक है जिन्होंने अपने ब्रांडो का वाजार बनाते हुए हिंदी को बदल डाला है, और अग्रेजी को भी बदल डाला है। उन्हीं की वजह से अग्रेजी में हिंदी आ रही है। द्वि-भाषी वाजार इसी तरह पटाया जाना हे। सपादकीय पृष्ठ पर अभी भी क्लासिकल हिंदी रहती है। ऐसा एक छोटा-सा अध्ययन इन पक्तियों के लेखक ने पिछले वर्ष किया था। कई दैनिकों के इस अध्ययन ने बताया कि हिंदी अखबार के लाखो शब्दों के वीच अंग्रेजी शब्दो की सख्या सौ-डेढ सौ से ज्यादा नहीं है। एक लाख शब्दों के बीच सौ-डेढ़ सौ अग्रेजी के चलन के शब्द इस हिंग्रेजी को वनाते है। और अब 'अंग्रेजी मे हिंदी' आने लगी है। यह नइ बात है। यह चीज एक जमाने में स्टार डस्ट ने शुरू की थी फिल्मी गप्पो की महागन्नी शोभा डे ने एक खास प्रकार की अग्रेजी दो-ढाई दशक पहले स्टारडस्ट मे शुरू की थी जिसमे एक बिदास भाषा का निर्माण होता था जिसमे बोलचाल की हिंदी के शब्द अग्रेजी के बीच आया-जाया करते थे। आज वैसी हिंग्रेजी हर चैनल की भाषा ह। चैनलो ने वोलचाल की एक नई हिंदी को जन्म दिया है जो पुरानी हिदुस्तानी नहीं है जो ग्लोबल हिंग्रेजी है या कहें जो 'बातचीत की नई हिंदी' है। हम कह सकत हे कि अग्रेजी एक महानगरीय बोली है जो अन्य बोलियो की तरह सिर्फ बोली ही नही जाती, लिखी भी जाती है।

हिंग्रेजी का इस तरह लगातार बनते जाना बताता है कि हिंदी क्षेत्र बदल रहे ह इनमे बदलने की तेज इच्छाएँ कुलबुला रही हैं। और वे इस वक्त मीडिया और मनोरजन और मुक्त बाजार के जरिए बदल रहे हैं किसी राजाज्ञा और समाज सुधार आदोलन या महान् लेखक के जरिए नही बदल रहे। इस बदलाव का सबसे बडा प्रमाण उनकी बरती जाने वाली हिंदी है जो अग्रेजी के शब्दो को सहज तरीके स लिए-दिए चलती है।

हिंदी का बाजार एक वेहद बडा वाजार है यह भाषा उस आर्थिक प्रक्रिया मे वदल रही है इसीलिए इसका विरोध करने वाले शुद्ध हिंदीवादी अपने विरोध के बावजूद उसे वढ़ता देख सकते हैं। शायद यह पहली बार है कि कोई भाषा साहित्यकार नहीं वदल रहे। विज्ञापन और कारपोरेट जगत् वदल रहा है। और जनता वदल रही हे। यह हिंग्रेजी एक बेधडक और तेज गति की वोली है जो अभिव्यक्ति की ग्लोबल जरूरतो में बन रही है।

जो हिंदी में हो रहा है वह अन्य भाषाओं में भी हो रहा है और जैसी घबराई हुई प्रतिक्रियाएँ हिंदी में देखने को मिलती हैं वैसी ही प्रतिक्रिया अन्य भाषाओं मे

मिलती है। शायद यही वजह है कि रैपिडैक्स भारत की अनेक भाषाओं को अग्रेजी बोलना सिखाता है। बगाल मे बग्रेजी, मराठी मे मिंग्रेजी आदि इसी तरह बनी ही है। ऐसे अनेक संस्थान है जो साठ दिन या तीस दिन मे अग्रेजी बोलना सिखाते हैं। ये संस्थान उक्त हिंग्रेजी को बनाने वाले है। उनका होना बताता है कि हिंदी मे एक वर्ग अंग्रेजी में जाना चाहता है। यह बड़ा वर्ग है। गॉवो से शहरो की ओर आता किसान वर्ग शहरीकरण के ऐसे दौर में है जो सिर्फ पुराना शहरीकरण नही है बल्कि भूमडलीकरण है। इस प्रक्रिया में प्रवेश लेने वाले आदमी की जरूरत हिंग्रेजी पूरी करती है। इस मामले मे रैपिडैक्स का अध्ययन दिलचस्प है। वह विश्वास दिलाता है कि आप चाहे तो साठ दिन में अग्रेजी बोलना सीख सकते है। वह वादा करता है कि आप धाराप्रवाह अग्रेजी बोल सकते है और स्पेलिग भी ठीक कर सकते हे। यह लिखना भी सिखाता है। इसमें दैनिक जीवन मे आने वाले शब्दकोश को और वाक्यो को गजब होशियारी से इकट्ठा किया गया है। रैपिडैक्स को हिंदी के आम आदमी की अग्रेजी-ग्रथि का गहरा ज्ञान है। वह उसी तरह खेलता है। वह कहता हे कि जब तक आपके मन मे यह भय बना रहेगा कि 'कि लोग क्या कहेंगे' तब तक आप बातचीत मे अटकेंगे। इसके साथ एक कैसेट भी दिया जाता है। जो उच्चारण का अभ्यास कराता है अग्रेजी के डर को निकालना इसका बडा काम है यहॉ गारटी दी गई है कि अभ्यास के बाद अग्रेजी बोलना उतना ही स्वाभाविक लगेगा जैसे कि आप मातृभाषा बोल रहे हो, प्लीज, थैंक्स, वेलकम, काइडली, एलाउ मी, एक्सक्यूज मी पार्डन, दैट इज आलराइट, इट्स माइ प्लेजर आदि संबोधन आप दूसरे दिन ही सीख जाएँगे। कोर्स कहता है, वह समझाता है कि अगर आपको किसी से पेन लेना हो तो या एक गिलास पानी मॉगना हो किसी से समय पूछना हो तो वाक्य मे 'प्लीज' का प्रयोग करना होगा। इस तरह बोलिए 'गिव मी योर पैन, गिव मी ए ग्लास ऑफ वाटर, टाइम प्लीज, येस प्लीज', शिष्टाचार के अनिवार्य सरल अंग्रेजी वाक्य आप देवनागरी मे पा सकते हैं उन्हे रटकर अग्रेज बन सकते ह। यह हिंग्रेजी एक नई 'बोली' ही है भाषा नहीं है। यहाँ आप अंग्रेजी साहित्य को पढ़ते हुए अग्रेजी नही सीखते बल्कि बोलचाल मे सीखते हैं। तकनीक और बाजार ने साहित्य से बाहर और उससे लगभग मुक्त एक बोली पैदा करदी है जो बडा बाजार रखती है।

हिंग्रेजी को सभव करने वाला बाजार दरअसल कॉरपोरेट दुनिया का है जिसके अग्रेजी ब्रांडों के विज्ञापन देवनागरी मे और अग्रेजी मे रोमन में यथावत आते है। ज्यादातर ब्राड नाम अग्रेजी मे होते है। आप ब्राडो का अनुवाद नहीं ही कर सकते। उनकी विशेषताओं को भी आप हिंदी मे अनुवादित नहीं कर सकते। एक ही ब्राड की विज्ञापन कॉपी दोनो जगह देने से सस्ती पडती है। इसलिए जो अंग्रेजी मे आता है वही देवनागरी मे यथावत आता है और एक नए प्रकार की हिंदी पैदा होती है।

अग्रेजी के ब्राड देवनागरी के रास्ते अंग्रेजी मे घुसते हे और हिंदी को बाजार बनाते है। जाहिर है हिंग्रेजी एक जबर्दस्त आर्थिक प्रक्रिया भी है। अब एक ऐसी पीढ़ी सामने हे जो हिंदी साहित्यकारों से भाषा नही सीख रही बल्कि विज्ञापनो से, टीवी सीरियलो से और रेपिडैक्स से सीख रही है, उसकी मातृभाषा हिंदी मे हिंग्रेजी एक ग्लोबल बोली बनकर आ रही है।

● हिंदुस्तान, 31 जनवरी, 2001

ये अंग्रेजीवाला क्या बोलता?

'हिंदीवालाज' को अंग्रेजीवाला खुशवत सिह ने फिर नीचा दिखाया। इस बार फर्क इतना रहा कि दो हिंदीवालाज ने अपने-अपने तरीके से हिंदी-सज्जन होकर जवाब-से दिए। एक ने कहा कि अब हिंदी वह नही रही। भारत में हिदी एक सर्वमान्य भाषा है। दूसरे ने कहा कि उन्हे समझ ही नही आता कि भारतीय लोग अग्रेजी मे क्यो लिखते है। हम जानते हैं कि ये लोग गोष्ठी के बाद फिर आई .आई .सी. यानी इडिया इटरनेशनल सेटर मे मिलेगे और एक-दूसरे की नजरे पकडने की कोशिश करते मिलेगे। ये सज्जनों के खेल है। वे सब सह लेते हैं। हिदी ऐसे ही सज्जनो की हाथ की कंदुक है जिसे हिंदीवालाज कुछ चालू नियमो से खेलते रहते है। 'जाने क्या तूने कही जाने क्या मैंने कही बात कुछ बन ही गई' के भाव खेल चलना रहता है। इसीलिए वे हिदी के कान के नीचे दुहत्थड लगा देते है और हिंदीवाले कान सहलाते रह जाते है। कहॉ दो फीसदी से भी कम की भाषा और कहॉ पचास करोड की भाषा। लेकिन दो करोड का एक स्वघोपित रसलपट लेखक फिर भी भारी पडता है। क्यो? इसका एक उत्तर तो उसी राप्ट्र भाव मे है जो कहता है कि हिंदी राष्ट्रभापा है। इस तरह राप्ट्र की तरह ही वह कही भी कभी भी और किसी से भी प्राय पिटने को उत्सुक रहती है। ये ठेठ हिदीवाले नहीं हैं। ठेठ हिदीवालाज दलित लोग ही हो सकते है। उनने कभी सुन लिया खुशवत जी आपकी बातें तो सीधे कानून व्यवस्था की समस्या ही बनेगी।

'ठेठ' हिंदी के एलीट सज्जन साहित्यकार हिदीवाले होते तो कम से कम दो काम तो तुरत करते : तय करते कि आगे से इस खूसट अंग्रेजीवाला को हिदी मे नही बुलाएँगे। आएगा तो उसके पास से पॉच-पॉच कुर्सी छोडकर बैठेगे। बोलेगा तो उतने समय तक 'हो हो हो' हॅसते रहेगे। या अहिंसक किसम का प्रतिरोध होता। दूसरा यह तय करते कि उसका कॉलम जिन हिंदी अखबारों में छपता है उन पर दबाव बनाते कि वे उसका अनुवाद न छापा करें। लेकिन ऐसा नहीं होगा। हिदीवालाज ऐसा नही करेंगे क्योंकि जिन हिंदीवालाज के हाथ मे हिंदी की बागडोर है उनमे हिदी भाषा को लेकर स्वाभिमान की सच्ची और खरी भावना नही है। उनके चोर मन

मे कही न कहीं अग्रेजी मे कुछ होने की भावना बिलबिलाती है। और कुछ नही तो वे अग्रेजी में अनूदित ही हो जाना चाहते हैं ताकि दुनिया को दिखा सके कि हम किसी से कम नहीं। यह मुआ 'उत्तर-औपनिवेशिक' भाव है जो कम से कम एक बार अग्रेज वहादुर की दुनिया को कायल करना चाहता है कि देखो भाई अग्रेज हम तुमसे या किसी से कम नही। यो भी इस ग्लोबल समय मे यही ग्लोवल देन-लेन का सच्चा भाव है।

इसीलिए अग्रेजीवालाज के अतिम ठेकेदार खुशवंत जी हर दो-चार महीने पर अग्रेजीवालाज को उनकी औकात दिखाते रहते हैं। ऐसी बाते कहकर वे हिंदी मे एक बडी खबर बनाते हैं। वे जानते हैं कि मारो तो खबर बनती है। पिटो तो खवर नहीं वनती। तो वे खबर बनाते रहते है। हिंदी जितना पिटती है, पीटनेवाले की खबरे वनती ही रहती हे।

अग्रेजी को लेकर हिंदी मे कई प्रकार की औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक 'दुर्भावनाएँ' है। सातवे दशक में अग्रेजी के विरुद्ध हिंदी क्षेत्रो में एक विखरा-बिखरा-सा आदोलन चला था। तव अग्रेजी के नामपट्टों को काला किया जाता था। लेकिन वह सातवाँ दशक था जब विरोध करना भी एक राजनीति बनता था और उसमे एक मानी बनता था। ये ग्लोबल दिन है। लालू से लेकर हर हिंदीवाला समझ चुका हे कि अंग्रेजी के बिना काम नही चलने का इसलिए स्कूलों में अंग्रेजी जरूरी मानी गई है। तकनीकी क्राति में अग्रसर रहने के लिए भी उसकी जरूरत बताई गई हे। इस तरह अग्रेजी को लेकर एक नया सहनशील स्पेस बना है जिसमे अग्रेजी एक विशिष्ट भाषा बनकर जीवन मे मूल्य बनाने वाली और बढाने वाली भाषा बनी हे। ऐसा होने पर भी हिंदी आगे बढी है। उसका स्वाभिमान वढा है, उसका बाजार बढा है और उसकी शर्ते बढी है। अंग्रेजी के प्रति जो दुर्भावना थी वह अब वदलकर अग्रेजी से अमेरिका-यूरोप जीतने की दुर्भावना मे बदलती है जिसे कुछ उत्तर-औपनिवेशिक विद्वान् यूरोप को 'भारत का उपनिवेश' बनाने के भाव के रूप मे पहचानते है। यही उत्तर-औपनिवेशिक 'दुर्भावना' है जो हिंदी मे इन दिनो बडे पैमाने पर सक्रिय है, जो अग्रेजी से किसी को उलझने तक नहीं देती, बहस तक नहीं करने देती लेकिन जो अग्रेजी के प्रति पराएपन के भाव को एक कामचलाऊ घृणा में वदल कर हिंदी को आगे नही बढ़ने देती। यहाँ यूरोप को उपनिवेश बनाना ध्येय है बाजार बनाना नही। यहाँ इतिहास का बदला लेना ध्येय है अपना सामान बेचना नहीं। जाहिर है कि हिंदी यही पिटती है। उसका नेतृत्व उसे पिटवाता है क्योकि वह अभी तक एक उल्टा उपनिवेशवाद अपने मन मे पालता है। हमे मान लेना होगा कि अग्रेजी भी इस देश मे एक भाषा है। साहित्य अकादमी मे वह मान्य भाषा है। हम सोचे कि अग्रेजी मे पिछले दिनों उभरे और उभारे गए लेखकों की रेटिंग अंग्रेजी मे क्या है? अग्रेजी के विचार और साहित्य के बाजार मे उनके दाम क्या है? क्या वे अंग्रेजी साहित्य के समकालीन इतिहास में घुस पा रहे हैं?

यही तकलीफ है। वे नहीं घुस पा रहे हैं। हिंदीवाला जैसा भी हो अपने एक इतिहास मे जैसी भी हो, एक जगह की उम्मीद लगा सकता है। लेकिन अंग्रेजीवाला? वह हिंदी कहावत के धोबी के उस कुत्ते की तरह है जो न घर का है न घाट का। अंग्रेजीवालाज की इस तकलीफ को हिंदीवालो को समझना चाहिए। अंग्रेजी के उपन्यास 'ग्लास पैलेस' के चर्चित लेखक अमिताभ घोष की कामनवेल्थी आलोचना मे उस दयनीयता को पढना चाहिए। अंग्रेज बहादुर और उनके कॉमनवेल्थी बदो ने उन्हे कॉमनवेल्थ के किसी इनाम या फड की रेस मे रखा। अमिताभ को लगा कि यह ठीक नही क्योकि उनका उपन्यास कॉमनवेल्थ के खिलाफ है। उन्होने अपना उपन्यास उस घुडदौड से वापस ले लिया और कहा कि कॉमनवेल्थी यानी कल तक अग्रेजी के उपनिवेश रहे देशो को अगर आप कॉमनवेल्थ मानते है तो उन देशो की भाषाओ में जो कुछ लिखा जा रहा है उसे भी आकलन मे रखे। यह कॉमनवेल्थी बचे खुचे अग्रेजी बहादुरो को जॅचा नही इसलिए उन्होंने अमिताभ को उचित ही खरी-खोटी सुनाई। अमिनाभ का जो जमीर जाग गया भले उसका कारण कुछ रहा हो। खुशवत अभी तक कॉमनवेल्थ को ढो रहे है जिस पर अब कोई रोता तक नही।

यदि हम अधिक गंभीरता से सोचें कि कुछ लोग अंग्रेजी मे ही क्यो लिखते हैं तो हम कहेंगे कि वे इसलिए लिखते है क्योंकि भारतीय प्रवासियो को अपने मारकेट के लिए इसी में लिखना उपयोगी लगता है। वे यूरोप अमेरिका में पले-बढे है। डॉलर-पौड कमाने वाले ये लोग भी इसान है और जिस भाषा मे भी सही उन्हे भइया लिखने का हक है। वह चाहे अग्रेजी ही क्यों न हो। आखिर अंग्रेजी भी एक भाषा है जिसमे साम्राज्य की वर्चस्वकारी इच्छाएँ परवान चढी हैं। अब वे उतार पर और एडजस्ट करने पर उतारू है। ऐसे उतार वालों से क्या कहना।

इस प्रसग मे एजाज अहमद को याद किया जा सकता है जिन्होंने अपनी किताब 'इन थियरी' में तीसरी दुनिया के देशो के अग्रेजी लेखको के बारे मे इस आशय के साथ लिखा है कि ये अंग्रेजी मे लिखने वाले लेखक जिनमें सलमान रश्दी तक शामिल है, दरअसल साम्राज्यवादी शक्ति केंद्र से बॅधे है। वे अपने समाजो को उनके लिए बनाते-बेचते हैं। हिंदी में सीधे कहे तो कहेंगे कि वे साम्राज्य के दल्ले हैं। ऐसा कहना कुछ ज्यादती लगता है। हमें लेखको को संदेह का लाभ देना चाहिए। हमे कुछ देर इतना तो मानकर चलना चाहिए कि वे अंग्रेजी मे जब लिखते हैं तो भले यूरोप-अमेरिका मे भारत को खोजने वाले के लिए लिखने हैं और इस तरह उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श को विस्तृत करते है ताकि वह ग्लोबल के लिए खुल जाए और बोधगम्य हो जाए। हमारी समझ से तो जिस तरह बॉलीवुडवालो की फिल्मे इन दिनो अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका और यूरोप के प्रवासी भारतीय तथा वहाँ के अपने बाजार के लिए बनती है और उसके लिए स्वदेश प्रेम के वीर रस के साथ डॉलर-प्रेम का, पश्चिमवाद का निर्वाह करने वाला फारमूला बना चुकी है, वैसा ही फारमूला इन लेखकों ने भी

बना डाला है। वे डॉलर कमाएँ तो हिंदीवालाज जलता है, जलाता नहीं है : जलाने के लिए उसके पास डॉलर नहीं है। लेखन अगर डॉलर की ओर मुड़ गया है तो बुरा क्या है? अभी अंग्रेजी है। कुछ दिन बाद हिंदी का नंबर भी आएगा। तब असल बाजार बनेगा। तब खुशवन्त भाई क्या करेंगे?

आज भी जब किसी अंग्रेज बहादुर को भारतीय समाज को जानना, शोध करना होता है तो वह मूल भाषा की ओर ही आता है। उसकी अंग्रेजी ज्यादा काम नहीं देती और हिंदी भी कमबख्त इतने तरह की हो रही है कि कथा जैसी संस्थाएँ कृष्णा सोबती के 'जिंदगीनामा' के अंग्रेजी अनुवादक को कठिनाई से तलाश कर पाती है। तो हे खुशवंत भाई! आप हर तीन महीने पर हिंदीवालाज को कम से कम एक लात मार दिया कीजिए। राम कसम इससे हिंदी में कुछ हरकत होती है। आपकी लात में बड़ा दम है।

• **हिंदुस्तान, 20 अप्रैल, 2001**

माना हम हिंदी पढ़ें खाएँगे क्या?

यदि सब कुछ ठीक-ठाक चलता रहा तो इक्कीसवीं सदी में हम हिंदी को एक अंतर्राष्ट्रीय स्तर की भाषा के रूप में विकसित होता देखेंगे और हिंदी के विद्यार्थी का एक नया संस्करण बनेगा। वह सिर्फ साहित्य या भाषा का परंपरागत अध्ययन नहीं करेगा बल्कि वह हिंदी भाषा को सूचनाशास्त्र के अनुपूरक रूप में और संस्कृति (यों) को एक स्वतंत्र विषय के रूप में पढ सकेगा। यहाँ वह अनुवाद को एक विकसित शास्त्र के रूप में पढ सकेगा। महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रचारित साहित्य यह सूचना देता है कि वह हिंदी को एक नए 'शास्त्र' (अनुशासन) के रूप में पढाएगा जहाँ हिंदी सिर्फ 'साहित्य' या भाषा विज्ञान मात्र नहीं होगी बल्कि सूचना शास्त्र और कंप्यूटर साफ्टवेयर की भाषा के रूप में पढाई जाएगी और उस दिशा के विविध प्रयोगों, उपयोगों के लिए तैयार की जाएगी।

हिंदी के ऐसे अनूठे अध्ययन की परिकल्पना से चौंकने वाले इस सूचना से और ज्यादा चौंकेंगे कि हिंदी विश्वविद्यालय में संस्कृति (यां) भी उच्चतर अध्ययन का विषय होंगी और हिंदी के उच्चतर व्यावहारिक व्यावसायिक रूप तथा अनुवाद, अंतर्भाषाई आदान-प्रदान भी अध्ययन के विषय होंगे। विश्वविद्यालय के पहले कुलपति हिंदी के प्रख्यात कवि, समीक्षक और संस्कृतिकर्मी अशोक वाजपेयी ने अपनी प्रश्नावलियों और कार्यशालाओं से स्पष्ट कर दिया है कि यह अन्य विश्वविद्यालयों की तरह ही 'एक और' विश्वविद्यालय नहीं होगा बल्कि ऐसा विश्वविद्यालय होगा जिसमें हिंदी को अंतर्राष्ट्रीय स्तर की भाषा के रूप में, एक स्वतंत्र अनुशासन के रूप में, (सिर्फ माध्यम रूप में नहीं) पढ़ाया जाएगा। इन दिनों इसके पाठ्यक्रमों के निर्धारण के लिए देशभर में कार्यशालाएँ चल रही हैं जिनमें संस्कृतिकर्मी, भाषाविद, पत्रकार, साहित्यकार, समाजशास्त्री भाग ले रहे हैं।

इसीलिए यह विश्वविद्यालय एकविनम्र प्रश्नावली से आरंभ होता है जो हिंदी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की वर्तमान दशा और समस्याओं पर उँगली रखकर आगे बढती है। आधुनिक हिंदी का उच्चतर पाठ्यक्रम लगभग एक शताब्दी पूर्व सोचा गया था बाद का ढाँचा वही 'महत्त्वपूर्ण प्रश्नों' और 'महत्त्वपूर्ण उत्तरों' वाला ही रहा

है। बहुत दिनो तक हिंदी विश्वविद्यालयों के उच्चतर पाठ्यक्रम सिर्फ छायावाद तक आधुनिक थे। सातवें-आठवें दशक मे ही वे 'नई कविताएँ' इत्यादि तक आए और जोधपुर, जे.एन.यू. के पाठ्यक्रमो मे नामवरसिंह द्वारा 'अपडेटिंग' हुई सो हुई लेकिन बुनियादी ढाँचा फिर भी नही टूटा। साठ-सत्तर साल मे ठोसीकृत पाठ्यक्रम अभी तक कितने जड़ और अपरिवर्तनीय है कि दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे केंद्रीय विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग मे संरचनावाद, उत्तर-सरचनावाद इत्यादि विमर्श के नए तरीके काफी पहले पाठ्यक्रमो मे शामिल किए गए लेकिन हिंदी मे इसका दूर-दूर पता नही।

साठ-सत्तर साल मे ठोसीकृत हुए मूल 'टेक्स्ट' और परीक्षा प्रश्नपत्र, मूल्यांकन पद्धति और इनसे सबद्ध शिक्षा पद्धति 'हिंदी' के विद्यार्थी को 'हिंदी साहित्य' का विद्यार्थी बनाते है जिसे इन दिनो चैंपियन गाइडो वाले पढाते है। श्यामसुंदर दास, रामचद्र शुक्ल की विरासत न बदली तो अंतत- कुजियो के बाजार मे गिर गई। विभाग कुजियो के हवाले हो गए और शोधकार्य दस किताबों की नकल कर 'एकादशी' बनाने के महामार्ग पर चले। एक भाषा का अनुशासन किया गया और कुछ ऐसा अनुशासन किया गया कि भाषा अन्य समाजविज्ञानों, समाजशास्त्रों एव विज्ञानों की उपलब्धियो के प्रति नितान्त उदासीन और गैर-सवेदनशील हो उठी। आधुनिकता की ऑच उसके बोध को गहराई से नही छू पाई। उसे पढकर निकले ऐसे लोग बहुत कम दिखते है जिन्होंने हिंदी समाज को बदलने मे कोई सार्थक भूमिका निभाई। हिंदी मे एम ए. के नाम पर जिस 'साहित्य का एम.ए बनाया गया उसमें ज्ञानोदय की इतनी-मृत गुजाइश ही रही कि वह 'पाश्चात्य साहित्यशास्त्र' के नाम पर दस प्रश्न रट ले और भारतीय काव्यशास्त्र के प्रसगो से उनकी पूछे जाने पर तुलना करना हुआ अततः भारतीय काव्यशास्त्र की जै बोल दे। पाठ्यक्रम मे यह 'ओरियंटलिज्म' जस का तस चला आया और आज भी है। नतीजा यह कि हिंदी का विद्यार्थी किसी भी नए ज्ञान का वैरी और इस तरह तमाम अच्छे साहित्य का ही वैरी बन गया। हिंदी विभाग स्वय को पोषित करने वाले ऐसे 'इम्यून' विभाग बन गए जो न बदलते, न बदलने देते हैं।

उपलब्ध हिंदी का विद्यार्थी ऐसे ही साहित्य का विद्यार्थी होता है। अधिक तेजस्वी, अधिक विद्रोही हुआ तो दडित होता हुआ मारा जाता है, भाग्यशाली हुआ तो कही बच निकलता है। न वह भाषा लिख पाता है, न भाषा मे कुछ कह पाता है। भाषा के नए प्रयोगो, उपयोगो को वह नही जानता। एम.ए करके, किसी तरह पी-एच डी करके या करते हुए वह सिर्फ एक ही क्षेत्र मे नौकरी तलाश करने को अभिशप्त रहता है। यह है क्षेत्र साहित्य के शिक्षण का क्षेत्र। वही आत्मठोसीकृत विभागो की एकमात्र दीक्षा। और समस्या शुरू हो जाती है। हमारे विश्वविद्यालय हिंदी के नाम पर 'साहित्य' के इतने सामान्य विद्यार्थी अनत सख्या मे पैदा करते हे कि उन्हे खपाने के लिए कोई चले तो वर्ल्ड बैक भी बिक जाए और खपा भी ले तो वही फिर विभागो के साहित्य शिक्षण का ठोसीकरण जिसका किसी किस्म के नए उत्पादक श्रम से

कोंइ सवध नही बैठता . हिंदी क एमए ट्यूशनमार्केट मे से वाहर रहते है, अन्य श्रम के योग्य नहीं रह जाते। सिर्फ एक भापा की सीमित जानकारी और उस पर मूर्खतापूर्ण गर्व उन्हे अच्छा अनुवाद कार्य करने योग्य भी नही छोडता। दिमाग से पिछडा, दिल से रीतिकालीन और व्यवहार मे भक्तिकालीन होता हुआ वह राजनीति में वीर गाथाकालीन होता है। सिर्फ आधुनिक-सुसंगत आधुनिक तक नहीं हो पाता। सूचनाशास्त्र, कप्यूटर के लिए हिदी को तैयार करना, इस विचार भर से हिंदीवाले को जूडी आती है। उसे चाहिए हिदी का गैर समानुपाती गर्व, हिदी दिवस, सरकारी रियायते, और सिर्फ बडी भापा होने का दर्प। बड़ी भापा का अर्जन और नए कामो के लिए उसकी तैयारी करना यह उसके एजेंडे में तो क्या सपने में कभी नही आता। हिदी के हास्य कवि गोपाल प्रसाद व्यास की एक पुरानी कविता 'मै हिंदी का अध्यापक हूँ' इस संदर्भ में पठनीय है। उसे जगत् गति व्यापती ही नही।

यदि तमाम विश्वविद्यालयो के हिदी विभागों के वार्षिक अवदान का आकलन किया जाए तो कुछ डरावने तथ्य सामने आ सकते है। जहॉ हिंदी पढाई जाती है वहॉ हिदी विभाग बडे विभाग है। अकेले दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिंदी के पॉच सौ से ज्यादा अध्यापक है और उत्तर-मध्य भारत कॉलेज-कॉलेज चले जाइए तो यह तादाद हजार तक भी पहुँच सकती है। वे अहर्निश शादी का इतजार करती लडकियो, बेहतर कोर्सो मे न जा पाने वाले छात्रो को एम.ए. कराते रहते है। लाखो छात्र धीरे-धीरे एक अनुपयोगी, फिर से उपयोग में न आने वाली 'हिंदी' के यानी हिंदी साहित्य के एम ए. हो रहते हैं, भापा और उत्पादक श्रम के सवध वे नही जान पाते। नए रोजगारो मे वे नही जा पाते। चारो तरफ से हारे, व्यर्थ हुए वे एक झूठे अहकार को लिए अतीत जीवी फासिज्म का और मर्दवाद का जाप करते है। नवजागरण के नए दौर की जगह वे निराशा मे गोते लगाते है और जगत् भर को अपनी असफलताओं का दोषी मानते है। करोडो रुपये खर्च करने वाले विभाग जो पढ़ाते है, वह पलटकर एक पैसा भी नहीं उत्पादित कर पाता। महात्मा गॉधी अतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय यदि 'एक और' विश्वविद्यालय नही बन रहा है तो कहना होगा कि उसने हिंदी अध्ययन-अध्यापन की व्यर्थता को जान लिया है। हिदी से जातीय किस्म की घृणा करने वाले कुछ भी कहे, यह अब सब जानते-मानते है कि हिंदी विश्व की तीसरे नंबर पर आने वाली सबसे बड़ी भाषा है और किसी नवजागरण कार्यक्रम के सुचारु रूप से पूरा होने से इनकार न करते हुए, मुक्त बाजार की स्पर्धात्मक शक्तियों के लिए वह एक ऐसी भाषा के रूप मे उपलब्ध रही है जहॉ बडा उपभोक्ता बाजार है जो एक मानी में यूरोप के समस्त बाजार के बराबर है। इलेक्ट्रानिक क्राति, सूचना सचार क्राति और प्रिंट मीडिया के तेज विकास ने हिंदी को 'विनिमय' की एक अनिवार्य भाषा बना दिया है। वह अपनी कथित 'शुद्धता' और संकीर्णता खो रही है। सूचना शास्त्रो, इन्फार्मेटिक्स और कंप्यूटर सॉफ्टवेयर के क्षेत्र मे हिंदी की मॉग पैदा हो रही है। अच्छे अनुवादक,

अच्छे कापीराइटर, अच्छे पटकथा लेखकों की माग बढ रही है। स्पष्ट ही हिंदी भाषा के नए उपयोगों की सभावनाएँ बढ़ रही हैं। इन क्षेत्रों के लिए हिंदी का नया अनुशासन, नया अध्ययन और उसमें दक्ष नया विद्यार्थी चाहिए जिसका दिमाग भूमडलीय हो, जो आधुनिकता-उत्तर आधुनिकता, स्त्रीत्ववाद, सरचनावाद और तमाम तरह के 'ज्ञानों' के लिए खुला हो और जो अपनी भाषा और उसके अनत उपयोगों को न केवल समझ सके बल्कि बढा सके। इतना खुला होकर ही वह परपरागत ज्ञान को भी नई दिशा दे सकेगा। इस अर्थ मे नए हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा जारी प्रश्नावली मे हिंदी के पठन-पाठन के प्रति प्रश्नवाची दृष्टि उसे चुनौती पूर्ण बनाती है।

यह हिंदी पाठ्यक्रम के एक और पुनर्संस्करण की आश्वस्ति देती हुई हिंदी को मतिमंदता की भाषा नहीं मानकर उसे उच्चतर ज्ञान की भाषा बनाना चाहती है। समाजशास्त्रों, तकनीक, सूचनाशास्त्र, कम्प्यूटर प्रणालियो, इटरनेटों के लिए भाषा का और उसके विद्यार्थी को तैयार करना भाषा को मूलतः नए 'बलीकरण' और व्यवसाय के लिए तैयार करना है। वही भाषा ज्ञान सक्षम है जो भाषा सामाजिक बलीकरण की भाषा भी है और वही भाषा सामाजिक बलीकरण करती है जो व्यवसाय को बढ़ाने मे साक्षात् काम आती है। अग्रेजी का नया बलीकरण उसके तकनीकोन्मुख और फलस्वरूप सक्षम होने से भी जुडा है। विश्व की सभी विकसित भाषाओ ने नए जनसचारों, सूचनाशास्त्रों, कंप्यूटरों के लिए अपनी भाषाओ को तैयार किया है। हिंदी मे कुछ नए सॉफ्टवेयर सुनने मे आए है। हिंदी का यह विश्वविद्यालय इस क्षेत्र के प्रति सतर्क है, यह अच्छी बात है और इससे अन्य विश्वविद्यालयों के हिंदी विभाग सबक लेंगे ऐसी उम्मीद की जा सकती है।

पिछले दिनो हिंदी विद्यार्थी मे अध्यापक बनने के अलावा पत्रकार बनने की इच्छा भी देखी गई है। विश्वविद्यालयो के भीतर पत्रकारिता पाठ्यक्रम भी बढ़े है लेकिन वे बेहद अपर्याप्त, पिछड़े और अक्षम पाठ्यक्रम हैं जो प्रिट मीडिया के गटरप्रिट तक आते हैं। कंप्यूटर प्रणालियों और पत्रकारिता के बदलते सबध वहाँ अध्ययन के विषय नहीं बनते। यदि यह नया विश्वविद्यालय हिंदी मे 'जनसचार' के उच्चतर अध्ययन की भी व्यवस्था करे तो वह हिंदी भाषा के बलीकरण और ज्ञान के नए क्षेत्रों के प्रति उसे तैयार करने मे बडी भूमिका निभा सकता है।

सतोष की बात यह है कि नए विश्वविद्यालय की प्रश्नावलियाँ बेहद खुली और व्यापक हैं। जिन दिनो जमे-जमाए सस्थान गिर रहे हो उन दिनो ऐसा उद्यम बेहद उत्तेजक उद्यम हो सकता है और इस तरह की चिताएँ स्वय कुलपति ने प्रकट भी की है और यहीं से चुनौती भी उभरती है।

• जनसत्ता, 8 अगस्त, 2001

ग्लोबल हिंदी का स्टारडस्ट युग

साहित्य अब नित्य समाचार बनने लगा है। साहित्यिक-सांस्कृतिक गोष्ठियो की खबरें अब दैनिको मे दैनिक भाव से छपने लगी है। उन्हे पढकर लोग साहित्यकार भी बनने लगे है। साहित्य के सत्सगी होने लगे हैं। अनेक युवा फ्रीलांसर साहित्यिक रिपोर्ट लिखने का काम करने लगे है। कई जगह सांस्कृतिक प्रतिनिधि समाचार लिखने लगे हे। बात दैनिक पत्रो तक ही सीमित नही रही। अब माही-तिमाही-छमाही निकलने वाली छोटी पत्रिकाओ तक मे साहित्यिक समाचार छपा करते है। कई जगह लिखने वाले अपने मित्रो और शत्रुओं के प्रति यथा-योग्य करते नजर आते हैं। कई जगह 'पोल पत्रकारिता' भी होने लगी है। कई जगह साहित्यिक पीत-पत्रकारिता भी नजर आ जाती है। कभी-कभी लगता है कि जिसकी पोल खोली जा रही है वह साहित्यकार स्वय अरसे से तरस रहा था कि कोई आए और उसकी पोल खोले। साहित्य इस तरह से मनोरजक सूचना बन रहा है। वह 'गॉसिप' का गौरव पाने लगा है।

गॉसिप या गप्प के युग मे आने का अर्थ है कि साहित्यिक बिरादरी मे एक वर्ग ऐसा भी बन चला है जो साहित्य की 'अडरवेली' या कहे अत पुर के किस्सा को आनदकारी मानता है। साहित्यकार कुछ वयस्क बन चला है। साहित्यकार का 'ग्लैमर' बन चला है। ग्लैमर ऐसा शब्द है जिसे हिदी का शब्द 'आभामडल' पूरी तरह व्यक्त नही कर पाता। आभा 'ईश्वरीय' मामला लगता है जबकि ग्लैमर उत्तर-आधुनिक गाई ट वो मार्का तमाशगई-मजमाई-प्रदर्शनाई है। साहित्य का इस कदर गॉसिप-ग्लैमर मे आना साहित्य पर 'स्टारडस्ट' का असर कहा जा सकता है। लगातार सूचना मे रहकर साहित्यकार स्वय को स्टार मानने लगे है। कई तो सितारों की तरह ही व्यवहार करने लगे हैं। अपने फोटो आदि की फिकर करने लगे है। अगले दिन की खबरो मे अपने ज्यादा न होने पर नाराज होने लगे है। सपादको और साहित्यिक रिपोर्टरो को पटाने-दबाने लगे है। साहित्यिक रिपोर्टर की एक अभिमानी और अतिरिक्त भाव खाने वाली बिरादरी बन चली है। कई को लगता है कि वे साहित्यकार बनाते-बिगाड़ते है। अब साहित्यकारो को अपना नाम रोजाना कहीं न कहीं पढने की बीमारी हो गई है। जिस दिन उनकी खबर नही होती दिन सूना-सूना बीतता

है। कह ही देते हैं कि यार कुछ करो हमे बुलाओ न। फिल्मी सितारों के स्टारडम से हिंदी वाले अभी कई माने मे कम है। उनका ग्लैमर अभी पचास-पाँच सौ तक का है करोड़ों का नहीं है। यह डाह करने की बात है।

साहित्य के उत्तर-आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे साहित्य का इस तरह गोष्ठी या सेमिनार से आगे गॉसिप-ग्लैमर केंद्रित बनना साहित्यिक क्रियाकर्म का स्वाभाविक विकास है। सूचना समाज में हर कार्य सूचना बनकर ही प्रसार पाता है, यह अरसे से हो रहा है। अब यह फैल गया है, शहर-दर शहर। अब साहित्यिक गोष्ठियों की बहार है। इसे 'ज्यो-पॉलिटिक्स' यानी 'भू-राजनीति' की तर्ज पर 'भू-साहित्य' कहा जा सकता है। साहित्य का भूगोल मीडिया ने तेजी से बदला है। हम कह सकते है कि यह दौर साहित्य के पण्य बनने का दौर है। यह अलग बात है कि हिंदी मे कोई लेखक 'रोलिंग' जैसा नहीं और कोई 'हैरी पॉटर' नहीं है जो करोड़ों मे बिके-विकाये। जैसा बाजार है वैसा साहित्यकार है। जैसा सचार है वैसा साहित्य है। इसमे बुरा क्या है?

यह साहित्य सस्कृति का समाचार में रिड्यूस होने का दौर है। साहित्यकार मीडिया को लाख कोसे मीडिया ने साहित्य को अपनी खबर बनाना शुरू कर दिया है। कुछ दिन पहले तक रेडियो साहित्य समाचार दिया ही करता था। टीवी पर पत्रिका आया करती थी और अब भी आती है। एक अन्य पुस्तक समीक्षा कार्यक्रम मे एक समीक्षक प्राय रेडियो वार्ता शैली की नितात सतही समीक्षावार्ता करते रहते है।

अब तो कई अखबारो मे सप्ताह मे एक दिन पूरे पेज की समीक्षाएँ उपलब्ध होने लगी है जो साहित्यिक पुस्तको और सूचनाओं का प्रसार करती हैं। यह हिंदी साहित्य के अभूतपूर्व प्रसार का दौर है। पहली बार अखबार ने पुस्तक उद्योग का इस व्यापक अर्थ मे अपना विषय बनाया है कि प्रकाशित होते ही हिंदी मे पुस्तको की समीक्षा और सूचना उपलब्ध होने लगी है। समीक्षा का 'पेज' बनाने, संपादित करने वालो से पूछिए। समीक्षक कम पडने लगे है। यह हिंदी मे एक नई बात है। हिंदी वालों को ऐसे अखबारों का ऋणी होना चाहिए और मीडिया और साहित्य के इस नए अतर्संबंध को समझना चाहिए। यदि एक अखबार की पाठक सख्या दस लाख मान ले तो उसमें समीक्षित कृति की सूचना दस लाख तक जाती हुई मानी जा सकती है। यह एक नया पाठक वर्ग बनाती है जिसका लाभ हिंदी साहित्य को मिलना है। किताबों की खबर उसका बाजार बनाती है। उसका होना जरूरी है। इसे बनाने में साहित्य के खबर बनने से लेकर उससे पैदा होने वाले ग्लैमर आदि उसका योगदान है। मीडिया ने साहित्य का ही नहीं साहित्यकार का चौखटा भी बदल दिया है। अब हर कोई अपनी जवानी को फोटो ही छपवाता है। हँसते हुए छपवाता है। खबर चैनलों और प्रिंट फोटोग्राफरो का महत्त्व भी बढा है। मीडिया के इस सम्पर्क ने साहित्य जगत् की मुक्तिबोधीय ग्रंथि को निकाल फेंका है। आपका न छपना आपकी

महानता का परिचायक नही, अयोग्यता का परिचायक जरूर हो सकता है लिख और छप। छप और खबर बन। मूत्र चालू है। गोष्ठीबाजी ने साहित्य की नाटकीय दीनता और सकोच को हटाकर एक-दूसरे से कुश्ती मारने का भाव बढा दिया है। साहित्य मे भी जो जीता वही सिकन्दर है। इसलिए तत्त्व की बात कम वाक्पटुता ओर कटूक्ति बढ गई है। बुरा क्या है?

पद्रह-बीस साल पहले ऐसा न था। बड़ी मुश्किल से किसी गोष्ठी की रिपोर्ट कहीं छपा करती थी। अब तो आए दिन दो-तीन कॉलमो की रपटे छपती रहती है। ताजे-टटके शिशु लेखक की गोष्ठी की रिपोर्ट मय फोटो छप जाया करती है। साहित्य अब अखबार के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण खबर बनने लगा है जितनी कि महत्त्वपूर्ण खबर किसी मझोले दर्जे के राजनेता की सभा की होती है। नतीजा कि मीडिया का शहर दिल्ली गोष्ठियो का सेमिनारो का भी शहर हो चला है। आए दिन लोकार्पण होने लगे है। लोकार्पण यानी मीडियार्पण। जब फीता कटता है तो फोटोग्राफर कहता है—'एक बार फिर' तो ज्ञानी-गुमानी साहित्यकार रिटेक देते है। न देगे तो मीडियार्पण कैसे होगा? मीडियार्पण को हिंदी में लोकार्पण कहा करते हैं। बिहार वाला भी दिल्ली मे आकर गोता मारता है। उसे मालूम है कि दिल्ली फतह तो मीडिया फतह तो साहित्य फतह।

मीडियार्पण की पक्की जगहे बन चली हैं। दिल्ली में कोई एक दर्जन अच्छे यानी ए सी वाले सेमिनार कक्ष हैं जिनकी बुकिग हमेशा रहती है। बाकी इलाके-इलाके अनेक सभास्थल है, कॉलेज है, स्कूलो के सभा स्थल है। सब मे कुछ न कुछ होता रहता है। अच्छी जगहो का रेट हाई है। आपको सस्ती, उम्दा, टिकाऊ सेमिनार करनी ह। तो आई टी.ओ स्थित डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भवन मे आ जाइए। आपको अनिल मिश्रा जी कृतकृत्य होकर जगह देगे और चाय भी पिला देगे। साहित्य सेवा भाव उमड़ा तो वे फीस माफ कर सकते हैं। पैसा खर्च करने पर ही आमादा हैं तो त्रिवेणी जाइए। मंडी हाउस का ग्लैमर लीजिए और गोष्ठी जमाइए। अगर राजनीतिक पउआ हे तो कंस्टीट्यूशन क्लब आइए वहाँ तीन-चार हॉल मे से कोई भी लीजिए ओर साहित्य जमाइए। अगर थोडा फाइव स्टार बौद्धिक करना चाहते है तो पॉश साउथ दिल्ली में आ जाइए। लोदी गार्डन के पास इडिया इटरनेशनल सेंटर मे। यहाँ आप किसी सदस्य आदि की सिफारिश पर एक नही चार-पाँच हॉलो मे कोई एक चुन सकते हैं। यहाँ आने के बाद आपको लगेगा काश अपनी गाडी होती और अच्छी अग्रेजी आती। बिना गाड़ी आप यहाँ साहित्य के उचक्के लग सकते हैं। यह छोटे एयरपोर्ट और किसी पॉच सितारा होटल के बीच की जगह लगती है। इधर आया, उधर खाया बोला और फुर्र हुए। दम हो तो बार मे बार-बार आइए, दारू पीजिए-पिलाइए-नहाइए और साहित्य के ग्लोबल मे रमिये। थमिये। सेंटर भी अब घिस गया है। आपके लिए इडिया हैबीटैट सेंटर ठीक है। बडे बुद्धिजीवियो का सहेट

स्थल। यहाँ भी आप सेमिनार कर सकते हैं। यहाँ जो होता है वह अपने आप में एक खबर होता है। मीडिया ने साहित्य को उबार लिया है। खबर बना दिया है; बाजार बना दिया है। अब हर साहित्यकार छोटा-मोटा हीरो है और हर पत्रिका शोभा डे की स्टारडस्ट। हर चीज एक चटपटी गॉसिप है।

इस उत्तर-आधुनिक तमाशे में बुरा क्या है?

• राष्ट्रीय सहारा, 2 दिसंबर, 2001

13 मेरा 7 रहे

सूचना-तकनीक और सूचना सचार को लेकर हिंदी समाज मे हलचले बढ चली है। यह अच्छा है। इन्हे हम विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागो के कार्यक्रमो में देख सकते है। यहाँ तक कि विश्वविद्यालयो के पुनश्चर्या कार्यक्रमों में हम सूचना-तकनीक और जनसचार माध्यमों के प्रति जिज्ञासु अध्यापको की टोलियों को देख सकते हैं। जहाँ-जहाँ पत्रकारिता और जनसचार माध्यमो को लेकर कोर्स शुरू हुए है वहाँ तो भापाई पत्रकारिता की और सूचना-सचार माध्यमो के बारे मे जानकारी लेने वाले जिज्ञासुओं की भीड़ देखी जा सकती है, जहाँ जनसचार अग्रेजी माध्यम से पढाए जाते हैं, वहाँ हिंदी भाषा और जनसचार के सबध की समस्याएँ सामने आती हैं। जहाँ हिंदी मे जनसंचार और पत्रकारिता पढ़ाए जा रहे है वहाँ तो हिंदी भापा और माध्यमों से उसके बन-बिगड रहे सबध के बारे मे चिताओ ने एक मनोव्याधि का ही रूप ले लिया है।

हिंदी समाज मे सूचना तकनीक के पेंच खुलने लगे है। इसके दबाव है ओर इसकी उत्तेजना है। यह नया हिंदी वातावरण है, जिसे सूचना तकनीक, उससे जुड जन सचार और माध्यमों ने बनाना शुरू किया है। माध्यम अब हिंदी समाज के स्वतत्र बोध के विषय बन रहे है। चयन बन रहे हैं। पिछले दिनो दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग द्वारा आयोजित पुनश्चर्या कार्यक्रम मे यह बात अचानक देखने को मिली। वे हिंदी-नगरों से लेकर अरुणाचल प्रदेश तक से आए थे। सूचना तकनीक और उसके विविध रूपो एव प्रयोगों मे आती अग्रेजी के शब्दों और पदों को देखकर इन अध्यापको को लगने लगा कि अग्रेजी के बिना अब काम नही चल सकता। इस बात से वे परेशान दिखे कि क्या अग्रेजी के आगे हिंदी इतनी हीन भाषा है कि सूचना-तकनीक के क्षेत्र मे वह अंग्रेजी पर निर्भर रहे? वे हिंदी के प्रति अचानक एक हीन भावना से भर लगे। बाद मे एक अध्यापक ने माना कि अब तक हम हीन भावना से भरे हुए थे कि सूचना आदि का खेल सिर्फ अंग्रेजी का है। जब बताया गया कि हिंदी सी के आधार पर आज विश्व की तीसरे नबर की विश्व भाषा बन चली है आ

वडोज एक्सपी लाने को प्रेरित किया है जिसकी सहायता से हिंदी, बंगला, तमिल आदि भाषाओ मे उनकी लिपियों के साथ कंप्यूटर से काम लिया जा सकता है तो अचानक पाया कि उनकी हीन भावना खत्म हो गई। वे जो कुछ क्षण पहले नव तकनीक कंप्यूटर को आफत मान रहे थे उसे एक चुनौती और अवसर मानने लगे। उन्हे यह जान अच्छा लगा कि वे कंप्यूटर को हिंदी मे चला सकेंगे। वे 'ई-मेल' भज सकेंगे। वे 'हिंदी नेट' पर आकर विश्व नागरिक बन सकते है।

जब उन्हें बताया गया कि हिंदी को विश्व भाषा बनाने मे टीवी चैनलों, फिल्मो और उससे जुडे ग्लोबलाइजेशन की बडी भूमिका है तो कुछ-कुछ आश्वस्त हुए। जब उन्हे ज्ञात हुआ कि आँकडे बताते हैं कि हिंदी भाषा का प्रयोग करने वाले लोगो मे लगातार वढोत्तरी हो रही है तो वे प्रसन्न हुए।

मीडिया और उसकी तकनीक हिंदी की दोस्त भी हो सकती है—इस एक सदेश से हिंदीभाषी उन लोगो के मन में बैठे छोटे-छोटे 'तालिबानी भय' निकल भागे। सूचना-तकनीक भाषा के अनेक प्रयोगों को बनाने-बढ़ाने मे मददगार हो सकती है इसे जानकर वे सशक्त अनुभव करने लगे। जब उन्हे मालूम पड़ा कि ये हिंदी शुद्ध सस्कृति-सवलित हिंदी की जगह 'संकर-हिंदी' होगी, जिसमे काफी मिक्सिग होगी तो वे किंचित भी विस्मित न हुए। अंग्रेजी को लेकर उनके मन मे वैसा दुर्भाव नही था जैसा कि सत्तर के दशक मे देखने को मिलता था।

यदि आप सूचना-तकनीक और मीडिया को दोस्त मानने की जगह दुश्मन मानेगे और उसे उसी तरह बताएँगे तो हिंदी मे अपने ढग के तालिबानीकरण की सभावना बढ़ेगी ही। सूचना-तकनीक मूलत तकनीक है। हर तकनीक की तरह वह अभिशाप की तरह भी ली जा सकती है और वरदान भी बनाई जा सकती है।

मनुष्य के विकास-क्रम मे कलम, स्याही, कागज अपने समय की क्रातिकारी तकनीक रहे। जब आधुनिक प्रिंट आया तो जनसचार का कायाकल्प ही हो गया। समाज बदल गए, भाषाएँ बदल गई। जो नही बदली, मारी गई। कोने मे पडी रह गई। यह तकनीक का ही करिश्मा है कि आज हिंदी के अखबार और चैनल अधिक स्पर्धात्मक हैं। सूचना सचार जिस तेजी से अंग्रेजी मे है अब हिंदी में भी हो सकता है। जाहिर है कि इस प्रक्रिया मे हिंदी जड तो नही बनी रहेगी। शुद्ध साहित्यिक भाषा तो वह नहीं ही रह सकेगी। जनता के बीच वह बदलेगी, मैली-कुचैली बनेगी। जिसे शुद्ध चाहिए वह उसे शुद्ध कर ले। तकनीक उसमे भी मदद करेगी। हिंदी को लेकर उलझन का एक छोटा-सा नमूना किरोडीमल कॉलेज की साहित्य सभा मे पत्रकारिता सबधी बातचीत में देखने को मिला। जब विद्यार्थियों को बताया गया कि हिंदी विश्व भाषा है और ऐसा उसे टीवी, सूचना तकनीक के अन्य माध्यमों ने बनाया है फिल्मो ने बनाया है, तो वे आश्वस्त हुए। जब उन्हे मालूम हुआ कि हिंदी भाषा पिछले तीन दशकों मे अडतालीस बोलियो को पचा कर आगे बढ़ी है तो वे प्रसन्न

हुए। एक विद्यार्थी ने पूछा कि सर पत्रकारिता करने के लिए क्या अंग्रेजी आना जरूरी है। वह परेशान था। जब उसे बताया गया कि उसकी चिंता बेकार है तो वह आश्वस्त हुआ। एक खूबसूरत-सी दिखने वाली लड़की ने पूछा कि समाचार वाचन के लिए उसे क्या अर्हता लानी चाहिए तो लगा कि हिंदीभाषियों की नई पीढी अपनी कुछ ही पुरानी पीढी से बहुत अलग ढग से सोचने लगी है। वहाँ हिंदी भाषा के खोजने, खराब हो जाने के खतरे नहीं है, बल्कि हिंदी के जरिए रोजगार तलाशने की चिंताएँ हैं। पुरानी पीढी अभी तक हिंदी के शुद्ध-अशुद्ध भाव पर चिंता करती है जबकि नयी पीढी उसके शुद्ध-अशुद्ध होने की जगह उसे तकनीक दोस्त भाषा मानती है। अब अंग्रेजी का जिक्र आते ही 'अंध हिंदीवाद' फूत्कार नही करता। हिंदी की नई युवा पीढ़ी अपनी हिंदी और अग्रेजी मे सहअस्तित्व मानकर चलती है। यह सूचना तकनीक और मीडिया के वातावरण का असर है कि सत्तर के दशक में अग्रेजी हिंदी के लिए जैसी चुनौती दिखती थी आज नही दिखती है।

जब जी टीवी कहता है कि 'यह कार्यक्रम देखिए भारत मे सुबह नौ बजे' और 'यू.ए.ई. में दोपहर के दो बजे' तो वह हिंदी को ग्लोबल बना रहा होता है। जब सी.एन.एन. के सतींद्र बिद्रा एक प्रेस कॉन्फ्रेंस में बताते हैं कि अफगानिस्तान के युद्ध को लगातार पचास दिन तक रिपोर्ट करने के दौरान उनकी सबसे बडी मददगार हिंदी फिल्मे रहीं तो सुखद आश्चर्य होता है। धर्मेन्द्र जिसे वे अपने उच्चारण मे 'दरबदर' बोलते है, उनका 'माचो' हीरो है और हेमामालिनी जिसे वे मामा मालिनी पुकारते हैं, सबसे बडी नायिका है। मीडिया और हिंदी के फैलाव के सबध को ऐसे अनेक उदाहरणों से बताया जा सकता है। धर्मेन्द्र जब काबुल जाएगा तो 'दरबदर' तो होगा ही। ऐसे ही भाषा बदलती है। हर मीडिया अपनी हिंदी बनाता है। प्रिंट की हिंदी अलग होगी। रेडियो की अलग होगी। फिल्म की अलग और टीवी की अलग।

आपके मोबाइल पर 'शार्ट मेसेज सर्विस' या 'एस.एम.एस हिंदी' अभी बनी नहीं। बनेगी तो कैसी होगी? इसकी कल्पना ही की जा सकती है। स्कूटरों, ट्रकों, बसों ने अपनी 'हिंदी शॉर्ट मेसेज सर्विस' बना ली है। इन हिंदी के गुरु स्कूटर-ट्रक-बस-ड्राइवर है।

एक स्कूटर के पीछे लिखा था—'13 मेरा 7 रहे' यानी 'तेरा मेरा साथ रहे'। एक जगह लिखा दिखा—'हम 7-7 है', यानी हम साथ-साथ है।

हिंदी अग्रेजी की तरह तार की भाषा नहीं बन सकी है। तकनीक बनाएगी। लबी दूरियो के लिए छोटे सदेश की तकनीक बनाएगी तो वह फिर बनेगी। उसमे नए खेल होगे। जरा सोचिए कि आने वाले दिनों मे 'हिंदी चैट रूम' की हिंदी कैसी होगी? अभी वह रोमन में होती है। नागरी में होगी, तो क्या होगी? सचार की सघनता और तीव्रता के बिना भाषा में यह बदलाव नहीं आ सकता। तकनीक का दबाव भाषा के रूप और चलन मे बदलाव लाता है।

'प्रेमचंद ने गोदान लिखा' वाक्य हिंदी की 'शार्ट मसेज सर्विस' में 'प्रेम गो नि' भी हो सकता है। 'यार कहाँ जा रहे हो' यहाँ आकर 'या का जा?' भी हो सकता है। 'मेरी माताजी बीमार हैं', शायद 'माँ बीमा' हो सकता है, जिसमें 'बी' अक्षर अंग्रेजी/रोमन का हो सकता है।

यह नई हिंदी होगी। यह उसकी नई क्षमता होगी। अनेक तरह की हिंदियों के साथ यह भी रहे तो क्या हिंदी का सतीत्व डिग जाएगा?

• राष्ट्रीय सहारा, 9 दिसंबर, 2001

हिंदी का एक ब्रांड

समकालीन हिंदी साहित्य में एक ही 'सुपर ब्राड' है। नाम है ' नामवर सिह। उम्र पचहत्तर साल। यह कच्चा माल पूरब से आया है। बनारस मे पके, सागर मे तैरे, जोधपुर म जुद्ध किया और अब दिल्ली से हिंदी साहित्य की सत्ता को चलाया करते है। कल तक खादी का कुर्ता-धोती थी। इन दिनो फैबइडिया तक आए है। साहित्य के इस सुपर ब्राड के चलने से साहित्य चलता है, वैठने से बैठ जाता हे। वे जिसके सिर पर हाथ धर देते है उसके भाव वढ़ जाते हे। उसकी बिक्री अच्छी हो जाती है। हिंदी के विराट बाजार को बनाने-फैलाने मे वे अपनी भूमिका भले न मानें लेकिन अगर पिछले चार-पॉच दशकों से वे हिंदी समाज के बीच हिंदी साहित्य को नहीं बेचते तो यह विराट इनाम, गोष्ठी, लोकार्पण और पुस्तक प्रकाशन बाजार कहॉ होता? उनके होने से गोष्ठियॉ सफल हो जाती है, कमेटियॉ बुरे-भले फैसले ले लेती है और पुस्तक प्रकाशक उनके मुखारविन्द से अपनी किताबों के लिए रिकमडेशन जोहते हैं। वे चला दें तो खोटे सिक्के भी दौड़ लगाते है। वे कह दें तो अनाम अज्ञात बालक इतिहास का महाकवि हो जाता है। 'राई को पर्वत कर पवत राई मॉहि'। वे हरेक के लिए किसी न किसी परम्परा की खोज निकालते है और उनमे उस मूरख को आराम से दो तीन घंटे विठाकर, अगली गोष्ठी में किसी और को उसी जगह विराजमान कर तीसरी गोष्ठी के लिए हवा का टिकट कटा और एक पोलीथीन मे चार जोड़ा बनारसी दवाकर उड जाते है। वे अपने कुर्ते की जेब को नेताओं की जेब की तरह कभी कष्ट नहीं देते, उसे मैला नहीं होने देते। आदत से घोर कजूस। एकदम पुरबिया अग। वे साहित्य में किसी राजनेता की तरह ही अतिव्यस्त रहते हैं। साहित्य को राजनीति के साथ इस कदर फेंटकर चलते हैं कि 'कव साहित्य हुआ, कब राजनीति हुई' लोग जान ही नही पाते। 'लेत चढ़ावत खेचत गाढे काहु न लखा रहे सब ठाढे' वाली बात होती है। आज सुबह बनारस में तो शाम इलाहाबाद मे, तो रात कलकत्ता मे और फिर अगले दिन भोपाल मे तुरंत कूदकर नैनीताल मे अगले दिन गोवा के पजिम म तो उससे अगले दिन नागपुर में तो अगले दिन मे और फिर दो-एक

'थी जगह न कोई जहाँ नही, किस अरि मस्तक पर कहाँ नही' वाली बात होती हे। उनकी माँग लगातार है और अब तो ऐसी-ऐसी जगह 'बिकने' लगे हे जहाँ कोई किसी कायदे के खरीददार की उम्मीद ही नही करता। वे हिंदी के सबसे अच्छे परफॉमर हे। वे साहित्य को उत्तर-आधुनिक उपभोक्ता वस्तु बना चुके है लेकिन उत्तर-आधुनिक से परहेज करते है।

पिछले पच्चीस-तीस साल से उनके पैर मे सनीचर है। कड़क आवाज़ वाली ठकुरानी तो कहती होंगी कि उनके पैर मे तो पचास साल से सनीचर का चक्कर हे। घर मे बैठते ही नही। साहित्य ही उनका होल्डऑल, घर-द्वार और चौबारा हे। वे हिंदी के अकेले होल टाइमर हैं जो हर समय हिंदी खाते-पीते है। एक लगातार बात करता हुआ, बहसता हुआ, धोती कुर्तेवाला पुराना पहलवान-सा दिखता आदमी अपनी गर्दन तानकर अपनी चट-चचल आँखों से किसी को घुड़कता-समझता मद-मद विहँसता मिले, तो आप झुमरी तलैया में भी उन्हे ही पहचानिए। हिंदी क्षेत्र का हर शहर उनका रौंदा हुआ है। अब हालात यह है कि अन्य भाषा-भाषी शहर तक उनके इतजार में रहते है। अग्रेजी और उर्दू वाले तक, मराठी, बांग्ला और उड़िया वाले तक कहते है कि यार इस आदमी के पास जितनी जानकारी होती है, उतनी तो हमारे अपने किसी स्कॉलर के पास भी नहीं। उसे ही बुलाओ! उनके प्रवचन आसाराम बापू से कम आकर्षक नही होते। पता नहीं किसी घडी मे अपने किन-किन अपमानो का बदला लेने के लिए और किस जिद मे नामवर ने हिंदी साहित्य में अपने अश्वमेध का घोड़ा छोडा था जिसे अब तक कोई पकड नही पाया है। वह घोड़ा अब सुपर ब्राड बन गया है। कई लोग इस चिह्न व्यापार को नही पहचानते। स्वय ब्राड तक अपने व्यापार को नही पहचानती। हमारे लिए वह साहित्य का बाजार बनाती ब्राड हे। साहित्य को लेकर हिंदी समाज में जो भी थोड़ी-बहुत हरकत नजर आती है, उसे बनाने मे एक बडी भूमिका नामवर के इसी ब्रांड की रही है।

नामवर ने हिंदी समाज का जितना बडा स्पेस तय किया है और उसे जिस तरह से बनाया-बचाया है, वह एक हिंदी एक्टिविस्ट 'सुपर हीरो' का ही काम हो सकता है। इस अर्थ मे वे साहित्य के अमिताभ बच्चन हैं। एकदम एक्शन पैक्ड। एकदम हिट। आप उन्हे आवाज से पहचान सकते है। अगर समकालीन हिंदी साहित्य मे कही कुछ धुआँ उठता दिखे तो समझिए कि वे उधर से होकर गये है। अगर पटना के कॉफी हाउस से लेकर भोपाल के भारत भवन तक, कलकत्ता के चौरगी वाले कॉफी हाउस से लेकर दिल्ली के मोहन सिह पैलेस और आई आई सी तक, हर शाम हिंदी वाले किसी एक नाम को जम के कोस रहे है तो समझिए कि उन्होंने हिंदी साहित्य मे फिर कोई शैतानी कर दी है। फिर कही लुकाठी लगा दी है, फिर कही फुलझडी छोड दी है। किसी को इनाम दिला दिया है। किसी अपदार्थ को स्कॉलरशिप दिला दी है। किसी को कही प्रोफेसर बनाया है, किसी को रीडर बनाया

है और किसी को नही ही बनने दिया है। इस ब्राड की अनत दुष्ट लीलाएँ हैं। हर दिन, हर क्षण, बोलना, बात करना, पान चबाना, दाँत कुरेदना और हर गोष्ठी के बाद अपने सुनने वालों से यह पूछना कि कैसा रहा? ठीक रहा न! जनसम्पर्क मे परफैक्ट। आप काम के हैं तो आप के पास फोन आ जाएगा कि वाह अच्छा लिखा है। आप फूल कर कुप्पे हो रहे है।

उन्हें मालूम है कि उनके बोलने का असर ठीक-ठीक कितना होता है और कब तक रहता है। इस मायने मे वे गजब के सप्रेषक हैं। हर शहर मे हर जगह हर आदमी को उसके नाम से, उसकी किताब के नाम से जानना, उसके नाम को यत्र-तत्र उठाना हिंदी साहित्य की आलोचना पॉपूलर विमर्श का ऐसा अचूक नुस्खा है जो अकेले नामवर ने तैयार किया हे। किसी स्वय नियुक्त तानाशाह की तरह वे ऑरवैल के 'उन्नीस सौ चौरासी' के 'वडे भाई' की तरह हर लिखे पर, हर बोले पर, हिंदी की हर घटना-दुर्घटना पर अपनी नजर और अपने कान लगाए रखते है। इस तरह साहित्य की जो सत्ता उन्होने बनाई, उसे साधना बस उन्ही का काम हे। कोई और ऐसी दुष्ट कुशलता से नही साध सकता। उनसे ईर्ष्या करने वाले अनेक है। वे कत्ल करेगे तो इस सफाई से कि सबूत नही मिलेगा। उनसे आहत, उनसे उपेक्षित लोगो की अपार सख्या है जो उपेक्षिता गोपियो की तरह बिसूरती रहती है कि कन्हैया ने उनकी तरफ भर ऑख देखा तक नही! वे हिंदी के कन्हैया हैं और शेप रचनाकार गोपियाँ।

यह हिंदी समाज का अजीव-सा स्वभाव कहा जाएगा कि जो हिंदी साहित्य अपने रचनाकारो के लिए जाना जाता है, वह आज एक आलोचक के जरिये जाना जाता है। इस कद का कोई रचनाकार नहीं जिसका साहित्य के स्पेस पर इतना आधिपत्य, इतनी धमक, इतनी चमक, इतना रुतबा और पउआ हो! प्रेमचन्द रचनाकार रहे निराला रचनाकार रहे मुक्तिबोध रचनाकार रहे, रघुवीर सहाय रचनाकार रहे, अज्ञेय रचनाकार रहे, निर्मल वर्मा रचनाकार रहे और है। और भी बडे नाम है जिनकी लाइन लगायी जा सकती है। सब रचनाकार की हैसियत से पुजे, रचना के प्रभामडल से आलोकित हुए। लेकिन नामवर अगर पुज रहे हैं तो रचना की आलोचना कर-करके। आलोचना रचना से आगे निकल गई है। हिंदी समाज के चित्त में 'वाह-वाह' और 'हाय-हाय' का, मजे के लिए खिचाई करने का, बिना बात दोष दर्शन का और निदारस का जो मिला-जुला स्वभाव निवास करता है, वही नामवर में रहता है। इसके साथ भारतीय साहित्य शास्त्र और पश्चिमी साहित्य शास्त्र का, खासकर नव्य समीक्षा का आधार लेकर और उसमे नित नया छौक लगाकर और उसको खा-पचाकर कायदे से सर्वसुलभ बना देना, उन्हे सरल सूत्र बनाकर पेश करना और उन्हें पॉपूलर बना डालना, साथ ही आलोचना कर्म को सत्ता के विमर्श मे बदलकर उसे समकालीन सेकुलर जमीन देते रहना और हर नई चीज से रूबरू होना, नामवर की वे खूबियाँ

हे जो उन्हें एक विमर्शकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है। वे पिछले पचास साल जितना लंबा एक अनथक विमर्श है।

नामवर ने जो बनाया है, सचमुच अकेले बल पर बनाया है। सत्ता का विमर्श साधते-साधते वे वहाँ आ पहुँचे हैं, जहाँ वे अपने अकेलेपन को, अपने घावों को भी किसी के सामने नहीं रख सकते। और यह नामवर बेहद अकेला और संतप्त प्राणी है जिसके साथ कोई हमदर्दी भी नहीं रख सकता। वे हमदर्दी के न पात्र है न वे उसे माँगते है। जिस बेरहम वक्त मे नामवर बने है, यह उसी का विस्तार है। उनकी यात्रा जटिल और जोखिम भरी रही है। उन्हें देखकर-पढ़कर ही समझा जा सकता है कि हिंदी का आलोचक बनने की प्रक्रिया और परिणतियाँ क्या हो सकती है हिंदी मे आलोचना के मानी क्या? यह उन्हे जानकर समझा जा सकता है।

शीतयुद्ध है। कम्युनिस्ट और फ्री वर्ल्ड के विचार मे टक्कर है। एक ओर कट्टरता है। दूसरी ओर 'आजादी' है। एक ओर रामविलास शर्मा है तो दूसरी ओर अज्ञेय है। मुक्तिबोध इसके बीच से प्रगतिशील रास्ता बनाते हैं और उन्हें ही नई कविता के केंद्र में लाकर मानो नामवर अपना मध्यमार्ग तय करते है। यह जोखिम भरा है। हम सब उन्हे विचलन के लिए कोसते है लेकिन वे चलते जाते है और अंतत वे एक ऐसा मध्यमार्ग निकालते है जो अपनी दूसरी अति पर परम अवसरवाद लगता है तो पहली अति पर दयनीय किस्म का राष्ट्रवाद। नामवर हर बार अपने विमर्श के लिए जगह बनाते है, जड़ता को तोड़ते हैं, वे अपने ही काल से बचकर चलते है। लिखने की जगह बोलते हैं ताकि कमिट न करें। पकड़े न जाएँ लेकिन होते-होते यही बात उनका स्पेस बदल डालती है। समकालीनता, समकालीनता मे केंद्रीय रचना की खोज एव उसकी खडन मडनात्मक शैली मे बलशाली स्थापना—ये सूत्र उनके कर्म से मिलते है। नामवर ने आलोचना का नया सिद्धात नही दिया लेकिन आलोचना का व्यवहार दिया और यहाँ भी आलोचक का व्यवहार स्थापित किया। खुले अखाड़े मे कुश्ती, कभी मिलीभगत की कभी टो टूक।

लेकिन अकादमी सम्मान के बाद मानो कोई शाप उन्हे खाता जाता है, दूसरी परम्परा भी एक कामचलाऊ किताब है। तभी नौवे दशक के आसपास कहीं हिंदी समाज में साहित्य को लेकर उपयोग और सेलीब्रेशन का भाव बनता दिखाई देता है। साहित्य के उपयोग के नए क्षेत्र खुलने लगते है जिनमे नामवर ने विचरण किया है और नामवर इस नए स्पेस मे कूद पड़ते है। वे नए विराट स्पेस में कुछ ज्यादा खुल के खेलने लगते है जिसका एक सिरा कहीं भी जा सकता है। यहाँ तक कि निजी सबधों के बहाने किसी मंत्री तक वे अपनी रसाई कर बैठते है। अनेक लोग जो उन्हे प्यार करते है, उनसे नाराज होते हैं, वे फिर पलटने की कोशिश करते है। हिंदी मे एक पूरी पीढ़ी और उसमें ऐसे अनेक लोग मिलेंगे जिनके पास नामवर से शिकायतें ही शिकायते हैं। जिससे उम्मीद होती है, शिकायत उसी से होती है। हिंदी

समाज का यह स्वभाव नामवर की समस्या भी है और संदर्भ भी। नामवर इस प्रति वातावरण को न सिर्फ बनाते है बल्कि इसी से ताकत प्राप्त करते हैं। वे अकेले आलोचक हैं जो विरोध से बने है, विवाद से बने हे। जिस दौर में रामविलास शर्मा की कुठार ने शिवदान सिह चौहान, प्रकाश चन्द गुप्त, राहुल साकृत्यायन, रागेय राघव आदि अनेक लोगो को धराशायी कर दिया हो, जिनकी कुठार ने कविता के नए प्रतिमान को 'बाजरे की कलगी' बताया हो ऐसे रामविलास जी के कुठार से अगर कोई बच निकला तो नामवर नाम का ब्राड ही बच निकला क्योंकि प्रगतिशीलता की कट्टरता से बाहर उन्होंने प्रगतिशील और सेकुलर विचार के लिए एक नया स्पेस बनाया जिसने उन्हे ऐसे कट्टरतावादी हमलों से बचाया। शीतयुद्ध की उस मार-काट से अकेले नामवर ही बच सके।

और जिन दिनो मे कोई देवता नही होता उन दिनो मे नामवर भी देवता क्यो बने या बनाए जाएँ। वे देवता नही है। वे बेहद मामूली वध्य और सुबेध्य है। उनके कवचकुंडल समय ने कमजोर किए हैं। वे दलित विमर्श और स्त्री विमर्श और उत्तर आधुनिक समय के ऐसे अधिकांश विमर्शो की जानकारी रखते हुए भी उनके आगे दीन नजर आते है और नव्य समीक्षा की प्रगतिशील भूमिका मे लौट जाते है लेकिन आज भी अगर हिंदी में किसी से बहस-बात की जा सकती है, तो वे नामवर ही हे जो अपनी बातचीत मे अप-टूडेट नजर आते है। आप उनका और वे आपका दो मिनट के लिए भी भरोसा न करे तो भी वे हिंदी साहित्य के स्थायी असंदिग्ध अध्यक्ष है।

यह उनकी कीर्ति का बखान नही है क्योंकि इस दुष्ट समय मे कीर्ति भी एक क्षणिक चिह्न भर है। यह जो लिखा है वह हिंदी समाज के साहित्य के उस ब्राड का बखान है जो हिंदी समाज के बीच बना है, जिसे ब्राड होने का आधा गुमान है और जिससे आधी चिढ़ है जो बाजार मे रहता है। रोज बिकता है लेकिन बाजार से घृणा करता है और अपनी प्रगतिशील दृष्टि में पानी मिला-मिलाकर किसी कल्याणकारी सपने का इंतजार करता है कि कभी तो सन् पचास और साठ के बेहतर दिन लौट आएँ जब वे निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' को पहली नई कहानी एक बार और कह सके और एक बार मुक्तिबोध की 'अँधेरे में' को नई कविता के केंद्र मे रख सके। ओह! नामवर की वह 'इन्नोसेंस' अब साहित्य के नवजात शिशुओ तक में नहीं बची जिससे वे साहित्य के केंद्र की खोज की अवधारणा को बना सके! कृति की केंद्रीयता की तलाश नामवर का 'केनन' नही है, 'साहित्य व्यवहार' है जिसके लिए उनके दुश्मन भी उन्हे सराह सकते है।

नहीं, पचहत्तर के नामवर जब अपने अतीत को पलटकर देखते होंगे तो विश्वनाथ त्रिपाठी का यह शीर्षक उन्हे कहीं ठीक लगता होगा, 'हक तो ये है कि हक अदा न हुआ!' अपनी अनरग बातो मे वे अपने खालीपन, असफलताओं और निराशाओं

को बता भी सकते है। आप चाहें तो उनकी थकान को पढ सकते है। यहॉ भी हिंदी समाज का वही स्वभाव नजर आता है कि जहॉ हर आदमी खुद से ज्यादा दूसरो से उम्मीद लगाए रहता है। एक सुपर ब्राड के रूप मे, पब्लिक परफॉर्मर के रूप मे वे कभी इसे सीधे नहीं मान सकते। उनके लिए 'द शो मस्ट गो ऑन'। मजमा जमा रहना चाहिए।

हिंदी की पहली सुपर ब्राड पचहत्तर की हुई है।

यदि सब ग्रह-नक्षत्र ठीक रहे तो 'नामवर के निमित्त' कार्यक्रम दिल्ली मे शुरू होने के बाद अखिल भारतीय होगे। पटना, भोपाल, जोधपुर और अन्य शहरा स होते हुए साल भर चलने वाले समारोह बनारस मे अगले साल अट्ठाईस जुलाई का सपन्न किए जाएँगे। 'नामवर के निमित्त' की प्रेरणा प्रभाष जोशी जी की है और इसे सम्पन्न करने मे हम सब उनके साथ है! नामवर के बहाने हिंदी समाज के स्वभाव को समझने की कोशिश करने वाले इन कार्यक्रमो मे नामवर एक संदर्भ रहेंगे। एकमात्र संदर्भ नहीं, इसीलिए यह उनका अभिनंदन मात्र नहीं हो सकता! सेकूलरों और प्रगतिशीलों को चमचागिरी का चलन सुहाता भी नही। सो 'नामवर के निमित्त' एक खुला जनतात्रिक आयोजन ही है जिसका पहला कार्यक्रम दिल्ली मे अट्ठाईस जुलाइ को हो चुका है। यह लेखक जानता है कि हिंदी में अनेक लोग पचहत्तर के हान वाले है। भगवान् की कृपा से हिंदी के कई सत्तर पारी लेखकों का स्वास्थ्य एकदम फिट है और वे आने वाले पॉच-सात साल तो हिलने वाले नहीं हैं। कई हैं जो पचहत्तर निकाल गए हैं और अब इस पचहत्तर को देख मलाल कर सकते है। हिंदी मे ईर्ष्या और द्वेष की महान् परम्परा को देखते हुए भी कई लोग कहेंगे कि रामविलास का पचहत्तर मनाने के लिए आप कहॉ थे? हम कहेंगे, ऐसा कहने वाले खुद ही ये पुण्य कार्य कर लेते तो कहने की जरूरत न होती। जो साठ के आसपास है, वे आस लगा सकते है कि चलो हिंदी मे अपने लेखक को हीरो मानकर समारोह करने का स्वभाव तो प्रकट हुआ। हिंदी समाज को अब अपने नए नायक खोजने-बनाने चाहिए। वे नायक नए समय के नायक ही होगे जो पूरे देवता तो न होंगे। देवताओं की जरूरत भी नही, मनुष्यों की ही जरूरत है। वही रहे तो बेहतर। हॉ, पचहत्तर का होने एक समस्या है। यद्यपि यह समस्या तो साठ का होने के बाद ही शुरू हो जाती है और हिंदी समाज का अपना स्वभाव भी कुछ ऐसा छलिया और शैतानी भरा है जो पहले अपने बड़े को बूढा करके थकाता है और जब हाथ-पैर धीरे-धीरे वश से बाहर होते जाते है, तब कही जाकर कुछ सम्मान-इनाम-अलंकरण आदि देकर ललचाता है कि बेटा अब जी के दिखा! यह अन्याय है। अरे जब हाथ-पैर चलते हो और आप भोगने योग्य हों तब कुछ मिले-मिलाए तो कुछ मिला समझिए! दीजिए तो कैश दीजिए। आशीर्वादो से पेट नही भरता! पचहत्तर के पार वालों को आप कुछ मत दीजिए बस एक मारुति कार मय ड्राइवर और तेल दे दीजिए। पीछे लिख दीजिए कि यह इस

लेखक को इसलिए दी गई कि इसने यह लिखा। कार होगी तो बंदा ठीक रहेगा। आ-जा सकेगा, दिल्ली जैसे शहर में साठ से ऊपर वाले तक का बस में आना-जाना कठिन होता है। बूढ़ी ब्रांडें भी परेशान रहती हैं और नई भी। आप शाल-दुशाले न दें भइया, गाड़ी दे दे। जीवन भर का सम्मान एक गाड़ी तो हो ही सकता है जो मय तेल और ड्राइवर के रहे तो क्या कहना। 'नामवर के निमित्त' एक गाड़ी हो जाए तो मजा आ जाए। हे कोई सेठ-साहूकार, राजेन्द्र यादव का कोई आँख का अंधा गाँठ का पूरा मारवाड़ी चेला जो ऐसे मौके पर ऐसा कर दे। अरे मारुति वालो! अरे देवू। सैंट्रो वालो कुछ तो सोचो! हिंदी में मार्केट करना है तो आओ।

हम जानते है कि वे अभी एक टायर तक न देंगे।

हिंदी समाज का स्वभाव ऐसा ही है कि उसमे गरीबी है, संपन्नता की कमी है, आधुनिकता की कमी है, इसीलिए वहाँ ईर्ष्या-द्वेष की फसलें लहलहाती है और दूसरे को खाता-पीता नही देख सकती। 'नामवर के निमित्त' के बाद इस भाव मे इजाफा ही हो सकता है। हमने कार-दान की बात मजाक मे नही कही है लेकिन देखना लोग इसे मजाक ही समझेंगे, हिंदी के लोग।

'नामवर के निमित्त' अंतिम निवेदन यही होगा कि महाराज अब आप स्वयं को एक साल तक हीरो बनाए रखने मे हमारी मदद करें। फिर भले ही आप अपनी करनी से जीरो बन जाना जी। अपने कारोबार का ख्याल करना जी।

• राष्ट्रीय सहारा, 29 जुलाई, 2001

ग्लोबल हिंदी का समाज शास्त्र

हिंदी राजभाषा है। हिंदी राष्ट्भाषा है। वह अंग्रेजी का स्थान ले सकती है। वही राष्ट्र का ऑफिशियल माध्यम बन सकती है। हिंदी दो सौ साल पुरानी है। नहीं हिंदी हजार साल पुरानी भाषा है। अरे नहीं यार, हिंदी तो वैदिक समय से चली आ रही है। संस्कृत उसकी मम्मी है। उसके पापा...।

हिंदी बाजार की भाषा है। हिंदी ग्लोबल भाषा है। दुनिया में तीसरे नंबर की भाषा है। पहले नंबर पर चीनी है, दूसरे पर अंग्रेजी है। हिंदी तीसरे नंबर पर है अरे नहीं। हिंदी अंग्रेजी से आगे है। दूसरे नंबर की है।

हिंदी गऊ-देश की भाषा है। उसमें गोबर ज्यादा है। अंग्रेजी वाले उसे 'काउबल्ट' की भाषा कहते है। लेकिन इस गाय के सींग भी हैं। वे भूल जाते है।

हिंदी का कोई पक्का व्याकरण नहीं है। वह भाषा ही नहीं है। वह तो एक बोली भर है। हिंदी में कोई टैगोर नहीं है। सुनीति कुमार चाटुर्ज्या जी चतुराई से हिंदी को किनारे कर गए है। चाटुर्ज्या को ग्लोबल नया बाजार कूड़े के ढेर में फेंक रहा है।

हिंदी हिंदुओं की भाषा है। हिंदी में नुक्ता नहीं है। उसने उर्दू के नुक्ते को अपने शब्दकोश से निकाल दिया है और शुद्धीकरण की ओर जा रही है। हिंदी का मतलब हिंदू होना है 'हिंदी में कोई मौलिक चिंतन नहीं है। हिंदी भाषा पिछड़ी है। हिंदी समाज पिछड़ा। हिंदी में सुधार नहीं हुआ। लेकिन हिंदी में बड़ी मलाई है।

हिंदी में विचार की घोर दरिद्रता है। उसमें स्तरहीनता है। कृतघ्नता है। वह अनुवाद की भाषा होकर रह गई है। लेकिन हिंदी में बड़ी मलाई है!

हिंदी एक हताशा है। वह 'बीमारू' यानी बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश की बीमार भाषा है। हिंदी का देश की अन्य भाषाओं से संबंध स्पष्ट नहीं है। उर्दू से क्या संबंध होना चाहिए बताइए तो? हिंदी साम्राज्यवादी भाषा है। वह अन्य भाषाओं पर हावी होना चाहती है। जवाब में पंजाब में पंजाबी और अंग्रेजी में सरकारी नामपट्ट मिलते हैं। हिंदी में नहीं मिलते। तमिलनाडु में नहीं मिलते हाय। हिंदी सबको अपना कहती है हिंदी को कोई अपना नहीं कहता। क्यों?

हिदी की बात कीजिए तो हिंदीवालो के बीच इसी तरह की बाते होती है। सबकी इच्छा रहती है कि हिदी सबकी सिरमौर बने। हीन न रहे। दीन न रहे।

एक दभ की दहाड और उसके साथ ही चिपकी आत्महीनता। एक गौरव का गान। और फिर अचानक हीनता का रुदन। अपने इतने फैले-पसरे होने का आतक और उसकी अजगरी सुस्ती।

हिदी अनत अंतर्विरोधों की भाषा है। यही उसकी ताकत है। यही उसकी कमजोरी है। वह 'वहता नीर' है। वह कूप-जल नही है। न वह किसी व्याकरण के रूमाल मे बँधा 'पनीर' है।

नितात निर्वध, मुक्त, आवारा, पुंश्चली, चचला हिदी। सदियो से लगातार नाचती हुई। कभी भी थिर न होती हुई। जिस-तिस की जुबान पर बैठती हुई वह खुद एक 'हाइपर रीयल' है।

वह इक्यानबे तक पौने चौंतीस करोड़ लोगो की मातृभाषा थी। दो हजार एक के सर्वेक्षण मे वह चालीस करोड का आँकडा पार कर रही होगी। उसके पेट मे अडतालीस बोलियाँ समाई हुई हैं। इन बोलियो को बोलने वाले लोगो की सख्या दस करोड़ के करीब है। इनमे नागपुरिया से लेकर निमाडी-पहाड़ी-काँगड़ी तक, सनौरी-सिरमौरी-सुगाली से लेकर धुधारी-खेरार खोर्था-कुल्वी तक शामिल है। इनमे मालवी-माडवली-पचपरगनिया से लेकर पगवाली-कुर्मनी-लोधी तक शामिल है। व्रज-अवधी-बुंदेली-बागडी-हाड़ौती-मेवाडी तो कब की पच चुकी है। ऐसी पाचन शक्ति किसी अन्य भारतीय भाषा मे नही दिखाई देती। इतनी बोलियाँ और मातृभाषाएँ किसी एक भाषा मे नहीं मिलीं। 1990 के सेंसस की रपटे देख लीजिए—ये मिलकर दस करोड का आँकडा बनाती है। इनके बिना हिदी मात्र तेईस करोड की भाषा रह जाती है। इन्हे शामिल करने पर पौने चौंतीस करोड़ की भाषा हो जाती है। इन बोलियों की अडतालीस सरिताएँ जब हिदी मे गिरती है तो वह एक उद्दाम नदी बन जाती है। ऐसी विकट रूपधारी भागीरथी सदृश हिंदी को कौन पाणिनि अपने व्याकरण मे बाँध सकता है? शिव जी ने गगा को अपनी जटा मे साधना चाहा तो कहाँ सधी? हिदी को बाँधना-साधना उसके साथ अनाचार है। उसे निरमा से धो-पोंछकर साफ करना शुद्ध करना उसके सग अन्याय है जिसे उसने कभी बर्दाश्त नही किया। जो लोग 'हर भाषा का एक व्याकरण होता ही है' को मानते है, वे जब भी हिदी का व्याकरण बनाने चले है, खेत रहे है। हिदी के उमडते-घुमडते उफान ने उन्हे अपनी लहरो मे समो लिया है और अब तो आठवी का बच्चा ही व्याकरण की बात करता है।

उतना काफी है! बहते नीर को बर्फ मत बनाओ। उसे फ्रीजर मे मत रखो। सस्कृत फ्रीज कर दी, खत्म हो गई। इन दिनों महान् देव भाषा सस्कृत मात्र उनचास लाख लोगों की भाषा है। उसे केद्र सरकार सरकारी इमदाद के स्टैरायड देकर राजनीतिक

जरूरतो के लिए जिलाना चाहता है। लेकिन वह जहाँ की तहाँ पड़ी रहती है। उसकी कैद उसका व्याकरण है। हिंदी की कोई कैद नही है। यही उसकी ताकत है। वह बोलियो की बोली है।बोली का व्याकरण नही होता। लेकिन साहित्य होता है। सुन लीजिए स्वर्ग में कहीं बैठे चाटुर्ज्या साहब! और इसीलिए वह भाषाओं की भाषा है।

यह हिंदी का ही दिल-गुर्दा है कि तमिल, तेलुगू, कन्नड, मलयाली, बांग्ला सिंधी पंजाबी, गुजराती, मराठी कोई भी आता है और उसमे पनाह पाता है। वह उसे सब कुछ देकर उसका सब कुछ ले लेती है। उसके लिए कोई पराया नही। उस विराट सराय मे कोई भी ठहर सकता है। उसमे किसी के लिए दुर-दुर नही है। यह ग्रहण शक्ति ही उसकी ताकत है।

यह ग्रहणशीलता उसमे एक नाभिकीयता पैदा करती है। इस नाभिकीयता के चुंबकत्व के चार स्तर है। जनसंख्यात्मक, भू-राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक। ये चारो मिलकर अरसे से अन्य भाषाओं के लोगों को हिंदी की ओर खींचते रहते है और हिंदी अचानक अखिल भारतीय ही नही ग्लोबल भाषा बन उठती है। यह उसे राजभाषा का दर्जा देने के कारण नही हुआ। यह हिंदी के सरल ग्रहणशील स्वभाव के कारण हुआ। समाज मे छुआछूत रही है। लेकिन हिंदी भाषा मे कोई अन्य भाषाभाषी अछूत नही है। अन्य भाषाएँ अस्पृश्य नहीं हैं। यह दूसरों का दुर्भाग्य है कि दूसरे उससे ज्यादा नहीं लेते। यह उसकी ताकत है कि अब उसके बाजार को देख अन्य भाषाओं के बड़े लेखक तक कहने लगे है कि जब तक हिंदी में आ जाऊँ चैन न मिलेगा। महाश्वेता देवी अनेक बार कह चुकी है कि अखिल भारतीय ख्याति उन्हे हिंदी ने ही दिलाई। मुकदमो मे फसी जयललिता तमिलवादी है लेकिन टीवी पर आती है तो शम्मी कपूर की 'जंगली' का 'चाहे कोई मुझे जंगली कहे—याहू!' गाकर हिंदी के कान मे कू करती है। देवगौड़ा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसानों के बीच अपना भाषण रोमन-हिंदी मे देते है।

सबसे बड़ा नाभिकीय तत्त्व हिंदी-जनसंख्या है। यह विराट हिंदी जनता एक भू-राजनीतिक सच्चाई है। यह जनतंत्र के विकास के दौरान न केवल सुस्पष्ट होती गई है बल्कि सबके लिए सबोध्य सच्चाई बन चली है। इस तरह हिंदी भाषा सबको अपनी ओर खींचती रहती है। जनतंत्र ने उसे यह नाभिकीयता दी है। आजादी के संघर्ष मे इस नाभिकीयता की पहचान धीरे-धीरे हुई।

सदियो पहले अमीर खुसरो ने उसकी नाभिकीयता को पहचाना था। उसके बाद समूचे भक्तिकाल, रीतिकाल मे वह नाभिकीयता बनी रही। फिर भारतेंदु ने, स्वामी दयानंद ने, महात्मा गाँधी ने पहचाना। अन्य भाषाभाषी केंद्र बन गए। भाषाधारी राज्य बन गए। लेकिन हिंदी ऐसी फैली-फूटी कि उसे एक नहीं छह-सात राज्य मिले। और फिर भी उसका कोई एक केंद्र नही बना। वह बहुकेंद्रवादी ही रही। मजे की बात है कि जब जब इन सब राज्यों को मिला कर राजनीतिक स्तर पर एक क्षेत्र

वना देने की बात की गई उसे किसी ने नही माना। स्वय हिदीवालो ने नही माना और हम देखते हैं कि बिना किसी एक खास राज्य में बॉधने की जगह निर्बंध होकर वह आज ग्लोबल भाषा बन गई जिसे समझने वाले धरती के हर महाद्वीप और देश मे मिलते है। वह विचित्र ढंग से राष्ट्र की ही नही, ग्लोबल स्तर की सपर्क भाषा बन गई है।

यही उसका भू-राजनीतिक स्तर है जो आर्थिक स्तर से और सास्कृतिक स्तर से मिलकर हिंदी को तेज आवर्त वाली भाषा बनाता है। आजादी के सघर्ष के दौरान राजनीतिक आदोलन ने जहॉ हिंदी की नाभिकीयता को सक्रिय किया वही आजादी के बाद जनसख्या-बल और भू-राजनीतिक स्पर्धा ने उसे सक्रिय किया। और पिछले एक-डेढ दशक से तो नए आर्थिक और सांस्कृतिक कारक उसे एक अद्भुत चुंबकत्व दे रहे है। इस प्रक्रिया मे हिंदी भाषा के अनुप्रयोग के स्तर बदले है और उसी अनुपात मे उसका भू-राजनीतिक उपयोग बदला है। अब हिंदीभाषी का मतलब मातृभाषा वाले लोग ही नही हैं। वे भी है जिनकी दूसरी भाषा हिंदी है और वे भी जहाँ बाजार की भाषा हिंदी है। हिंदी का भूगोल ज्यादा बदला है और भूगोल को अवश्य देखना चाहिए।

जनसख्या ने सवको समझा दिया है कि अगर देश का शासक बनना है तो हिंदीजनों के बीच पैठ होनी चाहिए। विश्व की पूँजी के नियंता बहुराष्ट्रीय निगमो की समझ साफ है कि अगर किसी ब्राड को अखिल भारतीय मार्केट देना है तो हिंदी मे लाच करो। जिस तरह राजनीतिक दलो को समझ आया है, उसी तरह निगमो को भी समझ आया है कि हिंदी में बिका तो सब जगह बिका। हिंदी मे नही चला तो कही नही चला। यही मीडिया और मार्केट के दुहरे आवर्त की ताकत हिंदी की ताकत बनती है। यह नया सास्कृतिक स्तर है जो पिछले दस-पद्रह साल मे सक्रिय हुआ है। एक मुश्त, एक भाषा मे इतना बडा बाजार कही नहीं है। इस तरह बाजार ने हिंदी को सबकी 'पहली सपर्क भाषा' बना डाला है। बहुराष्ट्रीय निगम अपने यहॉ अंग्रेजी के साथ हिंदी जानने वालो को रखने की बात करते है। उनका मानना है कि वे कॉरपोरेट या सरकार से अग्रेजी मे निपट सकते हैं। लेकिन गॉव-कस्बे की हिंदीवाली जनता से तो उसी के मुहावरे मे निपटना होगा। उपभोक्तावाद के सतत निदक जान लें कि उपभोक्तावाद ने हिंदी को विश्व मे तीसरा दर्जा दिलाया है। किसी सरकारी आदेश या व्याकरण या साहित्यकार ने नहीं दिलाया है। यह दर्जा जनसख्या, मार्केट और मीडिया ने दिलाया है। भूमडलीकरण ने दिलाया है।

इसीलिए हिंदी एक अराजक, बिखरी हुई और अलमस्त-सी अवधारणा है। राष्ट्रीयता के निर्माण के प्रथम चरणों मे जिन भाषाओ को अपने-अपने घर यानी राज्य मिल मिला गए, उनके बरक्स हिंदी के भूगोल और इतिहास अलग ढंग से चले है। अन्य भाषाओ ने दो-चार बोलियो को उदरस्थ किया। हिंदी ने अड़तालीस बोलियों

को उदरस्थ कर या स्वास्थ्य पाया। अब वही चीज जनसंख्या-बल मे बदल गई। वही बाजार मे बदल गई और हिंदी में एक जबर्दस्त नाभिकीयता पैदा हो गइ। इसीलिए हिंदी की पहचान अन्य भाषाओं की तरह किसी एक महापुरुष के कारण नही हुइ। उसके महापुरुष अनेक रहे। भक्तिकाल मे भक्ति के उपभोग ने उसे बनाया। वह साधुओं के सत्सग मे बनी। कलयुग म फिल्मों, उनके गानों, निगमो के ब्राड अभियानों, टीवी चैनलों मे बनती है।

इसीलिए अन्य भाषाओ मे मानकीकरण की समस्याएँ बहुत पहले हल हो गइ, लेकिन इधर हल होने म ही नही आती। किसिम-किसिम की हिंदी है। कही मराठी हिंदी यानी 'मिंदी' है तो कही गुजराती हिंदी 'गुदी' है। कही पजाबी हिंदी यानी 'पिंदी' तो कही राजस्थानी है। कहीं तमिली हिंदी यानी 'तिंदी' है तो कही हैदराबादी हिंदी है। इतनी तरह की हिंदी है कि आप उसका नक्शा आसानी से नही बना सकत। कही वह हिंदुस्तानी है जिसमे उर्दू के अनेक शब्द रहते है। कही वह विश्वविद्यालयो मे अध्यापको की अध्यापकी हिंदी है जो शुद्धीकरण की कायल है। कही वह विद्यार्थियो की हिंदी है जिसमे वर्तनी की ऐसी-तैसी होती रहती है। कही वह नितान फिल्मी सवादों, गीतो की हिंदी है। कही वह हिंदी चैनलो की हिंग्रेजी है। कही वह ब्लू लाइन बसों में लिखे गलत-सलत शे'रो की हिंदी है। कही वह '13 मेरा 7 रहे' मार्का स्कूटरी हिंदी है। कही वह साहित्यिक गोष्ठियों की हिंदी है। कहीं वह धर्म-प्रवचनों मे बाबाओ की हिंदी है। कही वह राजनेताओ की हिंदी है। कही वह अटल की हिंदी है तो कहीं वह लालू की बिहारी है तो कहीं मुलायम की ब्रजी टच वाली हिंदी है। कहीं वह 'जनसत्ता' की हिंदी है तो कही 'इडिया टुडे' की हिंदी है। वह अन्य अखबारो की हिंदी है। कहीं उसके ऑगन में अग्रेजी के पूरे के पूरे वाक्य चले आ रहे है। कहीं वह अग्रेजी के पेपरो में घुसी जा रही है। अमेरिका मे उसे 'कहो ना प्यार है' से लेकर 'यादें' के गाने बनाते है दक्षिण अफ्रीका मे जो लोग हिंदी नहीं जानते वे भी 'कहो ना प्यार है' की धुन पर थिरककर गाने से सवाद करते है। अफगानिस्तान म बुद्ध की प्रतिमा तोडी जा सकती है। फिल्मे प्रतिबधित है। लेकिन चोरी-छिपे हर टेक्सीवाला हिंदी गाने सुनता-सुनाता रहता है। यह हिंदी का अंडरग्राउड है जो पाकिस्तान तक में दिन-रात बनता रहता है। जो हमारे लिए हिंदी है वह उनके लिए उर्दू की तरह है। एक स्तर पर दोनो भाषाएँ विचित्र ढग से मिक्स कर जाती हैं। जी.टीवी सउदी अरब से लेकर आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अमेरिका तक मे हिंदी सवाद करता है। स्टार भी ऐसे ही अपने फुटप्रिंट वाले देशों मे हिंदी सवाद करता है। यही हाल दूरदर्शन और सोनी का है। एफ.एम की हिंदी चटपटी युवा हिंदी है जिसमें अंग्रेजी हिंदी के साथ दोस्ती कर लेती है। इस नए दौर में अंग्रेजी से हिंदी की दुश्मनी खत्म हुई है।

हिंदी के इस नए समाजशास्त्र ने हिंदी भाषा के एजेंडे को बदल दिया है।

हिंदी साहित्य के जरिए या समाज सुधार आंदोलन के जरिए नही बन रही। हिंदी बोलचाल में मनोरंजन के माध्यम से और बाजार के उपभोक्ता ब्रांडों के माध्यम से बढ रही है। यह किसी भी सरकार की नीति से बड़ी ताकत है। छ हजार करोड रुपये का मनोरंजन उद्योग बताया जाता है पच्चीस सौ करोड़ रुपये का विज्ञापन उद्योग बनाया जाता है। इस तमाम रकम का अस्सी फीसदी हिंदी के बाजार पर खर्च होता है। यह सब मिलकर हिंदी को एक अतिचचल और विराट रूप दे देते है। यही उसकी नाभिकीयता को दुर्जेय बनाती है।

यह नाभिकीयता कितनी दुर्जेय है इसका अहसास माइक्रोसॉफ्ट की नई विंडोज ऑफिस एक्स पी के इस्तेमाल को देखकर होता है जिसमे पहली बार हिंदी को उसी तरह कप्यूटर मे एनेबिल या सक्रिय किया गया है जिस तरह अब तक अंग्रेजी होती आई है। आप चाहे तो कंप्यूटर मे एक्स.पी. सॉफ्टवेयर डालकर हिंदी मे ही वे सारे काम कर सकते हैं जो अंग्रेजी मे होते थे। 'फौंट के होने न होने की कोई फिक्र अब नही है। बहुत जल्द वह मार्केट होने वाली है। उससे कप्यूटर हिंदी-मित्र हो जाएगा। यह हिंदी के लिए कल्याणकारी होगा। आप इंटरनेट पर हिंदी मे आवारागर्दी तक कर सकेंगे।

इस सबने हिंदी भाषा मे 'प्रस्थापना परिवर्तन' कर दिया है। अब हिंदी भाषा का व्याकरण की नजर से देखना, अन्य भाषाओं से उसके सबध को एकेडेमिक स्तर पर साफ करना एजेंडे से बाहर की बातें हो गई है। उसकी शुद्धता बुनियादी मसला नही रह गए है। प्रिंट मीडिया ने उसे पिछली दो शताब्दी मे बोली से भाषा मे बदला। 1990 के सेंसस की रिपोर्ट मे अड़तालीस बोलियों मे 'खडी बोली' का नाम नही है। वह इक्यानबे तक 'हिंदी' मे बदल गई है। लेकिन अब जनसंख्या मार्केट और मीडिया मिलकर उसे फिर एक बडी बोली जाने वाली भाषा में बदल रहा है। वह लिखित भाषा जितनी बड़ी है उससे भी ज्यादा बडी वह बोली-बरती जाने वाली भाषा बन गई है। इसीलिए वह अस्थिर है। प्रिंट मीडिया ने उसे 'राष्ट्रीयता' दी। 'राष्ट्' बनाया। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने उसे फिर ग्लोबल बोली बनाया। ग्लोबल बोली और भाषा बन जाने के पीछे देश और विश्व स्तर पर हिंदीभाषियों का विस्थापन और प्रवास भी एक बडा कारक बन रहा है। इस अर्थ मे हिंदी राष्ट्रभाषा बने न बने लेकिन अतर्राष्ट्रीय भाषा बन चली है। जरा ई-मेलों की भाषा देखिए। उनमे आप रोमन लिपि मे अंग्रेजी वाक्यो मे हिंदी मिली पाएँगे। आप रोमनी हिंदी पाएँगे। हिंदी चूंकि ग्लोबलीय संवाद की भाषा बन रही है इसलिए उसमे आज जितनी बात होती है उतनी इतिहास में कभी न हुई होगी।

पहले वाली हिंदी भाषा प्रिंट मीडिया और वृतात लेखन से बनी थी अब वह मीडिया और उसकी पॉपुलर कल्चर से बन रही है। वह मनोरजन करती हुई बन रही है। इसीलिए उसमे उपदेश कम आनद ज्यादा दिखता है।

आज हिंदी में अन्य भारतीय भाषाओं के मुकाबले सर्वाधिक संख्या में पत्र-पत्रिकाएँ छपती हैं। किताबें छपती हैं। यद्यपि वे आनुपातिक हिसाब से बेहद कम हैं तो भी उसकी सकल संख्या अन्यों से ज्यादा बैठती है, आज हिंदी मीडिया अन्य भाषाओं के मीडिया के मुकाबले ज्यादा है। आज हिंदी मीडिया में अन्य भाषाओं के मीडिया के मुकाबले ज्यादा लोग काम करते हैं।

हिंदी अभी बाढ़ में है। कूड़ा-कचरा, झाड़-झखाड़, मैला-कुचैला सब बह रहा है। बाढ़ को जो रोकेगा डूब जाएगा जो उसमें तिर सकेगा वह उसकी गति का आनंद लेगा।

अंग्रेजी भाषा हिंदी का कल तक एक 'औपनिवेशिक अन्य' थी। वर्चस्वकारी थी और हिंदी दबाव महसूस करती रहती थी। अब खेल बराबरी का हो गया है। बची-खुची हीनता-ग्रंथि भी गिर जानी है। लेकिन अभी हिंदी पर शुद्धतावादी लोगों का कब्जा है। वे 'डर' की राजनीति करते हैं। कहते हैं कि अंग्रेजी खा जाएगी।

अंग्रेजी के हजार-पाँच सौ शब्द पिछले दिनों से हिंदी के शब्दकोश में पनाह माँग रहे हैं। अन्य भाषाओं के रोजमर्रा के उपयोग में आने वाले शब्द जगह ढूँढ रहे हैं। उन्हें जगह दे दी जाए तो बेहतर होगा। अंग्रेजी बेखटके हिंदी के 'रायता' 'पराठे' जैसे सैकड़ों शब्दों को अपने शब्दकोश में जगह दे सकती है लेकिन अपने शुद्धतावादी ऐसा नहीं करते। वे एक दिन व्यर्थ हो जाएँगे। वैसे तो सरकार को एक वृहद् कमीशन बनाना चाहिए जो हिंदी के विश्वव्यापी फैले हुए जनक्षेत्र को ध्यान में रखकर उसके निरंतर चंचल रूप-व्यवहार की नक्शानवीसी करे और उसमें आ रही समस्याओं का निदान करे। शब्दकोशों का स्थायी कमीशन रहे। लेकिन सरकारी कमीशन अगर खाने-कमाने से बचेगा तो करेगा। वैसे भी सरकार मृत संस्कृत को संजीवनी पिलाने से फुरसत पाए तो जीवित हिंदी के बारे में सोचे। यह काम हिंदी सेवी लोग कर सकते हैं। लेकिन वे हिंदी दिवस के राष्ट्रीय छाती-कूट रुदन के ड्रामे से बचें तो करें। हिंदी के रोने का वक्त गया। हिंदी का नया समाजशास्त्र रोने वालों पर हँसता है।

● जनसत्ता, 16 सितम्बर, 2001

भूमंडलीकरण और पॉपूलर लेखन की जरूरत

खबर आई है कि किसी प्रेस मे तसलीमा नसरीन की 'लज्जा' की प्रतियाँ जाली ढग से छापी जा रही थी। पुलिस ने छापा मारकर उसे पकडा। तसलीमा की 'लज्जा' भारत में हिट किताब है। 'हैरी पॉटर' अग्रेजी का बाल उपन्यास सीरीज है जिसकी दुनिया भर में करोडो प्रतियाँ बिक चुकी हैं। आप दिल्ली में कनॉट प्लेस के फुटपाथ पर हैरी पॉटर सीरीज की दो तरह की किताबे पा सकते है। एक वे हैं जो असली हे, दूसरी वे जो नकली है। नकली सस्ती मिलती है अगर अग्रेजी की असली ढाई सौ की है तो नकली सौ रुपये मे आ रही है।

यही किस्सा रैपिडैक्स इग्लिश स्पीकिग कोर्स का है। इसकी अब तक एक करोड प्रतियाँ बिक चुकी बताई जाती है। इसकी नकल पर बनी दर्जनो रैपिडैक्स बाजार में हैं। पिछले दस-बीस साल में हिंदी की सर्वाधिक बिकने वाली किताब वह है जो अंग्रेजी बोलना सिखाने वाली है। उक्त तीनों उदाहरण पॉपूलर किताबो के है। प्रेमचंद अब भी हिंदी के सबसे ज्यादा पढे जाने वाले लेखक कहलाते है। उनकी किताबे पेपर बैक मे आ चुकी है। पेपर बैक मे आना किताबो का पॉपूलर होने का एक लक्षण है। बहुत पहले राजकमल ने, हिंद पॉकेट बुक्स ने पेपर बैक निकाले थे। वह प्रयोग आज भी जारी है। इधर वाग्देवी के भी पेपर बैक देखे गए है। डॉयमड पेपर बैक पॉपूलर पुस्तक व्यवसाय का एक उदाहरण कहा जा सकता है। राजकमल के पेपर बैक्स जहाँ आपको उच्चस्तरीय साहित्य सस्ते में देते है, वहीं डॉयमंड मे आपको शे'रो शायरी से लेकर कुकरी, अचार-मुरब्बे डालना सिखाने से लेकर मोटर या कंप्यूटर मेकेनिकी तक की किताबे मिल जाया करती हैं।

पॉपूलर किताबो को देखना हो तो मुहल्ले मे लगने वाले पटरी बाजारो को देखे। वहाँ आपको तमाम व्रत कथाएँ, चालीसा, रामायण और फिल्मी गाने एक साथ मिलते है। वही आपको सचित्र कोकशास्त्र की किताबे भी दिखाई देती हैं। यदि हम दरियागंज में लगने वाले रविवारी बाजार को देखे तो हमे कुछ दूसरी किस्म की किताबो को पॉपूलर मानना पडेगा। तकनीकी किताबे अग्रेजी के पल्प नॉवेल, पत्रिकाएँ तमाम इसी श्रेणी मे आएँगी।

इस पॉपूलर जगत का कोई एक नक्शा नही बनाया जा सकता है। हम देख सकते हैं कि पॉपूलर मे एक ही प्रकार की रुचि सत्तासीन नहीं रहती। वह लगातार बदलती रहती है। किसी जमाने मे पटरी पर फिल्मी गानों की किताबें खूब मिला करती थी अब कम मिला करती है, लेकिन अब कैसेट मिला करते है, सीडी मिला करती है। तकनीक ने पॉपूलर को बदल दिया। पॉपूलर वही है जो लगातार बदलता चले। बदलाव के निशान पॉपूलर मे खूब पढे जा सकते है। इन दिनो तो पॉपूलर कल्चर के अध्ययन इसीलिए महत्त्वपूर्ण हो चले हैं क्योंकि पॉपूलर के जरिए हम समाज के बदलाव को बेहतर समझ पाते है।

तो भी हिंदी मे अब भी पढे-लिखे लोगो का एक बडा वर्ग पॉपूलर को पाप माना करता है। इसका सिर्फ एक उदाहरण साहित्यकारो के बीच मंचीय कविता के प्रति प्रचलित दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण कथित रूपवादी ही नहीं प्रगतिशील साहित्यकारो तक मे प्रचलित है। इस मामले मे दोनो की एकता है। हिंदी के ऐसे मानित-सम्मानित कवियो से पूछिए तो वे मच पर कविता पढने वाले कवियो को सस्ता तुक्कड कहते है, उनको अश्लील फूहड कहते है। उनके अनुसार वे कविता की रेढ मारने वाले है। आलोचक उन्हे अपनी चर्चा के योग्य नही मानते। मंच की कविता यहाँ व्यावसायिक कविता है। भदेस कविता है। स्तरहीन कविता है। जनरुचि को बिगाडने वाली कविता है। उनकी लिस्टो मे काका हाथरसी, अशोक चक्रधर, सुरेंद्र शर्मा, हुल्लड कुल्हड, ओम प्रकाश आदित्य, गोपाल प्रसाद व्यास, गोविंद व्यास आदि के नाम नही मिलेगे। साहित्य का समकालीन इतिहास ऐसा परिनिष्ठित है कि जो सबसे लोकप्रिय यानी पॉपूलर कवि है वे उसके लिए जिंदा नही है। यहाँ तो नागार्जुन की मचीय कविताएँ चर्चा का विषय नही बनतो। ऐसा उच्च-भ्रू वातावरण है।

हिंदी के समकालीन चिंतन मे पॉपूलर से परहेज एक मनोदशा की तरह मौजूद है। यह साहित्य का अपने ही लोक से बेगाना होना है, जबकि हर साहित्यकार लोक मे जनता से जुड़ने या जुडे होने की बात करता नजर आता है। वह जनता का जाप करता है, लेकिन जनता के बीच नहीं होता। उसकी कविता को जनता नही समझ पाती। उसे एंज्वॉय नहीं कर पाती। वह दस-बीस अपने जैसों की गोष्ठी का हीरो होता है। मच के कवि हजारो की तादाद मे जनता को कविता सुनाते हैं। हिट होते है। हूट होते हैं। वे सीधे जनता के सामने होते हैं। वे जनता को रिझाने के लटके-झटके अपनाते हैं। कविता उनके लिए एक परफारमेंस होती है। परफारमेंस एक बडी कला है। आप छोटी गोष्ठियो मे जो पढते है, वह भी एक प्रकार की परफारमेंस ही है। आप जो जनता से जुडने की बात करते है, आपके पास जनता नही होती जो आपकी कविता सुने। जो जनता को अपनी कविता सुनाता है। सराहना पाता है, वह आपके लिए कवि नही है। हिंदी के कवि इस तरह किसी नई जनता के इतजार मे रहते है जो पॉपूलर कल्चर के इन दिनों मे कम से कमतर होती जाती है। वे जनता से

जुड़ने की प्रतिज्ञा करते हैं लेकिन मूलत जनता मे डरते है। वे जनता से घृणा करते है। अगर जनता के लिए कविता लिखेंगे तो जनता के होंगे। किसी आलोचक के लिए तव से नही लिख सकेंगे। लेकिन उनकी ट्रेनिग तो वस इतनी ही है कि किसी तरह कुछ लोगों को रिझा लो। जनता मे जाओगे तो आपको अपने चोले से वाहर आना होगा। कविता को मजदूर किसान, रिक्शेवाले के जीवन की तरह मैला-कुचेला होना होगा, सरल-सुवोध होना होगा और उसकी रुचि का गुलाम वनना होगा, ताकि कविता उसे पराई न लगे। अभी तो उसे आपकी कविता आपके लिबास की तरह पराई लगती है। उस तक पहुँचने के लिए मीडिया और मचो पर जाना होगा ओर अपनी 'स्वात सुखायता' को 'सुखाना' होगा। तव आप श्रेष्ठ साहित्य के इतिहास मे तो नही जा पाएँगे।

इस तरह हिंदी साहित्य मे 'श्रेष्ठ' और 'सस्ती' कविता का विभाजन है। एलीट साहित्य के इतिहास पर नजर जमाए हुए साहित्यकार 'श्रेष्ठ' मे जाने के लिए लाइन लगाए है जबकि जनता के वीच तुकबंदी करने वाला 'चुटकुले सुनाने वाला' उनका मनोरंजन करने वाला इतिहास से वाहर रहकर एक कवि सम्मेलन से दस हजार-वीस हजार कमाता है। श्रेष्ठ रोता हे कि जनता उसे नही पूछती। सस्ता मगन रहता हे कि उसकी कविता हिट है। ये दो लोक है जो हिंदी साहित्य ने बनाए है। जिनमे कोई वोलचाल तक नही हैं। एक ब्राह्मण दूसरे को अब्राह्मण मानता हे और नजरअदाज करता है। एक के पास जनता नही है महान् उच्च विचार है, दूसरे के पास उच्च विचार नहीं है सिर्फ जनता है। जिसके पास विचार है, उसकी जिम्मेदारी ज्यादा हे। लेकिन वह तो स्वय को 'हाई कल्चर' मे समझता है और सस्ते को 'लो कल्चर' मानकर चलता है।

'हाई कल्चर', 'लो कल्चर' का होना पूँजीवादी सस्कृति के विकास के एक चरण को वताता है। श्रम विभाजन की तरह रुचियाँ, आनद और मनोरजन का विभाजन भी हुआ करता है। जरा सोचिए अगर किसी दिन हजारों झुग्गी-झोपडी वाले लोग इडिया इंटरनेशनल सेंटर या हेविटेट सेंटर किसी नाटक को देखने पहुँच जाएँ तो क्या सीन बनेगा? वे अपने समझ मे आने वाली वात की माँग करें तो क्या होगा? सारे कवियो की कविताई झड जाएगी। वे हँसना चाहेंगे लेकिन कविता उनकी समझ मे नही आएगी। शायद इस न समझ में आने पर वे हँसेंगे, कभी ऐसा प्रयोग किया जाना चाहिए और जानना चाहिए कि हिंदी की समकालीन कविता ओर जनता के वीच ऐसा सवाद अगर वनता है तो वह किस तरह की मॉग और दवाव कविता के आगे पेश करता है। यह तब तक नहीं हो सकता जब तक कि लोकप्रिय या पॉपूलर के प्रति हिंदी कवियो की वर्जनाएँ न टूट जाएँ, उनके डर न खत्म हो जाएँ। वे तभी हो सकते हे जब समाज मे या तो इतनी तगड़ी गिरावट हो कि सब गरीबी की लाइन के वीच रहने को अभिशप्त हो जाएँ या कि पॉपूलर कल्चर का इतना

बडा बाजार बन जाए कि सब उसमे एक ही तरह से जीवित रहने के लिए अभिशप्त हो। सब कलम के सचमुच के मजदूर बन जाएँ।

अपने ही प्रिय लोक से बाहर खडी हिंदी कविता और उससे जुडे तमाम विमर्श इसीलिए कुल मिलाकर हजार पॉच सौ के विमर्श बनकर रह जाते है। यह हिंदी साहित्य का रोग है जो उसे खाए जा रहा है। हिंदी साहित्यकार की कल्पनाशक्ति और आजादी अगर सकुचित हुई है और निरतर हो रही है तो उसका एक बडा कारण यह बीमारी है कि वह पॉच सौ का 'हाई' होना चाहता है करोडो के लिए 'लो' नही होना चाहता। यह एलीट रोग है, यह सत्ता का पन्ना खाता है। जनता के बीच नही जाता है लेकिन जनता की बात किए बिना भी नही मानता। जनता के बीच दल जाते हैं, नेता जाते है। इन दिनों सांप्रदायिक शक्तियॉ अंध धार्मिक शक्तियाँ खूब जाती है। जनता को उसके स्तर पर जाकर अपनी अधी बाते समझाती रहती हैं। लेकिन सेकुलर हुआ साहित्यकार अपनी हाथी दॉत की सेमिनार मे बैठा, अधिक हुआ तो साप्रदायिकता पर एक बयान जारी कर देता है। वह अपने लिए रेडीमेड पब्लिक चाहता है। वह पब्लिक स्फीयर के जटिल पॉपूलर खेल से डरता है और क्राति करना चाहता है उनके रजिस्टर में तो शील और नागार्जुन की पॉपूलर कविताओ की गिनती नही है।

यदि हिंदी मे हास्य की कमी है, यदि उसमे आशुता की कमी है, यदि उसमे जासूसी कहानी की कमी है, यदि उसमे हैरी पॉटर जैसे चरित्रों और बाल साहित्य की कमी है और उपलब्ध महत्त्वपूर्ण लोकप्रिय बाल साहित्य की पूछ नही है तो इसीलिए कि जनता की रुचियो की जानकारी तक नही है। जनता की रुचियों को पूरा करने के लिए उचित माध्यमो से घृणा का भाव है। यदि हिंदी मे हर साहित्यकार हर बार दूसरे से शिकायत करता मिलता है। दूसरे से ईर्ष्या करता मिलता है और खिसियाया हुआ मिलता है और रात को दारू मे उन्मत्त मिलता है और इसलिए कि उसके पास कम करके भी बहुत कुछ आ गया है। उसका लोक इस लोक मे स्वर्गलोक की तरह है। वह किसी स्वर्गवास मे है।

लोकप्रिय होने, मीडिया और बाजार मे होने को लेकर जिस तरह की शीलवान प्रतिक्रियाएँ हिंदी मे दिखाई पडती है, वह कोई समकालीन स्थिति का क्रिटीक नही है बल्कि हिंदी के भारतीय रोग की परिचायक है। हिंदी मे अगर विचार के नाम पर कुछ लपट किस्म के अवसरवादियो की बन आई है तो इसीलिए कि समाज के एलीट वर्ग के रोग घर कर गए है। हिंदी ने जितना मुक्त बोध को भजा है उतना ही हिंदी के साहित्यकार विपात्र के चरित्र बनते गए है। इत्ती से उनके जगत्‌बोध का और आत्मबोध का पता चलता है। अगर हिंदी समाज मे फासिस्ट मनोवृत्तियो का बोलबाला है तो इसी शून्य के कारण वह ज्यादा भयानक नजर आता है। यह एलीटवाद हिंदी साहित्य का नया ब्राह्मणवाद है।

प्रेमचद के बाद हम फणीश्वरनाथ रेणु को जरूर जाने लेकिन गुलशन नदा को नही जानेगे तो हिंदी समाज मे गॉठ-गॅठीले प्रेम व्यापार की भाषा को कैसे जानेगे? अगर हमने उर्दू से हिंदी मे आया इब्ने शफी न पढ़ा होता तो कर्नल बिनोद और हॅसोड हमीद को नहीं जानते, जिसने शफी पढा होगा, वह अधिक सेकुलर हुआ होगा क्योकि वह उर्दू की महान् जासूसी सीरीज रही, जिसमे हमीद और विनाद इकट्ठे आते रहे, मजाक करते रहे, और हिंदी मे आकर लाखो मे बिकते रहे। एक मुसलमान और एक हिंदू चरित्र इतने सघन खिलदडे भाव मे कहाँ आया? हवा-हवाई उसका एक पात्र ही था जिसके नाम से मिस्टर इडिया का एक हिट गाना बना, कहते है मुझको हवा-हवाई। क्या हमें वेद प्रकाश शर्मा के 'वर्दी वाले गुडा' को नही पढना चाहिए जो कभी अपने साहित्य को पढने के लिए किसी को फोन नही करते और लाखो विकते रहे? क्या कर्नल रजीत का उपन्यास साहित्य नहीं पढना चाहिए जो हर रेलवे स्टाल पर मिलता है? देखे तो कि इन लोगों ने क्या नुस्खा बनाया है। क्या कीमिया है कि लोग इन्हे आज भी पढते है? हिंदी मे यह परपरा पुरानी है। कुशवाहाकात कुश, प्रेम वाजपेयी से पहले गोपाल राम गहमरी तक जाती हुई चंद्रकाता संतति तक जाती हुई यह परपरा अब तक आती रही है। जिससे जनता की रुचियो का निर्माण होता है, धर्मवीर भारती के 'गुनाहो का देवता' के दर्जनों सस्करण इसीलिए हुए कि वह अब प्रेमालाप की आखिरी हिट किताब की तरह है। क्या आज के लेखक को किसी ने प्रेम कथाएँ लिखने से मना किया है?

हिंदी का साहित्यकार कला फिल्मो की बात खूब करेगा। वह फेलिनी और गोदार को ऐसे बताएगा मानो वे उसके यार-बाश रहे हो। वह सत्यजित रे को कोट करेगा। रित्विक घटक पर जान देगा। लेकिन डेविड धवन के बारे मे गोविंदा के बारे मे बात करो तो जान निकलेगी। वह ऐसी फिल्मे नहीं देखता है, ऐसा कहकर वह श्रेष्ठता का भाव जताएगा। हिंदी की किसी भी काव्य गोष्ठी मे चले जाइए। एकाध अपवाद को छोडकर आपको लगेगा आप किसी शोकसभा मे आ गए है। विचार गोष्ठी मे चले जाइए तो लगेगा कि आप 'स्ट्रीट फाइटर्स' की गली मे खडे है जहॉ हर आदमी एक और किसी दो टके के आदमी की चिरौरी-मिन्नत करता मिलेगा और पीठ मुडते ही गाली देता मिलेगा। ये सब छोटे आकाश में छा जाने की इच्छा और न छा पाने की अयोग्यता का संघर्ष है।

क्या हंस कुशवाहा की प्रेम कथाओं पर कोई विशेषांक नही निकाल सकता? कथादेश ने इस लेखक का पॉप कल्चर पर जब कॉलम शुरू किया तो शुरू में कई पत्र ऐसे आए कि यह लेखक कोई पाप कर रहा हो, लेकिन बहुत जल्दी लेखको की समझ में आ गया कि पॉपूलर कल्चर का मामला पेंचीदा है। समझना जरूरी है और हो सके तो उसे करना जरूरी है।

पॉपूलर होना हरेक के बस का नहीं पॉपूलर कविता-कहानी लिखना ज्यादा

मेहनत माँगता है। ज्यादा बड़ी प्रतिभा माँगता है। वह आत्मनिवेदन नहीं जन-निवेदन करता है। वह बाजार-निवेदन करता है। मीडिया के लिए, बाजार के लिए लिखना बड़े कसाले का काम है। उसमें मेहनत लगती है। हरेक कोई लिख भी नहीं सकता। उसके लिए कोरी सहजानुभूति नहीं, शब्द कौशल आना चाहिए, उसके लिए मेहनत चाहिए। लेकिन 'हाई' हिंदी में जब सब बिना मेहनत मिलता हो तो कोई मेहनत क्यों करे?

• नई दिल्ली, 9 दिसंबर, 2001

दो हजार दो के आगे

अगर कोई क्रिस्टल बॉल हो तो शायद वह बता सकती है कि अगले चुनाव दो हजार दो के अतिम दिनो मे होगे और प्रियका गाँधी प्रधानमत्री होकर ससार की सबसे कम उम्र की प्रधानमत्री कहलाएँगी। यह क्रमिक होगा। पहले कारगिल टैक्स लगेगा। फिर सी.टी.बी टी होगा। फिर कश्मीर पर अमेरिका बीच मे कूदेगा और दक्षिण एशिया मे तिमोर बनाएगा। कोई दारासिह मुसलमानो को रहने-जीने के ढग समझाएगा। एक कोई जीवन शैली एक आचरण और मदिर-मदिर होगा। अभी के नकली उफान वाला बाजार बैठ जाएगा। उल्लसित प्रवासी भारतीयो की डॉलर पूँजी डूबने को होगी। जब सहयोगी अपनी जनता से विकल होगे तो भाजपा के न चाहने पर भी अगला चुनाव आएगा। और अगली बार सभी पार्टियों मे पचास साल से कम उम्र के लोगो का वर्चस्व होगा। जिसके पास बूढे नेता होगे वह पजीकृत भी नही हो पाएगी। यह शायद बेहतर होगा। अगली सदी के इस युवा-प्रक्षपण मे राजनीति का व्याकरण बदल जाएगा। इसके कुछ लक्षण इन्ही दिनो मिलने लगे है जिनका समवेत अगली सदी के आरभिक वर्षो में नजर आना ही चाहिए। दो-तीन घटनाओं मे भी इनमे से कुछ लक्षणो को देखा जा सकता है। चुनावी धुआँधार के दिनों मे सोनिया की वेबसाइट पर जब किसी ने पूछा कि बेल्लारी किस प्रदेश मे है तो उसे कर्नाटक मे बताया गया। नेट-नागरिको मे इस पर सोनिया की बडी फजीहत हुई। यद्यपि परपरागत जनता को चुनाव मे इस बात की कोई बडी परवाह नही हो सकती कि बेल्लारी कहाँ है और सोनिया को मालूम है या नही। लेकिन भूमडलीकरण मे दिन-रात यकीन करने वाली ओर तैरने वाली 'टीवी पीढी और इंटरनेट पीढी' को यह बात एक चुटकुले के रूप मे ही पसद आई कि सोनिया को सही जवाब नही आता था। भले सोनिया बेल्लारी से जीत गई लेकिन उस हँसी को खत्म हुआ नहीं माना जा सकता जो सोनिया की गफलत हो उठी थी और जो आगे विस्मृत नहीं होनी है, क्योकि भविष्य के सूचना-समाजों में सूचना 'स्मरण और विस्मरण' को भी राजनीतिक अर्थ देती है हम वही भूलते है जिसे भूलना चाहते है। नई पीढी जिस सत्ता-विमर्श मे स्वय को पाती है वह ऐसा ही निर्बंध-विमर्श है और अचीन्हा 'देश' है।

बहरहाल सोनिया के वेबसाइटी घपले के साथ ही पिछले दिनों की दूसरी घटना राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की साइबर शाखा का खुलना था जिसे संघ के सरकार्यवाह राजेंद्र सिंह उर्फ रज्जू भैया ने पत्रकारों के बीच खोला और दुनिया भर में वेबसाइटों पर सवाल-जवाब यानी चैटरूमी बातचीत या गप्प करने वालों के सवालों के जवाब दिए। यह ज्ञात नहीं हो सका कि सवाल क्या थे और जवाब क्या थे लेकिन कुछ दिनों में ही दिलचस्पी लेने वाले लोग पता कर लेंगे कि जहाँ जो सवाल किए गए और जो जवाब दिए गए वे कैसे थे और उनमें किसने किसे कार्टून बनाया। टीम से वेट-उठ पाने में असमर्थ रज्जू भैया या उनके अनिवार्यतया वार्धक्य-प्राप्त उत्तराधिकारी जब वेबसाइट के चैटरूम में बात करने के लिए उद्यत होंगे तो वे नहीं जानते होंगे कि वे किस भूमंडलीय अतिचंचल जगत् के सामने हैं जहाँ कोई भी अनक्षित गप्प मारने वाला उनसे कैसे भी असभ्य या भदेस सवाल पूछ सकेगा जो अपनी संस्कृति के हिसाब से अश्लील कहे जाएँगे। इन 'असभ्य अभारतीय किस्म के फूहड़ और बदतमीज' सवालों पर यदि आप जवाब देंगे तो क्या देंगे? नहीं देंगे तो क्यों नहीं देंगे? और फिर प्रतिप्रश्न का क्या करेंगे? मान लीजिए, आपने कहा कि यह सवाल उचित नहीं है तो आपका चुटकुला बनेगा। आप नेट-नागरिकों की खुली दुनिया के बाहर हो जाएँगे। यदि आपने कहा कि 'महान् भारतीय संस्कृति' में ऐसे सवाल बुजुर्गों से नहीं पूछे जाते तो वह कहेगा कि किससे पूछें? पश्चिम से पूछेंगे तो आपके हाथ से बाहर निकल जाएँगे और तब आप क्या करेंगे जब वे सब पाएँगे कि आप साइबर में प्लेटफार्म बना सकते हैं लेकिन नेट-नागरिकों को बच्चा समझकर 'लाइन' नहीं दे सकते। यानी हर सूरत में आप नहीं जान सकेंगे कि आप किस यथार्थ के समक्ष हैं। इस बात की तसदीक आँकड़े करेंगे कि अगले चुनाव की अंतर्वस्तु युवा तय करने वाले हैं वृद्ध जन नहीं। जिन पार्टियों के हेडक्वार्टर वृद्धाश्रम बने हुए हैं उनका भविष्य नहीं है।

मीडिया और भूमंडलीकरण की तेज प्रक्रिया ने, सूचना और मनोरंजन के मेल ने विचारधारात्मक सक्रियताओं को विदा किया है और पहचान और चिह्न की नई सक्रियताओं को जन्म दिया है। टीवी ने और जन प्रतिनिधित्व के सूचना के भीतर रहने ने नेताओं को छविचतुर बनाया है क्योंकि चिर आकर्षक और युवा जगत् में जो चेहरे हिट होते हैं वे बूढ़े-थके और परेशान नहीं दिखते। राजनीति में सौंदर्य का, खासकर बनाए या डिजाइन किए गए सौंदर्य और छविप्रियता का प्रवेश बड़े क्रूर किंतु खुले ढंग से अ-सुंदर यानी अनाकर्षक को किनारे कर रहा है। यह एक सांस्कृतिक विपर्यय है जो भूमंडलीकरण कर रहा है और राजनीति की परिभाषा बदल रही है। आप पाँच-छह साल पहले के अटल जी के चित्रों को आज के चित्रों से मिलाइए। उनके संकट के दिनों के चित्रों को आज के चित्रों से मिलाइए। उनकी आँखों को अब कम झपकने को और देर तक किसी शब्द पर अटक जाने की अब कम हु

आदत और देहभापा का पुरानी देहभापा से मिलान करिए तो यह वात समझ सकते है कि वे डिजाइनर कपडो में अव अधिक स्मार्ट और गतिशील दिखते है। लेकिन के एल. शर्मा को विठाकर भाजपा अपना सदेश युवाओं में नहीं पहुँचा सकते। पहचान का तादात्म्य एक पैकेज की तरह है जिसे भाजपा के लिए इस वार विज्ञापन एजेंसियो ने किया। बुश और क्लिटन मे दोनों ओर जव कपनियॉ होंगी तो क्लिटन ज्यादा युवा दिखेंगे। वही अपील करेगा और इतना कि उसके हजार खून माफ होंगे। मीडिया ने पहचान को विचारधारा से वड़ा कर दिया है और पहचान के सामाजिक चिह्न को विचार से बडा और राजनीति को जवावदेही मे परिणत कर दिया है। जवाबदेही से आप वहुत दिनो भाग नही सकेंगे।

देश मे इस वक्त बीस साल से ऊपर और चालीस साल से कम लोगों की सख्या एक वडे प्रतिशत मे है जो गतिशील है और अग्रगामी होने की प्रबल इच्छा रखती है। वह स्वय को समाज का नायक मानती है। पिछले ही दिनों भारत के जिन चद अमीर लोगो की सूची वनी है उनमे से ज्यादातर चालीस-पचास के पेटे वाले हैं। ज्यादातर सूचना प्रौद्योगिकी के लोग है और वे ही गति मे अग्रणी हैं। यही प्रवासी भारतीय का खाका है और यही नया नेतृत्व है। विचारधाराओ की महान् स्मृतियों के भार से दवे वृद्ध जनों के पास आने वाले दिनो के लिए रोना होता है। उनके विमर्श 'नए' को धिक्कारने से शुरू होते है और अतीत की कदरा मे या फिर सिधु नदी घाटी की सभ्यता मे कही बैठे रहते हैं जवकि भूमडलीकरण ने कामनाओ का जगत् जागृत कर अगली सदी के नक्शे वनाना शुरू कर दिया है। इस पीढी का नायक वही हो सकता है जो इस पीढी की भापा मे रहता हो। जिन सेफोलॉजिस्टो ने चुनाव सर्वे किए-कराए और वाद मे विश्लेपण दिए उनमें ऐसा कौन था जो साठोत्तरी था? और वोटो के दो-चार फीसदी इधर-उधर होन के बाद भी उनकी विश्लेषण क्षमता और नए सकेतो को पकडने की ताकत वताती है कि मीडिया युग मे 'प्रधानमत्री कैसा हो' वाला नारा आगे नही चलेगा। 'अनुभव वाला' मामला भी बहुत काम का नही होगा। नए समाजो मे अनुभव कोई ऐसी चीज नहीं है जिस पर सूचना और तकनीक के युग मे वहुत भरोसा किया जा सके या जिसे उम्र का पर्याय माना जा सके। तकनीक-चतुर समय 'विचारधारा' और कथित 'अनुभव' को बेकार कर देता है। टाटा-बिरला वैठे रह गए है और कमाई इन्फॉर्मेशन तकनीक उद्योगवाले युवाओ ने की है।

अव जरा प्रियका की विक्रय विशेपता यानी 'यू एस पी.' पर आइए जो इस चुनाव में उसने वनाई है। वह आकर्पक युवती है। अपने लबे कद और वॉयिश केश-विन्यास मे नई युवा जाति के एकदम आसपास की लगती है। उसकी प्रतिक्रियाओ मे वैसी ही द्रुतता और तीक्ष्णता है जो नए 'चेटी' लोगो मे मिलती है और साथ ही 'वदला लेने की' एक हँसमुख दुर्धर्पता है जो अमेठी और रायबरेली मे उसने दिखाइ

ऽ। नई टीवी-पीढी के लिए वह एक सुखद चेहरा है जो थके-हारे देर तक अटक कर बोलने वाले और आँखें झपकाने वालों से एकदम अलग देहभाषा का परिचय देता है। मीडिया की पदावली में वह एक 'तुरत हिट' चेहरा है। अगले समाज मे पहचान की सक्रियता के बाद और राजनीति के सूचनाकृत हो जाने के बाद समाज को अस्सी-नब्बे साल के नेता जोखिम का माल ही लगेंगे। पता नही कब टपक जाएँ।

इसे हम एक तीसरे उदाहरण, एक टीवी एपीसोड से जोडे, जो टीवी के एक चैनल पर आए चुनाव विश्लेषण में एक दिन दिखा। भाजपा के त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी बातचीत करने आए हुए थे। वे 'ऑन लाइन' सवालो के जवाब दे रहे थे और संयोजक से विचार-विमर्श कर रहे थे। तभी दिल्ली से किन्हीं पुष्पा जी का फोन आया जो चतुर्वेदी जी से सवाल पूछना चाहती थीं। पुष्पा जी ने पहले अपना परिचय दिया कि वे एक रिटायर्ड प्रोफेसर हैं, उद्यमी है और पूछना चाहती है कि एक अल्कॉहलिक आदमी को देश को नेतृत्व क्या सौंपा जा सकता है? यह भी तो संभव है कि उसका हाथ किसी समय नशे मे बहक जाए और वह अणुबम नियत्रक 'बॉक्स' के बटन को दबा दे? सवाल जब आया तो एक बार के लिए चतुर्वेदी जी भी सनाका खा गए और संयोजक को काटो तो खून नहीं। लेकिन 'अविगत की गति' की तरह सवाल आ चुका था। चतुर्वेदी जी को समझने मे देर लगी। होश सँभाला और जवाब दिया जिसका आशय इस प्रकार था कि जो थोडा पीते है वे अल्कॉहलिक नहीं होते और पब्लिक जीवन मे एल्कॉहलिक नही होना चाहिए, इत्यादि। टीवी की यह प्रश्नावली लगभग इसी प्रकार चली जिसकी व्यजना बड़ी स्पष्ट थी। अचानक हुई यह बातचीत यह बताती है कि टीवी ने और उससे अधिक इटरनेट ने एक ऐसे यथार्थ को बना दिया है जिसमे कोई भी किसी के गाल पर चपत लगा सकता है और जिसके लगी है वह सहलाता ही रह सकता है। किसी जनसभा मे ऐसा सवाल करके क्या कोई सुरक्षित जा सकता था?

स्पष्ट ही इन दिनो मे और इस चुनाव मे लोकतत्र उतना 'साक्षात् या 'फिजिकल' नहीं रहा जितना कि लगता है। इस चुनाव मे तीसरा मोर्चा रहा हो या न रहा हो, मीडिया का 'चौथा मोर्चा' जरूर रहा है जिसने चुनाव को अपने माध्यम में प्रतिबिंबित ही नही किया है या उसका वातावरण ही नहीं बनाया है, बल्कि चुनाव के 'जनक्षेत्र' की भाषा को भी बदला है। शुरू मे चुनाव का व्यजक भाजपा और कारगिल था, बाद में वह अचानक जनता के द्वारा 'पानी, बिजली सडक, सफाई और अस्पताल सुविधा' के अभाव की ओर मुड गया तो वह 'चौथे' मोर्चे' के अपने दबाव के कारण, क्योंकि उन्ही नेताओ के चेहरे दिखाकर और वही 'बम-बम कारगिल कारगिल' करके आप अपने न्यूज चैनल की दुकान नही चला सकते। चैनल चलाने के लिए जनता को दर्शक बनाना और स्पर्धा में उस दर्शक को अपने साथ बाँधे रखने के लिए आलोचनात्मकता का पुट दिए रहना जरूरी था। चुनाव के बाद अब देश के धन्न

सेठ बजट बनवा रहे है। और परेशान जनता यदि अचारक गायब है तो इसलिए कि वह मीडिया की ही सरचना थी जिसे जरूरत पडने पर फिर कभी बनाया जा सकता है।

इस चुनाव में भी यदि देखें तो भाजपा हो या कांग्रेस, दोनो की सहयोगी पार्टियॉ ज्यादातर ऐसे नेताओं की पार्टियॉ है जो युवतर हैं। चंद्रबाबू नायडू के जीतने के पीछे उनकी युवतरता, 'साइबराबाद' की उनकी कल्पना भी सक्रिय रही है। ममता बनर्जी द्वारा मार्क्सवादी प्रभाव के क्षेत्रों मे घुस जाना उनके साथ युवाक्षेत्र के तादात्म्य और तरलता को बताता है। करुणानिधि और एकाध अपवाद को छोड दें तो ज्यादातर सहयोगियों के नेता और नेतृत्व अपेक्षाकृत युवा है और इस चुनाव मे युवा ने ज्यादा भूमिका अदा की है। वह टीवी की पहली पीढी है जो वोट डाल रही है और अगली सदी मे वोट का रूप निर्धारित करेगी। इस पीढ़ी के लिए प्रियका से तादात्म्य स्थापित करना आसान है। प्रियंका फैक्टर चुनाव को 'रैप' की चाल में सौंदर्य प्रतियोगिता में बदल सकता है। इस चुनाव मे भाजपाई नेता विजय गोयल ने सितारो का ऐसा ही प्रयोग किया और उसका असर हुआ ही होगा, हालॉकि वे कह रहे है कि अटलजी की छवि ने जिताया है। लेकिन तब पूजा बत्रा की छवि ने क्या किया? विजय गोयल फिर एक हिंदू दोचित्तेपन मे बोल रहे हैं। भाजपा की यही समस्या है जो बनी रहती है। सच यह है कि उत्तर-आधुनिक राजनीति में मनोरजन और सौदर्य दो नए तत्त्व जुड़े है और इन्हे प्रतिक्रियावादी दिमाग से नही धनात्मक गभीरता से पढा जाना चाहिए।

● **जनसत्ता, 31 अक्टूबर, 1999**

□□□

सुधीश पचौरी

जन्म : 29 दिसंबर, 1948

जनपद : अलीगढ

शिक्षा : एम.ए. (हिंदी) (आगरा विश्वविद्यालय) पी एच डी एवं पोस्ट डॉक्टोरल शोध (हिंदी) दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।

संप्रति : जाकिर हुसैन पोस्टग्रेजुएट कॉलेज (सांध्य) दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग में रीडर।

चर्चित पुस्तकें

नई कविता का वैचारिक आधार, कविता का अंत, दूरदर्शन की भूमिका, दूरदर्शन : स्वायत्तता और स्वतन्त्रता (स.) उत्तर-आधुनिक परिदृश्य, उत्तर आधुनिक और उत्तर संरचनावाद, नवसाम्राज्यवाद और संस्कृति, नामवर के विमर्श (स.), दूरदर्शन . विकास से बाज़ार तक, उत्तर-आधुनिक साहित्यिक-विमर्श, देरिदा का विखंडन और विखंडन में 'कामायनी', उत्तर-केदार (स.), टी वी टाइम्स, मीडिया और साहित्य, साहित्य का उत्तरकांड, ब्रेक के बाद, इक्कीसवीं सदी का पूर्वरंग, उत्तर आधुनिक प्रस्थान बिंदु, नए जन संचार माध्यम और हिंदी (सह-संपादन), जन संचार माध्यम भाषा और साहित्य, अशोक वाजपेयी · पाठ कुपाठ (स.), प्रसार भारती और प्रसारण परिदृश्य, दूरदर्शन संप्रेषण और संस्कृति, स्त्री देह के विमर्श, आलोचना से आगे (उत्तर आधुनिक और उत्तर संरचनावादी विमर्श), मीडिया, जनतन्त्र और आतंकवाद, निर्मल वर्मा और उत्तर-उपनिवेशवाद, विभक्ति और विखंडन (हिंदी साहित्य में उत्तर आधुनिक मोड़ हिंदुत्व और उत्तर आधुनिकता